THE
HARIDAS SANSKRIT SERIES
229

THE

# TARKA BHĀSA

( Exposition of Reasoning )

BY

## S'RĪ KES'AVA MIS'RA

WITH

### THE TATTVĀLOKA
SANSKRIT & HINDI COMMENTARIES

BY

PT. S'RĪ RUDRADHARA JHĀ

WITH

AN INTRODUCTION AND CRITICAL NOTES IN HINDI

BY

*Pt. N. Kanta Nath S'āstri Folanga M. A.*

Professor, Banaras Hindu University.

EDITED BY

PT. S'RĪ SHOBHITA MIS'RA

1953

भारती अकादमी
क्रमांक 10458
जयपुर

प्रकाशकः—
जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः,
चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज आफिस,
पो० बाक्स नं० ८ बनारस
वि० सं० २००९

पुनर्मुद्रणादिकाः सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः

JAYA KRISHNA DAS HARI DAS GUPTA
The Chowkhamba Sanskrit Series Office.
P. O. Box 8, Banaras.
1953.

मुद्रकः—
विद्याविलास प्रेस,
बनारस

॥ श्रीः ॥

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला

२२९

प्राकृत भारती अकादमी
क्रमांक 10658
जयपुर

श्रीकेशवमिश्रप्रणीता

# तर्कभाषा

'तत्त्वालोक' संस्कृत-हिन्दीटीका-सविशेष

टिप्पणी ( नोट्स ) विभूषिता ।

टीकाकारः—

काशीस्थधर्मसङ्घसंस्कृतमहाविद्यालयाध्यापक-न्याय-

व्याकरण-वेदान्ताचार्य-लब्धस्वर्णपदक-

पण्डित श्रीरुद्रधर झा

टिप्पणी( नोट्स )लेखकः—

काशी-हिन्दूविश्वविद्यालय-संस्कृतविभागाध्यापक-

पं० श्रीकान्तानाथशास्त्री तेलङ्गः एम. ए.

सम्पादकः—

न्याय-व्याकरणाचार्य-लब्धस्वर्णपदक-

पण्डित श्रीशोभित मिश्रः

चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज, बनारस-१

प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा-संस्कृत-पुस्तकालय,

पो० बा० नं० ८, बनारस-१

# निवेदनम्

विदितमेवैतत्तत्रभवतां भवतां यदनादिकालतः प्रवहन्त्यां अविच्छिन्नपरम्परात्मक-दुःखजलधारायां निमज्जतस्तस्यास्तरणाय कमप्यवलम्बं जिघृक्षुमीहमानांश्च मानवान् नैसर्गिकदयामयहृदया मनीषिणो वस्तुतत्त्वज्ञानमेवावलम्बनतया ग्रहीतुमुपदिशन्ति स्म ।

तत्र केषां वस्तूनां तत्त्वज्ञानमपेक्षितमिति जिज्ञासायां नैयायिका **गौतमाः** प्रमाणप्रमेयादिषोडशपदार्थान् वैशेषिकाः **कणादाश्च** द्रव्यगुणादिसप्तपदार्थान् गणयामासुः । अत एव च विभिन्नतया प्रतीयमानयोरपि न्यायवैशेषिकदर्शनयोर्मिथः सामञ्जस्याय प्रकृतपुस्तकप्रणेता चतुर्दशशताब्दीसञ्जातो मिथिलामण्डलमण्डनोऽभिनववाचस्पतिमिश्रपौत्रः **श्रीकेशवमिश्र** आत्मशरीरेन्द्रियार्थादिप्रमेयघटकार्थेपदेन द्रव्यगुणादिषट्पदार्थान् सञ्जग्राह । यद्यपि तेन तथा कृतेऽपि उक्तदर्शनद्वयस्य मिथो भेदकाः पाकप्रकारादयो बहवो विषयाः सन्ति, तथापि येन सह यावत्येव विषये सामञ्जस्यं सम्भवति तेन सह तावत्यपि विषये सामञ्जस्यं विधेयमेवेति शिक्षणाय तेन तथा कृतमिति प्रतीयते ।

तर्कशास्त्रस्य **'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः'** इत्यादिवचनैरुपपादितं वेदोपयोगित्वम्, अखिलपदार्थज्ञापकतया लोकोपयोगित्वञ्च प्रायः सर्वेषां विदुषां सम्मतमेवेत्यत्र विषये न किञ्चिद् विविच्यते ।

यद्यप्यस्य ग्रन्थस्य बह्व्यष्टीकाः सन्तीति श्रूयते तथापि पण्डित **श्रीरामचन्द्रझा**महोदयसमुद्बोधितैश्चौखम्बा-संस्कृत-पुस्तकालयाध्यक्ष **श्रीजयकृष्णदासगुप्त**महाशयैः प्रेरितेन मया प्रकृतपुस्तकस्य तत्त्वालोकनामकं संस्कृतहिन्दीभाषयोर्व्याख्यानं विधाय भवतां पुरतः समुपस्थाप्यते ।

अस्य ग्रन्थस्य व्याख्याविधाने **पण्डितश्रीआनन्दझा**-न्यायाचार्य-प्रणीत-**पदार्थशास्त्रेण** तथा सम्पादनकरणे **पण्डित श्रीशोभितमिश्र**—न्यायव्याकरणाचार्येण साहाय्यं प्राप्तमिति उक्तसकलाना महानुभावाना बहूपकारं मन्ये ।

अन्ते यस्यासीमानुकम्पया पुस्तकमिदं सम्पूर्णतामगात्तस्यानन्तकोटिब्रह्माण्डनायकस्य मर्यादापुरुषोत्तमस्य भगवतः **श्रीरामचन्द्रस्य** पादपद्मयोः पुस्तकमिदं समर्प्य दृढं विश्वसिमि यत् सर्वे पदार्थतत्त्वजिज्ञासवो विद्वांसोऽन्तेवासिनश्च पुस्तकमिदं संगृह्य चौखम्बासंस्कृत-पुस्तकालयाध्यक्षं माञ्चानुगृह्णीयुरिति ।

महाशिवरात्रिः
सं० २००९

**श्री रुद्रधर झा**

# विषयसूची


| विषया | पृष्ठा० |
|---|---|
| उपोद्घातः | १ |
| शास्त्रप्रयोजनम् | २ |
| पदार्थोद्देश· | ३ |
| प्रमाणलक्षणम् | ७ |
| प्रमालक्षणम् | ९ |
| करणलक्षणम् | १० |
| कारणलक्षणम् | ११ |
| कारणविभाग· | १५ |
| समवायिकारणलक्षणम् | १६ |
| समवायिकारणोदाहरणम् | १७ |
| अयुतसिद्धलक्षणम् | १८ |
| अयुतसिद्धोदाहरणम् | १९ |
| द्रव्यगुणोत्पत्तिक्रम· | २१ |
| ,, क्रमदोपनिरूपणम् | २३ |
| असमवायिकारणलक्षणम् | २५ |
| असमवाय्युदाहरणम् | २६ |
| निमित्तकारणलक्षणम् | २७ |
| प्रमाणलक्षणम् | २८ |
| भट्टोक्तप्रमाणखण्डनम् | २९ |
| प्रमाणलक्षणविचारः | ३१ |
| प्रमाणविभागः | ३२ |
| प्रत्यक्षलक्षणम् | ३३ |
| प्रत्यक्षकरणविभागः | ३४ |
| प्रत्यक्षकरणविवरणम् | ३५ |
| इन्द्रियस्य करणत्वकथनम् | ३८ |
| सन्निकर्षविभागः | ३९ |

| विषयाः | पृष्ठा० |
|---|---|
| सन्निकर्षचतुष्टयनिरूपणम् | ४१ |
| सन्निकर्षोदाहरणम् | ४३ |
| प्रत्यक्षसन्निकर्षसंग्रह· | ४७ |
| सविकल्पकप्रमात्वविचार· | ४८ |
| अनुमानलक्षणम् | ५१ |
| लिङ्गलक्षणम् | ५२ |
| व्याप्तिलक्षणम् | ५३ |
| व्याप्तिग्रहणप्रकारः | ५४ |
| उपाधिनिर्वचनम् | ५५ |
| योग्यायोग्योपाधिनिर्वचनम् | ५६ |
| उपाध्यभावप्रदर्शनम् | ५७ |
| लिङ्गपरामर्शोपसंहार· | ५८ |
| परामर्शस्थिरीकरणोपक्रमः | ५९ |
| परामर्शानुमानोपसंहार· | ६१ |
| अनुमानविभाग· | ६२ |
| स्वार्थानुमानम् | ६३ |
| परार्थानुमानम् | ६४ |
| अन्वयव्याप्तिप्रदर्शनम् | ६५ |
| व्यतिरेकव्याप्तिप्रदर्शनम् | ६६ |
| अन्वयव्यतिरेक्युपसंहारः | ६७ |
| केवलव्यतिरेकि लिङ्गम् | ६८ |
| केवलव्यतिरेकिप्रदर्शनम् | ७० |
| केवलान्वयि लिङ्गम् | ७१ |
| पञ्चरूपोपपन्नत्वप्रदर्शनम् | ७२ |
| अन्वयव्यतिरेकिहेतूपसंहारः | ७४ |
| केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकिवैलक्षण्यम् | ७५ |

| | |
|---|---|
| पक्षसपक्षलक्षणम् | ७६ |
| हेत्वाभासविभागः | ७७ |
| असिद्धविभागः | ७८ |
| व्याप्यत्वासिद्धविभागः | ७९ |
| उपाधिप्रयुक्तव्याप्यत्वासिद्धिः | ८० |
| सव्यभिचारनिरूपणम् | ८१ |
| प्रकरणसमलक्षणम् | ८२ |
| कालात्ययापदिष्टलक्षणम् | ८३ |
| उपमाननिरूपणम् | ८४ |
| शब्दनिरूपणम् | ८७ |
| पदार्थयोः साकाङ्क्षत्वस्थापनम् | ९० |
| प्रमाणवाक्योपसंहारः | ९१ |
| वर्णनित्यत्वेऽपि बोधोपपादनम् | ९२ |
| शाब्दबोधवैशिष्ट्यप्रदर्शनम् | ९५ |
| शब्दप्रमाणोपसंहारः | ९६ |
| प्रमाणचतुष्टयोपसंहारः | ९७ |
| अर्थापत्तिनिरूपणम् | ९८ |
| अर्थापत्तिखण्डनम् | ९९ |
| अनुपलब्धिप्रमाणनिरूपणम् | १०० |
| अनुपलब्धिप्रमाणखण्डनम् | १०२ |
| अनुपलब्धिप्रमाणस्थापनविचारः | १०३ |
| अनुपलब्धिप्रमाणनिरासः | १०७ |
| अनुपलब्धिप्रमाणनिरासे प्रमाणम् | १०८ |
| प्रामाण्यनिरूपणम् | १०९ |
| प्रामाण्यविचारः | ११० |
| प्रामाण्यस्य स्वतोग्राह्यत्वविचारः | १११ |
| स्वतोग्राह्यत्वोपसंहारः | ११२ |
| प्रामाण्यस्य स्वतोग्राह्यत्वखण्डनम् | ११३ |
| प्रामाण्यस्य परतोग्राह्यत्वम् | ११६ |
| प्रमेयनिरूपणम् | ११८ |
| आत्मविषयकविचारान्तरम् | ११९ |
| आत्मनिरूपणम् | १२१ |
| आत्मसाधनम् | १२२ |
| आत्मसाधनप्रकारः | १२३ |
| आत्मानुमानप्रकारः | १२४ |
| शरीरनिरूपणम् | १२५ |
| इन्द्रियनिरूपणम् | १२६ |
| घ्राणादीन्द्रियनिरूपणम् | १२७ |
| चक्षुरादीन्द्रियनिरूपणम् | १२८ |
| मनोनिरूपणम् | १२९ |
| द्रव्यादिनिरूपणम् | १३० |
| पृथिवीनिरूपणम् | १३१ |
| जलनिरूपणम् | १३२ |
| तेजोनिरूपणम् | १३३ |
| वायुनिरूपणम् | १३५ |
| कार्यद्रव्योत्पत्तिप्रकारः | १३७ |
| कार्यद्रव्यविनाशक्रमः | १३९ |
| परमाणुनिरूपणम् | १४० |
| आकाशनिरूपणम् | १४३ |
| आकाशानुमानम् | १४४ |
| कालानुमानम् | १४६ |
| कालनिरूपणम् | १४८ |
| दिग्निरूपणम् | १४९ |
| आत्मनिरूपणम् | १५० |
| मनोनिरूपणम् | १५१ |
| मनोऽनुमानम् | १५२ |
| गुणनिरूपणम् | १५३ |
| रूपनिरूपणम् | १५४ |
| रसनिरूपणम् | १५५ |
| गन्धनिरूपणम् | १५६ |

| | |
|---|---|
| स्पर्शनिरूपणम् | १५७ |
| संख्यानिरूपणम् | १५८ |
| परिमाणनिरूपणम् | १६० |
| पृथक्त्वनिरूपणम् | १६१ |
| संयोगनिरूपणम् | १६२ |
| विभागनिरूपणम् | १६३ |
| परत्वापरत्वनिरूपणम् | १६४ |
| गुरुत्वनिरूपणम् | १६५ |
| द्रवत्वनिरूपणम् | १६६ |
| स्नेहशब्दयोर्निरूपणम् | १६७ |
| शब्दनिरूपणम् | १६८ |
| बुद्ध्यादिनिरूपणम् | १७१ |
| धर्माधर्मनिरूपणम् | १७४ |
| संस्कारनिरूपणम् | १७६ |
| गुणनिरूपणोपसंहारः | १७७ |
| कर्मनिरूपणम् | १७८ |
| सामान्यनिरूपणम् | १७९ |
| विशेषनिरूपणम् | १८१ |
| समवायानुमानम् | १८२ |
| समवायस्थापनम् | १८३ |
| अभावनिरूपणम् | १८४ |
| प्रागभावादिनिरूपणम् | १८५ |
| अत्यन्ताभावादिनिरूपणम् | १८६ |
| बुद्धिनिरूपणम् | १८७ |
| बुद्धिविभागः | १८८ |
| अयथार्थादिनिरूपणम् | १८९ |
| स्मरणनिरूपणम् | १९० |
| मनःप्रवृत्तिनिरूपणम् | १९१ |
| दोषनिरूपणम् | १९२ |
| प्रेत्यभावादिनिरूपणम् | १९३ |
| मोक्षनिरूपणम् | १९४ |
| मोक्षप्राप्तिक्रमः | १९५ |
| संशयनिरूपणम् | १९६ |
| प्रयोजनादिनिरूपणम् | १९८ |
| सिद्धान्तनिरूपणम् | १९९ |
| अवयवनिरूपणम् | २०० |
| तर्कनिरूपणम् | २०१ |
| निर्णयादिनिरूपणम् | २०३ |
| जल्पादिनिरूपणम् | २०४ |
| हेत्वाभासनिरूपणम् | २०५ |
| असिद्धनिरूपणम् | २०६ |
| भागासिद्धनिरूपणम् | २०८ |
| विशेषणासिद्धादिनिरूपणम् | २०९ |
| असमर्थविशेषणासि० | २१० |
| व्याप्यत्वासिद्धनिरूपणम् | २११ |
| विरुद्धादिनिरूपणम् | २१३ |
| सव्यभिचारनिरूपणम् | २१४ |
| प्रकरणसमनिरूपणम् | २१५ |
| कालात्ययापदिष्टनिरूपणम् | २१६ |
| पञ्चहेत्वाभासोपसंहारः | २१७ |
| छलनिरूपणम् | २१८ |
| जातिनिरूपणम् | २१९ |
| उत्कर्षसमादिनिरूपणम् | २२० |
| निग्रहस्थाननिरूपणम् | २२१ |

श्रीकेशवमिश्रप्रणीता

# तर्कभाषा

## 'तत्त्वालोक' विराजिता ।

### उपोद्घातः ।

**बालोऽपि यो न्यायनये प्रवेशमल्पेन वाञ्छत्यलसः श्रुतेन ।**

---

नवीननीरदश्यामं रामं राजीवलोचनम् ।
जानकीजानिमास्तौमि चिदानन्दमयं विभुम् ॥

अथ प्रयोजनमनभिसन्धाय प्राय' कोऽपि कुत्रापि न प्रवर्त्तते इत्याकलय्य "सिद्धार्थं ( सिद्धो ज्ञातोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तम् ) सिद्धसम्बन्धं ( सिद्धो ज्ञातः सम्बन्धो यस्य तम् ) श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते । शास्त्रादौ तेन वक्तव्य' सम्बन्ध. सप्रयोजनः ॥" इत्याद्यनुसारेणात्र प्रवृत्तिप्रयोजकं प्रकृतपुस्तकप्रणयनप्रयोजनं प्रतिपादयति प्रथमं श्लोकेन-**बालोऽपीति**। य'। न्यायशास्त्रीयचिरन्तनग्रन्थाध्ययनेनैव तच्छास्त्रीयव्युत्पत्त्यवाप्तिसम्भवे प्रकृतग्रन्थरचनामासो व्यर्थ एवेत्याशङ्कापरिहाराय बाल विशिनष्टि-**अलस इति**। आलस्ययुक्ततया अल्पश्रमकारित्वात् पुरातनकठिनबृहत्पुस्तकपठनासमर्थ इति भावः। **बालः**-अनधीतव्याकरणादिशास्त्र उपदेशग्रहणयोग्यतावान् प्रमाणप्रमेयादिषोडशपदार्थज्ञानरहितो बालावस्थापन्नः। **अपिना** अधीतव्याकरणा

---

जिनके नाम जपत जग जाई, जिनके ध्यान करत मुनि भाई ।
जिनको राम कहत श्रुति माई, उनको प्रणमौं प्रति पल गाई ॥

बालोऽपि-जो आलसी ( और ) बच्चा ( होता हुआ ) भी थोडा पढ़ कर (ही) न्यायशास्त्रमें प्रवेश चाहता है, उसके लिये मैं ( केशवमिश्र ) इस संक्षिप्त और युक्तियुक्त तर्कभाषाको प्रकाशित करता हूँ । अर्थात् जो परिश्रमी अथवा समर्थ है, अथवा अधिक पढ़नेसे न्यायशास्त्रमें प्रवेश चाहता है, उसके लिये मेरा यह यत्न

संक्षिप्य युक्त्यन्विततर्कभाषा प्रकाश्यते तस्य कृते मयैषा ॥

दिशास्त्रस्य तादृशस्य युवावस्थापन्नादेः परिग्रहः । वक्ष्यमाणे संक्षिप्येत्यत्र हेतु सूचनाय श्रुतं विशिनष्टि—अल्पेनेति । श्रुतेन—श्रवणेन (अध्ययनेन) । अत्र 'नपुंसके भावे क्त" इत्यनेन क्तः । न्यायनये—न्यायशास्त्रे । अत्र "कः पुनरयं न्यायः? प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं, साऽन्वीक्षा, प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्त्तते इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्" इति वात्स्यायनभाष्यमवगन्तव्यम् । प्रवेशम्—व्युत्पत्तिम् । वाञ्छति—कामयते । तस्य कृते—तदर्थम् । मया ( केशवमिश्रेण ) । संक्षिप्य—अधिकार्थबोधकाल्पशब्दान् सङ्कलय्य । एषा—बुद्धिस्था । प्रकृतग्रन्थोपादेयतासूचनाय सविशेषणं प्रकाशनक्रियाकर्म निर्दिशति—युक्त्यन्विततर्कभाषेति । युक्तिभिरन्विता (युक्ता) युक्त्यन्विता, तर्का ( प्रमाणादिषोडशपदार्थाः ) भाष्यन्ते यत्रेति तर्कभाषा, युक्त्यन्विता चासौ तर्कभाषेति युक्त्यन्विततर्कभाषेति व्युत्पत्तिः । संक्षिप्तेति पाठे तु संक्षिप्ता चासौ युक्त्यन्विततर्कभाषेति संक्षिप्तयुक्त्यन्विततर्कभाषेति व्युत्पत्तिरपि बोध्या । प्रकाश्यते—लोकप्रत्यक्षविषयीक्रियते । योऽल्पश्रमेण न्यायशास्त्रीयव्युत्पत्तिमिच्छति तदर्थं मदीयोऽयमायास इत्याशयः । ननु प्रकृतग्रन्थे अध्ययनविषयकप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानजनकज्ञानविषयात्मकं विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिरूपमनुबन्धचतुष्टयं किमिति चेद्, उच्यते, अस्य ग्रन्थस्य न्यायशास्त्रप्रकरणत्वात् तच्छास्त्रस्य यदनुबन्धचतुष्टयं तदेवास्यापीति बोध्यम् । अथ तच्छास्त्रस्यैव किमनुबन्धचतुष्टयमिति चेद्, उच्यते, तत्र प्रमाणादिषोडशपदार्थाः विषयाः । मोक्षसाधनत्वात् तत्त्वज्ञानं प्रयोजनम् । तत्त्वजिज्ञासुरधिकारी । प्रमाणादि-( षोडशपदार्थ ) तच्छास्त्रयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः । तत्त्वज्ञाननिःश्रेयसयोः, तच्छास्त्रतत्त्वज्ञानयोश्च कार्यकारणभाव, प्रमाणादि-( षोडशपदार्थ ) तत्त्वज्ञानयोः विषयविषयिभाव, तच्छास्त्रनिःश्रेयसयोश्च प्रयोज्यप्रयोजकभाव सम्बन्धः । केचित् सम्प्रदायविदस्तु-तत्त्वं ज्ञायतेऽनेनेति व्युत्पत्या तत्त्वज्ञानं शास्त्रम्, तथा च तच्छास्त्रनिःश्रेयसयोरपि तत्त्वज्ञानद्वारकहेतुहेतुमद्भाव एव सम्बन्ध इति वदन्ति । अत्रानुबन्धचतुष्टयज्ञानकाले

नहीं है, क्योंकि वह तो ग्रन्थान्तरोंके अध्ययनसे भी न्यायशास्त्रमें प्रवेश कर सकता है। इसको-चर्चों के लिये उपयोगी और प्रामाणिक सिद्ध करनेके लिये सचिह्न और युक्त्यन्वित शब्दोंका उपादान किया है ॥ ( १. 'सचिह्न' इति पाठान्तरम् )।

प्रमाण[1]-प्रमेय[2]-संशय-प्रयोजन[4]-दृष्टान्त[5]-सिद्धान्त[6]-अवयव[7]-तर्क[8]-निर्णय[9] वाद[10]-जल्प[11]-वितण्डा[12]-हेत्वाभास-च्छल[14]-जाति[15]-नि-

तच्छास्त्रपदस्थाने तर्कभाषापदं प्रयोज्यम् । अत्र मङ्गलानिबन्धनमवलोक्य मङ्गलं न कृतं प्रकृतग्रन्थकर्त्रेति न भ्रमितव्यम्, कृतस्यापि मङ्गलस्य मेघदूतादाविवाग्रानिबन्धनसम्भवात् । मङ्गलविषये विशदविचारस्तु अस्मत्कृतमुक्तावलीतत्त्वालोके द्रष्टव्यः ॥

उक्तानुबन्धचतुष्टयसूचनपरं न्यायशास्त्रस्य प्रथमं सूत्रं निर्दिशति—**प्रमाणेति** । अत्र सर्वपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः समासः । यद्यपि समस्यमानपदार्थभेदे द्वन्द्वविधानादत्र च प्रमाणान्तःपातिप्रत्यक्षादेः संशयादेश्च प्रमेयान्तःपातिबुद्धिरूपतया, छलजात्योश्च निरनुयोज्यानुयोगरूपनिग्रहस्थानान्तःपातितया, हेत्वाभासानाञ्च निग्रहस्थानान्तःपातितया, बहूनां पदार्थानामभेदाद् द्वन्द्वो न सम्भवति, तथापि नीलघटयोरभेद इत्यादाविवात्रापि पदार्थतावच्छेदकभेदादेव द्वन्द्व उपपद्यते । तत्र च "निर्देशे यथा वचनं तथा विग्रहः" इति यथाश्रुतभाष्यानुसारिणः प्रमाणानि च प्रमेयञ्च संशयश्च प्रयोजनञ्च दृष्टान्तश्च सिद्धान्तश्च अवयवाश्च तर्कश्च निर्णयश्च वादश्च जल्पश्च वितण्डा च हेत्वाभासाश्च छलञ्च जातयश्च निग्रहस्थानानि चेति विगृह्णन्ति । भाष्यस्थवचनपदेन क्वचित्सौत्रं क्वचिदार्थं वचनं गृह्णन्तः सम्प्रदायविदस्तु—अस्तु प्रमाणे प्रमेये च सौत्रं वचनं सप्रयोजनत्वात् । किन्तु दृष्टान्तादावेकवचनं न सप्रयोजनम्, तथा च दृष्टान्ते द्विवचनम्, अन्वयव्यतिरेकिभेदेन दृष्टान्तद्वैविध्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् । संशये सिद्धान्ते छले च बहुवचनम्, संशये छले च त्रैविध्यस्य, सिद्धान्ते चातुर्विध्यस्य च वक्ष्यमाणत्वात्, अन्यथा जातिनिग्रहस्थानयोर्बहुवचनं भवतोऽपि नोपपद्येत, तयोरेकवचनस्यैव लक्षणसूत्रे सत्त्वादिति वदन्ति । नवीनास्तु-सर्वत्र प्रथमोपस्थितैकवचनेनैव विग्रहः, यतोऽत्र बहुवचनेनैव प्रमाणादीनां बहुत्वं न परिच्छिद्यते, तथा सति अग्रिमविभागवैयर्थ्यात्, अत एव प्रयोजनस्यैकवचनान्तत्वेऽपि तद्विभागाकरणेऽपि सुखदुःखाभावतत्साधनभेदेन प्रयोजनस्य बहुत्वं न विरुध्यते इति प्राहुः ॥ उक्तरीत्या बहूनां पदार्थानामभेदेऽपि तेषां पृथगभिधानं शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थम् । केचित्तु—हेत्वाभासानां न निग्रहस्थानत्वं, तथा सति सर्वत्र हेत्वाभाससत्त्वात् सर्वस्यैव निगृहीतत्वापत्तेः । तस्मात् हेत्वाभासप्रयोगो निग्रहस्थानं, तद्विभाजकसूत्र-

प्रमाण—'प्रमाणप्रमेय' से लेकर 'निःश्रेयसाधिगमः' पर्यन्त ( गौतमप्रणीत )

ग्रहस्थानानां[१६]—तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः (गौ. न्या. सू. १-१-१)

इति न्यायस्यादिमं सूत्रम् । अस्यार्थः—

'प्रमाणादिषोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिर्भवति' इति ।

---

स्यहेत्वाभासपदञ्च तत्प्रयोगपरम् । तत्र च प्रयोगस्य न लक्षणमपेक्षणीयम्, अपितु हेत्वाभासानाम् इत्यत उक्तं "हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः" इति चरमसूत्रमिति वदन्ति । प्रमाणादीनां तत्त्वमित्यत्र शेषिकी षष्ठी तत्त्वस्य ज्ञानं, निःश्रेयसस्याधिगम इत्यनयोः कर्मणि षष्ठ्यौ । गमकतया समासः । निःश्रेयसेति—अस्य निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसमिति कर्मधारये "अचतुर" इत्यादिसूत्रेणादन्तत्वनिपातनेन निष्पत्तिः । अत्र निःश्रेयसे सिद्धे पदादिवत्प्राप्तये न प्रयत्नान्तरमपेक्षितमिति प्रतिपादनायाधिगमपदम् ॥

न्यायस्य—न्यायशास्त्रस्य । यद्यपि न्याये "प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा, नित्येन कृतकेन वा । पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥" इति शास्त्रलक्षणं न संघटते, तथापि एकप्रयोजनसम्बद्धार्थस्य साकल्येन प्रतिपादकत्वमिति, त्रिविधानुपूर्वीकत्वे सति पदार्थव्युत्पादकत्वमिति वा शास्त्रलक्षणं तत्रोपपद्यते ॥ "अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् । अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥" इति सूत्रलक्षणस्यात्र समन्वयादाह—सूत्रमिति । इदं सूत्रं न विश्वान्तर्गतसकलपदार्थप्रतिपादनपरम्, अपि तु मोक्षजनकतत्त्वज्ञानविषयमात्रप्रतिपादनपरम्, अनेन आत्मादीनामप्रतिपादनात् । तत्रापीदं न वस्तुतः पदार्थविभाजकम्, अपि तु दृष्टिभेदमात्रख्यापकम्, उक्तानां बहूनां पदार्थानामभेदात्, स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकव्याप्यमिथोविरुद्धयावद्धर्मप्रकारकज्ञानानुकूलव्यापारस्य च विभजनपदार्थत्वात् । अर्थ इति—अस्य भवतीत्यन्तेनान्वयः ।

तत्त्वज्ञानादिति—अत्र तत्त्वपदं तस्य भावस्तत्त्वमिति योगार्थमनपेक्ष्य अनारोपितरूपत्वे रूढम् । अनारोपितरूपत्वञ्च अनारोपः प्रमा तद्विषयत्वम्, न त्वारोपाविषयत्वम्, सर्वस्यैवारोपविषयत्वात् । उक्तञ्च "तत्त्वात्मिका सती दृष्टिः सर्वयोगापहारिणी । कल्पनीया तु तमसे नात्मानं योगवाधतः ॥" इति । तथा च तत्त्वं ज्ञायतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या तत्त्वज्ञानपदं शास्त्रपरम्, अन्यथा तत्त्वज्ञानस्यैव

---

न्यायशास्त्रका प्रथम सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि-प्रमाणप्रमेयादि षोडशपदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

न च प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानं सम्यग् ज्ञानं तावद्भवति यावदेषामुद्देश-

---

निःश्रेयसजनकता प्राप्येत न तु शास्त्रस्य । एवञ्च लाघवात् शास्त्रादिति वक्तव्ये गुरुभूतस्य तत्त्वज्ञानादित्यस्याभिधानं शास्त्रेणानुमित्यात्मकमननजनकलिङ्गज्ञानजनकेन तत्त्वज्ञानमुत्पाद्य मोक्षो जन्यते इत्याशयं ज्ञापयितुमिति भावः ' तथा च तत्त्वज्ञाना-दित्यत्र पञ्चमी प्रयोजकत्वे, न तु हेतौ शब्दरूपस्य शास्त्रस्याशुतरविनाशित्वेन कालान्तरभाविनिःश्रेयसजनकत्वासम्भवात् । नापि शास्त्रं द्वारद्वारिभावेन मोक्षजनकम्, तथा हि द्वारं श्रवणं वा, मननं वा, निदिध्यासनं वा, तत्त्वसाक्षात्कारो वा, मिथ्याज्ञा-नध्वंसो वा । न प्रथमः, श्रवणस्य श्रुतिवचनसाध्यत्वेन शास्त्रासाध्यत्वात् । न द्वितीयः, मननस्यानुमित्यात्मकत्वेन शब्दरूपशास्त्रासाध्यत्वात् । न तृतीयः, निदिध्यासनस्य संस्कारमात्रजन्यज्ञानरूपत्वेन शास्त्राजन्यत्वात् । न चतुर्थः, तत्त्वसाक्षात्कारस्य साक्षात्कारत्वेन शास्त्राजन्यत्वात् । न पञ्चमः, मिथ्याज्ञानध्वंसस्य कालान्तरभावि-त्वेन शास्त्रासाध्यत्वात् ॥ एवञ्च लाघवात् इष्टप्रयोजकताज्ञानमेव प्रवर्त्तकं, न तु इष्टसाधनताज्ञानं, गौरवात्, तथा सति तृप्त्यर्थिनस्तण्डुलक्रयणादौ प्रवृत्त्यसम्भवाच्च । शास्त्रप्रयोज्यं तत्त्वज्ञानमपि न साक्षादेव मोक्षं जनयति, तत्त्वज्ञानिनामप्यवस्थितिदर्श-नात्, किन्तु मिथ्याज्ञानध्वंसादिक्रमेणेत्याशयेनाह गौतमः—"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" इति । केचित्तु—निःश्रेयसं द्विविधं, परापरभेदात् । तत्रापरं जीवन्मुक्तिलक्षणं तत्त्वज्ञानानन्तरमेव, तदप्यवधारि-तात्मतत्त्वस्य नैरन्तर्याभ्यासापहृतमिथ्याज्ञानस्य प्रारब्धं कर्मोपभुञ्जानस्य । परन्तु क्रमेण, तत्र क्रमप्रतिपादनाय "दुःखजन्मे"ति सूत्रमिति वदन्ति ॥ ननु प्रमाणादयः पदार्था इति शब्दात्, प्रथमसूत्रादेव वा तत्त्वज्ञानं स्यादिति किमग्रिमप्रपञ्चेनेत्यत आह—**नचेति** । अस्य भवतीत्यनेनान्वयः । तत्त्वज्ञानमेव विवृणोति—**सम्यग् ज्ञानमिति** । तावदित्यस्य यावति साकाङ्क्षत्वादाह—**यावदिति** । **एषाम्**—प्रमा-णादीनाम् । उद्देशलक्षणपरीक्षाणां पूर्वपूर्वसापेक्षतया प्रथममुद्देशम्, अनन्तरं लक्षणम्, ततः परीक्षां विधातुकामः क्रमशः ताः निर्दिशति—**उद्देशेति** । अत्र

---

नच—जब तक प्रमाणादियोंके उद्देश, लक्षण और परीक्षा नहीं करते, तब तक इनका तत्त्वज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान नहीं होसकता । इसलिये भाष्यकार कहते हैं कि—तीन प्रकारोंसे इस न्यायशास्त्रकी प्रवृत्ति होती है, वे तीन प्रकार हैं—उद्देश,

लक्षणपरीक्षा न क्रियन्ते। यदाह भाष्यकारः—'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य **प्रवृत्तिः उद्देशो लक्षणं परीक्षा च'** इति (न्या. सू. वा. भा. १-१-२.) उद्देशस्तु नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनम्। तच्चास्मिन्नेव सूत्रे कृतम्। लक्षणं तु असाधारणधर्मवचनम्। यथा गोः सास्नादिम-

---

भाष्यकृत्सम्मतिं दर्शयति—**यदिति**। यस्मादित्यर्थः। **त्रिविधेति**—अत्र तिस्रो विधाः (प्रकाराः) यस्याः सा त्रिविधेति व्युत्पत्तिः। **अस्य**—न्यायस्य। अस्येत्यस्योपादानेनावधारणं सूचयति। तथा च न्यायस्यैव शास्त्रस्येत्यर्थः। **प्रवृत्तिः**—व्यवहारः। त्रैविध्यमेवोपपादयति—**उद्देश इति**। क्रमेणोद्दिष्टानामुद्देशलक्षणपरीक्षाणां लक्षणस्यापि क्रमशोऽभिधेयत्वात् प्रथमोद्दिष्टम् उद्देशं तावल्लक्षयति—**उद्देशस्त्विति**। अत्र कीर्त्तनमुद्देश इत्येतावन्मात्रे उच्यमाने समुद्रघोषादावतिव्याप्तिरत आह—सङ्कीर्त्तनमिति। एतावन्मात्रेऽप्युच्यमाने गगनकुसुममित्यादावतिव्याप्तिरत आह—वस्तुसङ्कीर्त्तनमिति। एतावन्मात्रेऽप्युच्यमाने पट इत्यादावतिव्याप्तिरत आह—नाम्नेति। एतावन्मात्रेऽप्युच्यमाने गन्धवती पृथिवीत्यादिलक्षणवाक्येऽतिव्याप्तिः, तत्र वस्तुभूतस्य पृथिवीतिलक्ष्यभागस्य नाम्ना सङ्कीर्तनादत आह नाममात्रेणेति। एवञ्च तत्र सामानाधिकरण्यबलेन लक्षणांशेनापि लक्ष्याभिधानान्नातिव्याप्तिः। नन्वेवमपि पृथिव्या गन्धो लक्षणमित्यादौ व्यधिकरणलक्षणवाक्येऽतिव्याप्तिः, तत्र नाममात्रेण लक्ष्याभिधानादिति चेन्न, मात्रपदस्य भिन्नक्रमेण नाम्ना वस्तुसङ्कीर्त्तनमात्रमुद्देश इति विवक्षणात्। नच लक्ष्यवाचकपदेन लक्ष्यमुद्दिश्य लक्षणकथनात् लक्षणवाक्ये लक्ष्यांशस्योद्देशलक्षणमुच्यतैवेति वाच्यम्, लक्षणवाक्यान्तर्गतोद्देशात्पृथक् तदुद्देशकरणात्। नन्वेवमपि मौनिरचितग्रन्थोद्देशेऽव्याप्तिः, तत्र सङ्कीर्त्तनाभावादिति चेन्न, तदर्थं ज्ञायमानलक्षणवाक्यासमभिव्याहृतं नाम उद्देश इति विवक्षणान्तराश्रयणात्॥ **तच्च**—नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्त्तनञ्च। **अस्मिन्नेव**—प्रमाणेत्यस्मिन्नेव। प्रमाणादीनामुद्देशः प्रमाणेतिसूत्रेणैव कृत इति भावः। अथ लक्षणात्मकशास्त्रं लक्षयति—**लक्षणन्त्विति**। लक्षणवाक्यन्त्वित्यर्थः। लक्षणस्य लक्षणाभिधाने तु असाधारणधर्म इत्येवोच्येत, तस्यैव लक्षणलक्षणत्वात्, न लक्षा-

---

लक्षण और परीक्षा। इनमें-नाममात्रसे जो वस्तुका सङ्कीर्तन, उसे उद्देश कहते हैं, जैसे प्रमाणादियोंका प्रमाणादि नामसे "प्रमाणप्रमेय०" इस सूत्रमें जो संकीर्त्तन, वह प्रमाणादियोंका उद्देश है। एवं-वस्तुके असाधारण धर्मको लक्षण कहते हैं, जैसे गोका

त्वम्। लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः **परीक्षा**। तेनैते लक्षणपरीक्षे प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानार्थं कर्तव्ये।

## (१) प्रमाणानि

### प्रमाणम्

१. तत्राऽपि प्रथममुद्दिष्टस्य प्रमाणस्य तावल्लक्षणमुच्यते, प्रमाकरणं

---

धारणधर्मवचनमिति। सजातीयविजातीयव्यवच्छेदो व्यवहारश्च लक्षणार्थः साधारणधर्मवचनेन नोपपद्यतेऽत आह—**असाधारणेति**। असाधारणत्वञ्च असर्ववृत्तित्वम्। तथा चाकाशस्यासर्ववृत्तित्वात्तत्रातिव्याप्तिरत आह—**धर्मेति**। धर्मत्वञ्च वृत्तिमत्त्वम्। एवञ्चाकाशस्यावृत्तित्वादसाधारणत्वेऽपि तादृशधर्मत्वाभावान्न तत्रातिव्याप्तिरित्याशयः॥ असम्भवाव्याप्त्यतिव्याप्तिरूपदोषत्रयराहित्यं सर्वत्र लक्षणे आवश्यकम्। तत्र लक्ष्यतावच्छेदकव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वम् असम्भवः। लक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् अव्याप्तिः। लक्ष्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्ये सति लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदसामानाधिकरण्यम् अतिव्याप्तिः। अत एव तादृशदूषणत्रयरहितं तदुदाहरणमाह—**यथेति**। **सास्नादीति**—अत्रादिना लाङ्गूलककुदखुरविषाणसङ्ग्रहः। अथ परीक्षां लक्षयति—**लक्षितस्येति**। **तेनेति**—येन हेतुना प्रमाणेति सूत्रे उद्देशमात्रं कृतं, लक्षण परीक्षे त्ववशिष्टे तेन कारणेनेत्यर्थः। केचित्तु-"येन कारणेन प्रमाणेतिसूत्रेणोद्देशे कृतेऽपि लक्षणपरीक्षयोरकृतयोः प्रमाणादीनां सम्यग्ज्ञानं न सम्भवति तेन हेतुनेत्यर्थः" इति वदन्ति।

**तत्रापि**—प्रमाणादावपि, अथवा प्रमाणादीनां लक्षणादौ कर्तव्येऽपि। **प्रथममिति**—सूत्रकारगौतमेनेत्यादि। **तावत्**—प्रथमम्। यथोद्देशं लक्षणस्या-

---

जो सास्नादिमत्त्व, वह उसका लक्षण है। एवं-लक्षितका जो लक्षण, वह लक्षितमें उपपन्न होता या नहीं, इस तरह का जो विचार उसे परीक्षा कहते हैं, जैसे गोका जो सास्नादिमत्त्व लक्षण है, वह गोमें उपपन्न होता या नहीं, इसतरह का जो विचार, वह है परीक्षा। यद्यपि प्रमाणादियोंके तत्त्वको जाननेके लिये उनके-उद्देश, लक्षण और परीक्षा, ये तीनों कर्तव्य हैं, तथापि प्रमाणादियोंका उद्देश "प्रमाणप्रमेय०" इस सूत्रमें ही कर चुके हैं, इसलिये उनके लक्षण और परीक्षा ही कर्तव्य हैं॥

तत्रापि—उन प्रमाणादियोंमें भी प्रथम उद्दिष्ट प्रमाणका पहले लक्षण कहते हैं

प्रमाणम् । अत्र च प्रमाणं लक्ष्य, प्रमाकरणं लक्षणम् ।

ननु प्रमायाः करणं चेत् प्रमाणं तर्हि तस्य फलं वक्तव्यं, करणस्य फलवत्त्वनियमात् । सत्यम् । प्रमा एव फल साध्यमित्यर्थः । यथा छिदाकरणस्य परशोश्छिदैव फलम् ।

---

पेक्षितत्वादित्याशयः । यद्यपि मोक्षजनकज्ञानविषयत्वात् प्रमेयस्यैव तत्र प्रथममुद्देष्टव्यता, तथापि "मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात् । तच्चाप्यक्षादिमानेषु गीर्वाणैरप्यवारणम् ॥" इत्याद्यनुसारेण प्रमाणस्य सकलपदार्थव्यवस्थापकत्वेन प्राधान्यात् तस्यैव प्रथममुद्देशः कृत ॥ प्रमाणमिति—इदं-प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणमिति रीत्या करणव्युत्पत्तिनिष्पन्नं; न तु प्रमिति प्रमाणमिति पद्धत्या भावव्युत्पत्तिनिष्पन्नम् , तथा सति ज्ञाने चक्षुरादौ चाभिमतं प्रमाणत्वं ज्ञान एवोपपद्येत, न तु चक्षुरादाविति प्रमाया अकरणे ज्ञानेऽतिव्याप्तिरव्याप्तिश्च तस्याः करणे चक्षुरादावापद्येतेत्याशयः । नन्वेवं घटो घट इत्यादिनेव प्रमाकरणं ( प्रमाणं ) प्रमाकरणमित्यनेन बोधो न स्यादिति चेन्न, प्रमाकरणं ( प्रमाणं ) प्रमाणपदवाच्यमित्यर्थाङ्गीकारेण सामञ्जस्यात् । प्रमाणमित्यस्य "इति वाक्येने"ति शेषः । अत्र च—प्रमाकरणं प्रमाणमिति वाक्ये च । प्रमाणं—प्रमाणमिति पदम् । लक्ष्यम्—लक्ष्यनिर्देशकम् । प्रमाकरणम्—प्रमाकरणमिति पदम् । लक्षणम्—प्रमाकरणत्वरूपलक्षणनिर्देशकम् ।

चेत्—यदि । तस्य—प्रमाणस्य । तत्फलस्य वक्तव्यत्वे हेतुमाह—करणस्येति ।

समाधानमुपक्रमते—सत्यमिति । एतदस्यामर्थाभ्युपगमे । यद्यत् करणं तत्तत् फलवदिति नियमोऽभ्युपगम्यते, किन्तु प्रमाणफलस्य वक्तव्यत्वं नाङ्गीक्रियते, तस्योक्तत्वादिति भावः । प्रमेति—प्रमाकरणस्य चक्षुरादेरित्यादि । तदुक्ततासूचनायाह—एवेति । एवमग्रेऽपि । फलमित्यस्य निष्पत्त्यर्थकफलधातुनिष्पन्नतासूचनाय तद्विवृणोति—साध्यमिति । अत्रानुरूपं दृष्टान्तमाह—यथेति ।

---

कि-प्रमाकरणं प्रमाणम् । इसमें प्रमाण है लक्ष्य और प्रमाकरण है लक्षण ।

ननु—यदि प्रमाका करण प्रमाण है, तो उसका फल भी कहना होगा, क्योंकि जो करण होता है, वह फलवान् होता ही है यह नियम है । उत्तर—जैसे छिदाकरण परशुका फल छिदा ही है, वैसे प्रमाकरण चक्षुरादिका फल प्रमा ही है ।

## प्रमा

२. का पुनः प्रमा, यस्याः करणं प्रमाणम्।

उच्यते। यथार्थानुभवः प्रमा। यथार्थ इत्ययथार्थानां संशय-विप-

---

प्रमापदाभिधेयजिज्ञासया पृच्छति-**का पुनरिति**।

उत्तरयितुं प्रतिजानीते-**उच्यते इति**। प्रमां लक्षयति-**यथार्थेति**। अत्र यथार्थश्चासावनुभवो यथार्थानुभव इति व्युत्पत्तिः। यथार्थत्वञ्च तद्वति तत्प्रकारकत्वम्। तत्र च सप्तम्यर्थो विशेष्यत्वम्। तच्च भासमानवैशिष्ट्यानुयोगित्वम्, प्रकारत्वञ्च भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वम्, वैशिष्ट्यञ्च सम्बन्धः, प्रतियोगित्वानुयोगित्वे च स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपे। तथा च तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकानुभवत्वम् प्रमाया लक्षणम्। उदाहरणम्-रजते "इदं रजतम्" इति ज्ञानम्। अत्र रजतत्ववद्विशेष्यकत्वे सति रजतत्वप्रकारकत्वस्य सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः। नन्वेवं रङ्गरजतयोः "इमे रजतरङ्गे" इत्याकारकसमूहालम्बनभ्रमे प्रमालक्षणातिव्याप्तिः, तत्रापि रजतत्ववद्विशेष्यकत्वरजतत्वप्रकारकत्वयोः रङ्गत्ववद्विशेष्यकत्वरङ्गत्वप्रकारकत्वयोश्च सत्त्वादिति चेन्न तद्वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततन्निष्ठप्रकारताशाल्यनुभवत्वम् प्रमात्वमिति विवक्षणे तादृशसमूहालम्बनभ्रमस्य रङ्गांशे रजतत्वावगाहित्वेन रजतत्वप्रकारतायाः रङ्गत्ववद्विशेष्यतानिरूपितत्वात् रजतत्ववद्विशेष्यतानिरूपितत्वाभावेन, एवं रजतांशे रङ्गत्वावगाहित्वेन रङ्गत्वप्रकारतायाः रजतत्ववद्विशेष्यतानिरूपितत्वात् रङ्गत्ववद्विशेष्यतानिरूपितत्वाभावेन च तत्र दोषाभावात्॥ तत्र यथार्थपदस्य कृत्यमाह—**यथार्थेति**। **इति**—इत्यनेन। **अयथार्थानाम्**। तदभाववद्विशेष्यकतत्प्रकारकाणाम्, अथवा तदभाववन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततन्निष्ठप्रकारताकानाम्॥ एकधर्मिकविरुद्धनानाधर्मप्रकारकम्, जिज्ञासाजनकम् वा ज्ञानं संशयः। स समानधर्मवद्धर्मिज्ञानविशेषादर्शना-

---

का पुनः—जिसका करण प्रमाण कहलाता है, वह प्रमाण कौन है? उत्तर-यथार्थ जो अनुभव उसे प्रमा कहते हैं; अर्थात् जो वस्तु जहाँ और जैसी हो उस वस्तुको वहाँ और वैसी ही समझना यथार्थ अनुभव कहलाता है, और वही है प्रमा; जैसे—जहाँ चाँदीको यदि "यहाँ यह चाँदी है" इस प्रकार समझा जाय तो यह यथार्थ अनुभव होता है; अर्थात् प्रमा होती क्योंकि तत्वतः वहाँ वह चाँदी ही है, यहाँ जिसे चाँदी समझा जारहा है। इस-प्रमाके लक्षणमें-यथार्थ पदके उपादानसे अयथार्थानुभव

र्यय-तर्कज्ञानानां निरासः । अनुभव इति स्मृतेर्निरासः । ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः । अनुभवो नाम स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम् ।

## करणम्

३. किं पुनः करणम् । साधकतमं करणम् । अतिशयितं साधकं

---

नेककोटिस्मरणैः जन्यते । यथाऽयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ज्ञानं संशयः । एवं तदभाववन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततन्निष्ठप्रकारताकनिश्चयात्मकज्ञानं विपर्ययः । स समानधर्मवद्धर्मिज्ञानविशेषादर्शनैककोटिस्मरणैः जन्यते । यथा शुक्तौ "इदं रजतम्" इति ज्ञानं विपर्ययः । एवं व्याप्यारोपप्रयोज्यव्यापकारोपस्तर्कः । स व्याप्यव्यापकयोः बाधनिश्चयेन जन्यते । यथा यत्र वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यादिति ज्ञानं तर्कः । तथा च **संशयविपर्ययतर्कज्ञानानामि**त्यस्य संशयज्ञानस्य विपर्ययज्ञानस्य तर्कज्ञानस्य चेत्यर्थः । द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते इति इति न्यायेन ज्ञानपदस्य प्रत्येकमन्वयात् ॥ एवमनुभवपदस्य कृत्यमाह—**अनुभव इति** । इति—इत्यनेन । ननु का स्मृतिरित्यत आह—**ज्ञातेति** । ज्ञातो विषयो यस्येति व्युत्पत्तिः । अनुभवपदार्थमाह—**अनुभव इति** । **व्यतिरिक्तम्**—भिन्नम् ।

एवं प्रमाकरणत्वरूपप्रमाणलक्षणघटकप्रमापदार्थे ज्ञातेऽपि करणपदार्थमजानानः तत्पृच्छति—**किं पुनरिति** । पाणिनिसूत्रेणोत्तरयति—**साधकतममिति** । साध-

---

अर्थात् अप्रमा जो संशय, विपर्यय और तर्क हैं उनकी व्यावृत्ति हुई, अर्थात् उनमें प्रमाका लक्षण नहीं गया । और अनुभव पदके उपादानसे यथार्थस्मरणका निराकरण हुआ, अर्थात् उसमें प्रमाके लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं हुई । प्रश्न—स्मरण कौन है ? उत्तर—ज्ञातविषयक जो ज्ञान वही स्मरण है, अर्थात् स्मरण उस ज्ञानको कहते हैं जो कि किसी अनुभव के होनेपर उत्पन्न हुए 'भावना' नामक संस्कारमात्रसे उत्पन्न होता है । जैसे—कोई एक कामी किसी एक कामिनीको पहले सादेखदृष्टिसे देखता है, बाद उसी अनुभवसे उस कामीकी आत्मामें उस कामिनी विषयक एक 'भावना' नामक संस्कार उत्पन्न होकर रहा करता है, अनन्तर जब जब वह संस्कार किसी उद्बोधकसे उद्बुद्ध होता है, तब तब उस कामीको वह कामिनी याद आया करती है, इसी याद आनेको स्मरण कहते हैं । प्रश्न—अनुभव किसे कहते हैं ? । उत्तर—स्मरणसे भिन्न जो ज्ञान उसे अनुभव कहते हैं । जैसे स्मृतिसे भिन्न प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि जो ज्ञान वह अनुभव है ।

किं पुनः—करण कौन है ? उत्तर—जो साधकतम है, वही करण है ।

...त भारती अकादमी
क्रमाक ..............

साधकतमं प्रकृष्टं कारणमित्यर्थः ।

कारणम्

४. ननु साधकं कारणमिति पर्यायस्तस्य न ज्ञायते, कि तत् कारणम् इति ।

उच्यते । यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्

---

कतमपदार्थमाह—अतिशयितमिति । अतिशयितं विवृणोति-प्रकृष्टमिति । प्रकृष्टत्वञ्च फलाव्यवहितपूर्ववर्तिव्यापाररूपप्रकर्षवत्त्वम् । साधकं विवृणोति—कारणमिति । उक्तञ्च—

'क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम् ।
विवक्ष्यते यदा तत्र करणत्वं तदा स्मृतम् ॥'' इति ।

अत्र यदेत्यादिना अव्यासङ्गकालोऽभिप्रेत', तेन व्यासङ्गसमये व्यापारे सत्यपि प्रमाद्यनुत्पत्तेरिन्द्रियादौ तत्त्वानुपपत्तावपि न क्षतिः । न चोक्तकरणलक्षणस्य सामग्र्यामतिव्याप्तिः, तस्या निर्व्यापारत्वात् । सामग्री'च प्रागभावेतरकादाचित्कयावत्कारणप्रागभावानाधारः कार्यप्रागभावाधारः क्षण एव, न त्वेकक्षणावच्छिन्नानि यावन्ति कारणानि, यागादेश्चिरातीतत्वेन स्वर्गादिसामग्र्यामव्याप्तेः । क्षणश्च क्रियाद्युत्पत्त्याधारकालः ।

ननु अज्ञातसाधकशब्दार्थम्प्रति कारणशब्देन साधकशब्दार्थकथनं न युक्तम्, साधकशब्दस्येव कारणशब्दस्याप्यज्ञातार्थकत्वादित्यभिप्रेत्य शङ्कते—नन्विति । इति—इत्यस्य । अथवा इतीत्यस्य पदद्वयमन्योऽन्यस्येति शेषः । पर्याय इति—किन्त्विति शेषः । कारणम्—कारणपदवाच्यम् ।

समाधातु प्रतिजानीते—उच्यते इति । कारणं लक्षयति-यस्येति । अन-

---

प्रश्न—साधकतम कौन है ? उत्तर—अतिशयित अर्थात् प्रकृष्ट जो साधक अर्थात् कारण उसे साधकतम कहते हैं । सारांश यह है कि-व्यापारवाला जो खास कारण उसे करण कहते हैं । जैसे-घटके प्रति दण्ड भ्रमिरूप व्यापारवाला होता हुआ खास कारण है, अतः दण्ड घटके प्रति करण है ।

ननु—साधक और कारण इन दोनोंको परस्पर पर्यायशब्द होनेके कारण-साधकशब्दके अर्थ विषयक अज्ञानको दूर करनेके लिये कारण शब्दके प्रयोग करने पर भी, कारण पदार्थके ज्ञान न रहने के कारण वह अज्ञान दूर न हुआ, इसलिये पहले कारण पदार्थ कौन है यही समझाइये ? उत्तर—कार्यसे पहले जिसका रहना

कारणम् । यथा तन्तु-वेमादिकं पटस्य कारणम् । यद्यपि पटोत्पत्तौ दैवादागतस्य रासभादेः पूर्वभावो विद्यते, तथापि नाऽसौ नियतः । तन्तुरूपस्य तु नियतः पूर्वभावोऽस्त्येव, किंत्वन्यथासिद्धः पटरूपजननो-

---

न्यथासिद्ध इति—प्रकारान्तरेणानुपयुक्त इत्यर्थः । अन्यशब्दात् "प्रकारवचने थाल्" इत्यनेन थाल्प्रत्ययस्य विहितत्वात्, सिद्धपदस्योपयुक्तार्थकत्वाच्च । अन्यथा (अन्यप्रकारेण) सिद्ध (उपयुक्तः) इति अन्यथासिद्ध, न अन्यथासिद्ध इति अनन्यथासिद्ध इति व्युत्पत्तिः ॥ उदाहरति—**यथेति** । तत्र नियतपदस्य कृत्यमाह—**यद्यपीति** । **पटोत्पत्तौ**—पटोत्पत्तिपूर्वकाले । **पूर्वभाव** इति—पटादित्यादिः । **असौ**—रासभादेः पटात्पूर्वभाव । तत्रानन्यथासिद्धपदस्य कृत्यमाह—**तन्तुरूपस्येति** । **पूर्वभाव** इति—पटादित्यादिः । **किन्त्विति**—स पटम्प्रतीति शेषः । तस्य पटम्प्रत्यन्यथासिद्धत्वे हेतुमाह—**पटरूपेति** । पटरूपस्य जननेन उपक्षीण-

---

नियत और अनन्यथासिद्ध (अर्थात् किसी दूसरे कार्यको पैदा करनेसे शक्तिहीन न हुआ) हो वह कारण है । अर्थात् किसी कार्यके प्रति कारण वही हो सकता है, जिसका उस कार्यके अधिकरणमें उस कार्यसे पहले रहना हो, और वह रहना नियत हो, और वह रहना किसी अन्यकार्यके उत्पादन करनेमें उपयुक्त न हो गया हो । जैसे अनेक तन्तु और वेमा प्रभृतिका भावी पटके अधिकरणमें उस पटसे पहले रहना नियत है, और वह रहना किसी अन्य कार्यके प्रति उपयुक्त नहीं हुआ है, इस लिये वह तन्तु और वेमा प्रभृति उस पटके प्रति कारण होता है । यद्यपि कहीं सयोगवंश गदहेका भी उस पटके अधिकरणमें उस पटसे पहले रहना हो सकता है, तथापि गदहा पटके प्रति कारण नहीं होता, क्योंकि उसका वहां रहना नियत नहीं है । यद्यपि उस पटके अधिकरणमें उस पटसे पहले उस तन्तुके रहनेको नियत होनेके कारण उस तन्तुके रूपका भी रहना नियत है, तथापि तन्तुरूप पटके प्रति कारण नहीं होता, क्योंकि उसका वह रहना अन्यथासिद्ध अर्थात् पटरूपके उत्पादन करने के लिये उपयुक्त हो चुका है । प्रश्न—यदि ऐसी कल्पना करें कि-जैसे तन्तु रूप और पट इन दोनों के प्रति कारण होता है, वैसे तन्तुरूप भी पट और पटरूप इन दोनोंके प्रति कारण होगा, तो क्या क्षति होगी ? उत्तर—इस तरह की कल्पना करनेमें गौरव दोष होगा । एव-किसी कारणका कार्य वही हो सकता है, जिसका उस कारणके अधिकरणमें उस कारणके बाद रहना नियत हो, और वह रहना किसी अन्य प्रकारसे सिद्ध न हुआ हो । जैसे घटका दण्डके अधिकरणमें दण्डके बाद रहना नियत है, और वह रहना किसी अन्य प्रकारसे सिद्ध नहीं है,

पक्षीणत्वात् पटं प्रत्यपि कारणत्वे कल्पनागौरवप्रसङ्गात् । तेनाऽनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं **कारणत्वम्** । अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं **कार्यत्वम्** ।

---

त्वात् क्षीणसामर्थ्यकत्वात् ( उपयुक्तत्वात् ) इत्यर्थः । **पटमिति**–तस्येत्यादिः । **कारणत्वे**—कारणत्वकल्पने । **तेनेति**–येन हेतुना रासभादौ तन्तुरूपे च पटकारणत्वप्रसङ्गवारणाय तत्र नियतपदमनन्यथासिद्धपदञ्चावश्यकम् तेन कारणेनेत्यर्थः । **अनन्यथासिद्धेति**—अनन्यथासिद्धश्चासौ नियतः अनन्यथासिद्धनियत', स चासौ पूर्वभावः अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभाव·, सोऽस्यास्तीति अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावि, तस्य भावः अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वमिति व्युत्पत्तिः । वस्तुतस्तु कार्यकारणभावस्य प्राय· सर्वत्र विशिष्यैव वक्तव्यत्वात्–तत्कार्यनिरूपितान्यथासिद्धत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वे सति तत्कार्यनिरूपितनियतपूर्ववृत्तितावत्त्वं तत्कार्यनिरूपितकारणत्वम् , रासभादौ पटादिकारणताया वारणाय सत्यन्तम् , कपालादौ तस्या वारणाय विशेष्यदलम् । तत्र लघुनियतपूर्ववृत्तितावच्छेदकधर्मवत्त्वम् नियतपूर्ववृत्तित्वम् , तेन वनस्थदण्डादावपि घटस्वरूपयोग्यतोपपत्तिः । ननु तादृशनियतपूर्ववर्त्तिभिन्नानामनन्यथासिद्धत्वदलेनैव वारणात्तत्र नियतपूर्ववर्त्तित्वदलं व्यर्थमेवेति चेन्न, स्वम्प्रति यत् लघुनियतपूर्ववर्ति तद्भिन्नस्य स्वम्प्रत्यन्यथासिद्धत्वे कपालादेरपि पटम्प्रत्यन्यथासिद्धत्वापत्त्या स्वम्प्रति यत् लघुनियतपूर्ववर्त्ति तद्भिन्नं यन्नियतपूर्ववर्त्ति स्वम्प्रति तदन्यथासिद्धमिति विवक्षिते तत्कार्यनिरूपितान्यथासिद्धत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वमात्रस्य तत्कार्यम्प्रति कारणत्वे कपालादौ प्रसज्यमानाया· पटकारणताया वारणाय कारणशरीरेऽपि नियतपूर्ववर्त्तित्वदलस्यावश्यकत्वात् ॥ अनन्यथासिद्धत्वञ्च अन्यथासिद्धत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वम् , तत्रान्यथासिद्धाः पञ्च । तत्र स्वकारणतावच्छेदको धर्म· स्वम्प्रत्यन्यथासिद्धः । यथा घटम्प्रति दण्डत्वम् । एवं स्वकारणसमवेतं जन्यं स्वम्प्रत्यन्यथासिद्धम् , यथा घटम्प्रति दण्डरूपम् । तथा अन्यजनकत्वेन यत् स्वजनक तत् तेन रूपेण स्वम्प्रत्यन्यथासिद्धम् , यथा

---

इसलिये दण्डका कार्य घट है । प्रश्न—अन्यथासिद्ध कौन है ? उत्तर—अन्यथा-अन्य प्रकारसे जो सिद्ध वह अन्यथासिद्ध है । अर्थात् किसी कार्यके अधिकरणमें उस कार्यके पहले जिसका नियमत· रहना आवश्यक है, उससे भिन्न । जो नियमतः रहना वह उस कार्यके प्रति अन्यथासिद्ध है । जैसे घटके अधिकरण में उससे पहले

ननु कश्चिदाह—'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' इति ।

---

गगनस्य घटं प्रति शब्दसमवायित्वेन हेतुत्वं तत् तदन्यथासिद्धम् । एवं स्वकार-णनियतपूर्ववर्तित्वज्ञानावच्छेदकत्वेन यत् स्वजनकत्वेन विवक्षितं तत् तेन रूपेण तदन्यथासिद्धम्, यथा कुलालपितुः घटं प्रति कुलालपितृत्वेन जनक-त्वेऽपि न तदन्यथासिद्धः । यथा स्वं प्रति यत् तदुत्तरनियतपूर्ववर्ति तदुत्पन्नं तत् नियतपूर्ववर्ति स्वं प्रति तदन्यथासिद्धम् । यथा घटं प्रति रासभः । न च अन्य-तमेन पञ्चविधान्यथासिद्धिनिरूपणस्य तुल्यत्वात् तृतीयचतुर्थान्यथासिद्धयोरसङ्ग्रहापत्तिः, तृतीये अन्यपदेन नष्टकार्यजनकस्य चतुर्थे च स्वकारणपदेन प्रकृतकार्यजनकस्य ग्रहणात् ॥ तथा चात्र नियमेनासौ पूर्वभावः नियतपूर्वभावः, सोऽस्यास्तीति नियत-पूर्वभावि, अन्यथासिद्धत्वाद् नियतपूर्वभावि अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावि, तस्य भावः तत्त्वमिति व्युत्पत्तिरिति ध्येयम् ॥ कारणता च द्विविधा तत्रैका तत्कार्यनिरू-पितान्यथासिद्धत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वे सति तत्कार्यान्यवहितप्राक्क्षणाव-च्छेदेन तत्कार्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात्मिका तत्कार्यनिरूपितव्याप्ती-त्यपरनाम्नी कारणता । द्वितीया च तादृशभेदवत्त्वे सति तत्कार्यनिरूपितप्रति-बन्धकत्वावच्छेदकधर्मवत्त्वात्मिका तत्कार्यनिरूपितस्वरूपसम्बन्धनाम्नी कारणता । तत्राद्या फलोपधायके, द्वितीया च स्वरूपयोग्ये इति बोध्यम् ॥ तस्य कार्यात्पूर्व-भावो नियत इत्यादि कारणलक्षणेऽव्यवहितत्वेन गृहीतस्य कार्यस्य ज्ञानार्थं तत् लक्षयति—अनन्यथासिद्धेति । तत्र ( कारणात् ) पश्चाद्भावित्वमात्रं दैवयोगात् कारणतः पश्चात् प्रसूतस्यैव गर्दभादावपि वर्तते इति तद्व्यतिव्याप्तिवारणायाह—नियतेति । ( कारणतः ) नियतपश्चाद्भावित्वमात्रं तन्त्वादितः नियतपश्चाद्भाविनि पटरूपेऽपि वर्तते इति तद्व्यतिव्याप्तिवारणायाह—अनन्यथा सिद्धेति । अत्रापि वस्तुतस्तु रीत्या विशदविचारः कारणनिरूपणे पूर्वोक्तग्रन्थतः ॥

परोक्तं कारणलक्षणं खण्डयितुमुपन्यस्यति—यत्त्विति । कार्यानुकृतेति—

---

दण्डका नियमतः रहना आवश्यक है, अतः दण्डसे भिन्न दण्डरूपका जो नियमतः रहना वह घटके प्रति अन्यथासिद्ध है। एवं-किसी कारणके अधिकरणमें उस कारणके बाद जिसका नियमतः रहना आवश्यक है, उससे भिन्नका जो नियमतः रहना वह उस कारणके प्रति अन्यथासिद्ध है। जैसे-दण्डके अधिकरणमें दण्डके बाद घटका नियमतः रहना आवश्यक है, अतः घटसे भिन्न घटरूपका जो नियमतः रहना वह दण्डके प्रति अन्यथासिद्ध है।

ननु—कोई कहते हैं कि—जहाँ जिसके रहने पर जो हो, और जिसके न रहने

तदयुक्तम् । नित्यविभूनां कालतो देशतश्च व्यतिरेकासंभवेनाऽकारणत्व-प्रसङ्गात् ।

५. तच्च कारणं त्रिविधम् । समवायि–असमवायि–निमित्त-

---

कार्येणानुकृतौ ( अनुविहितौ ) कार्यानुकृतौ, कार्यानुकृतौ अन्वयव्यतिरेकौ यस्य तत् कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि, इति व्युत्पत्तिः । तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमित्यन्वयः, तदभावे तदभाव इति व्यतिरेकः । घटाद्यात्मककार्येण कपालादिरूपकारणान्वयव्यतिरेकयोरनुविहितत्वात् तत्कारणता तत्रोपपद्यते इत्याशयः । तत् खण्डयति–तदयुक्तमिति । कुत इत्यत आह—नित्यविभूनामिति । तथा सतीत्यादिः । आकाशादीनां नित्यत्वात् कालिकव्यतिरेकाभावः, विभुत्वाद् दैशिकव्यतिरेकाभावश्च न सम्भवतीत्याशयेन तेषां हेतुगर्भविशेषणं नित्यविभूनामिति प्रत्यपादि । तत्र नित्यत्वम् ध्वंसाप्रतियोगित्वे सति प्रागभावाप्रतियोगित्वम्, अत्र–प्रागभावे नित्यत्वप्रसङ्गवारणाय सत्यन्तम्, तथा ध्वंसे तद्वारणाय विशेष्यदलम् । एवं विभुत्वम् सर्वमूर्त्तद्रव्यसंयोगित्वम्, तत्र मूर्त्तत्वम् क्रियावत्त्वम् ॥

कारणं विभजते–तच्चेति । त्रिविधमिति–अत्र व्युत्पत्तिः पूर्ववदवगन्तव्या । विधापदार्थश्च उद्देश्यतावच्छेदकसमनियतवस्तुमदन्यसंख्यावान् । तत्र समनियतत्वञ्च व्याप्यत्वे सति व्यापकत्वम् । तत्र व्याप्यत्वं व्यापकत्वञ्च स्वाश्रयाश्रयत्वसम्बन्धेन ।

---

पर जो न हो, वहाँ वह उसके प्रति कारण होता है, एवं उसके प्रति वह कार्य होता है । किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कहनेपर कार्यमात्रके प्रति जो कारण हैं काल और ईश्वर, उनमें किसीके भी प्रति कारणता नहीं बन सकेगी, क्योंकि काल और ईश्वर को नित्य होनेके कारण किसी कालमें, एवं विभु होनेके कारण किसी देशमें उनका अभाव ( व्यतिरेक ) नहीं बन सकेगा, ऐसी स्थितिमें उनमें उक्त कारणताकी उपपत्ति असम्भव हो जायगी ।

तच्च—वह कारण तीन प्रकारका है और उसके वे तीन प्रकार निम्न हैं-समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण । कोई दार्शनिक कारणको पहले दो भागोंमें विभक्त करते हैं, जैसे—उपादानकारण और अनुपादानकारण । उनमें उपादानकारण उसे कहते हैं-जो उपादानाश्रित न होता हुआ कार्यान्वयी हो । जैसे पटके प्रति उपादानकारण तन्तु होते हैं, क्योंकि स्वमें स्व आश्रित नहीं हो सकता । इसलिये पटके उपादान तन्तुमें तन्तुको अनाश्रित होनेके कारण वे उपादानानाश्रित हैं, और पटके अस्तित्वकालमें उसके अवयवरूपमें तन्तुका रहना

भेदात्। तत्र यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम्। यथा

---

तत्र तादृशी समवायित्वासमवायित्वनिमित्तत्वघटत्वगतचतुष्ट्वसंख्यामादाय कारणस्य चतुर्विधत्वापत्तिनिवारणाय व्याप्यत्वमुपात्तम्, तथा तादृशी समवायित्वासमवायित्वगत-द्वित्वसंख्यामादाय तस्य द्विविधत्वापत्तिनिवारणाय व्यापकत्वमुपात्तम्। एवं तादृशी समवायित्वासमवायित्वनिमित्तत्वकारणत्वगतचतुष्ट्वसंख्यामादाय तस्य चतुर्विधत्वाप-त्तिवारणाय वस्तुमन्यत्वं संख्याविशेषणमुपात्तम्, तच्च स्ववृत्तित्व, स्वसमानाधिकरण-स्वेतरवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन वस्तुविशिष्टान्यत्वम्। एवं तादृशी कारणत्वगतैकत्व-संख्यामादाय तस्यैकविधत्वापत्तिनिवारणाय उद्देश्यतावच्छेदकावृत्तित्वेन संख्या विशेष-णीया। तथा तादृशी समवायित्वासमवायित्वनिमित्तत्वगगनगतचतुष्ट्वसंख्यामादाय तस्य चतुर्विधत्वापत्तिवारणाय अवृत्त्यवृत्तित्वेनापि सा विशेषणीया। एवं तादृशी समवाय्यसमवायिनिमित्तान्यतमत्वगतैकत्वसंख्यामादाय तस्यैकविधत्वापत्तिवारणाय समवायित्वादिविशिष्टान्यत्वेनापि संख्या विशेषणीया। तत्र वैशिष्ट्यञ्च स्वभिन्न-स्वाधिकरणवृत्तिवृत्तित्व, स्वाभाववद्वृत्तिवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन॥ कुत इत्यत आह— समवायीति। तथा च कारणं कारणत्वसमनियत, वस्तुमदन्य, कारणत्ववृत्ति,

---

अनिवार्य है, इसलिये वे कार्यान्वयी भी हैं। यहाँ—कार्यान्वयी जो कारण वह उपा-दानकारण है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कहनेपर तन्तुओंमें होनेवाले परस्परके संयोग भी पटके प्रति उपादानकारण हो जायँगे, क्योंकि वे पटके अस्तित्व कालतक रहनेके कारण कार्यान्वयी हैं, अत यहाँ उपादानानाश्रित पदके निवेश करनेपर वे उसके प्रति उपादानकारण नहीं होते, क्योंकि वे पटके उपादान तन्तुमें रहनेके कारण उपादानाश्रित हैं। एवं—करघे, जुलाहे आदि उपादानानाश्रित होते हुए भी कार्यान्वयी न होनेके कारण ही पटके प्रति उपादानकारण नहीं होते, इस-लिये यहाँ कार्यान्वयी पदका भी निवेश आवश्यक है। बाद में अनुपादानकारणको भी दो भागोंमें विभक्त करते हैं, जैसे—उपादानमात्राश्रित और उपादानानाश्रित। जैसे—तन्तुओंमें होनेवाले परस्परके संयोग पटके उपादान तन्तुमें ही आश्रित होनेके कारण पटके प्रति उपादानमात्राश्रितकारण होते हैं। और करघे, जुलाहे आदि पटके प्रति उपादानानाश्रितकारण होते हैं, क्योंकि वे पटके उपादान तन्तुमें आश्रित नहीं होते। वैशेषिकोंने उपादानकारणको समवायिकारण और उपादानमात्राश्रित अनु-पादानकारणको असमवायिकारण और उपादानानाश्रित अनुपादानकारणको निमित्त-कारण कहा है।

तत्र—इन तीनों कारणोंमें—समवायिकारण उसे कहते हैं, जिसमें समवाय-

तन्तवः पटस्य समवायिकारणम् । यतस्तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते, न तुर्यादिषु ।

ननु तन्तुसंबन्ध इव तुर्यादिसंबन्धोऽपि पटस्य विद्यते; तत् कथं तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते, न तुर्यादिषु ।

सत्यम् । द्विविधः संबन्धः संयोगः समवायश्चेति ।

---

अवृत्त्यवृत्ति, समवायित्वादिविशिष्टान्यसंख्यावत्, समवाय्याद्यन्यतमभेदात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घट इत्यनुमानमुपपद्यते । तत्र भेदस्य हेतुता प्रतियोगितासम्बन्धेन बोध्या । एवमग्रेऽपि । तत्र—समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेषु । समवायिकारणं लक्षयति—**यत्समवेतमिति** । अत्र—अस्मिन् समवेतमिति विग्रहः । तथा 'सदि'ति शेष. । उदाहरति—**यथेति** । वस्तुतस्तु स्वकारणतावच्छेदकयद्धर्मावच्छिन्ने यद्धर्मावच्छिन्नकार्यं समवायसम्बन्धेनोत्पद्यते तद्धर्मावच्छिन्नकार्यम्प्रति तद्धर्मावच्छिन्नं समवायिकारणम् । तत्र द्रव्यत्वादेः घटादिसमवायिकारणतावच्छेदकत्ववारणाय स्वकारणतावच्छेदके ति, बोध्यम् । कुत इत्यत आह—**यत इति** । तन्तुष्वेव समवेतः ( सन् ) पटो जायते इत्यन्वयः । एवमग्रेऽपि । **न तुर्यादिष्विति**—किन्त्वित्यादिः । समवेतः सन् पटो जायते इति शेष. । एवमग्रेऽपि ।

तत्—तस्मात् ।

अर्द्धाभ्युपगमेन परिहरति—**सत्यमिति** । पटस्य तन्तुनेव तुर्यादिनाऽपि सम्बद्धताऽभ्युपगम्यते, किन्तु नैकेन सम्बन्धेन सम्बद्धतेत्यर्धाभ्युपगम इत्याशयः ।

---

सम्बन्धसे रहता हुआ कार्य पैदा हो । जैसे तन्तु पटके प्रति समवायिकारण होते हैं, क्योंकि तन्तुओंमें ही समवायसम्बन्धसे रहता हुआ पट पैदा होता है, न कि तुरी आदिमें ।

ननु—जैसे पटमें तन्तुओंका सम्बन्ध है, वैसे वहाँ तुरी आदिका भी सम्बन्ध है, ऐसी स्थितिमें तन्तुओंमें ही समवायसम्बन्धसे रहता हुआ पट पैदा होता है, और तुरी आदिमें क्यों नहीं पैदा होता ?

उत्तर—सम्बन्ध दो प्रकारके होते हैं, उनमें पहला प्रकार है संयोग, और दूसरा प्रकार है समवाय । इनमें-तुरीके साथ पटका संयोग, सम्बन्ध है इसलिये तुरीमें समवाय सम्बन्धसे नहीं रहनेके कारण पट नहीं पैदा होता । और तन्तुओंके साथ पटका समवाय, सम्बन्ध है इसलिये तन्तुओंमें समवायसम्बन्धसे रहता हुआ पट पैदा होता है ।

तत्रायुतसिद्धयोः संबन्धः समवायः । अन्ययोस्तु संयोग एव ।

कौ पुनरयुतसिद्धौ ? ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ । तदुक्तम्—

तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः ।
अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥

यथा अवयव–अवयविनौ, गुण–गुणिनौ, क्रिया–क्रियावन्तौ, जाति-व्यक्ती, विशेष–नित्यद्रव्ये चेति । अवयव्यादयो हि यथाक्रममवयवा-

---

तस्य स्फोरणाय प्रकृताभिप्रायेणाह—द्विविध इति । सम्बन्ध इति—अस्य लक्षणं ग्रन्थकार एवाग्रे 'सम्बन्धो द्वी'त्यादिना प्रतिपादयिष्यति । तत्र—तादृश-सम्बन्धद्वये । अन्ययोरिति—युतसिद्धयोरित्यर्थः । पृथक्सिद्धयोरिति भावः ।

अयुतसिद्धादिशब्दघटकयुतशब्दस्य यु मिश्रणामिश्रणयोरिति धातुनिष्पन्नत्वात्तत्र तस्य कतरोऽर्थो विवक्षित इत्यभिप्रायेण पृच्छति—कौ पुनरिति । तत्र तस्यामिश्रणार्थता विवक्षितेत्याशयेनोत्तरयति—ययोरिति । तत्र मानमाह—तदुक्तमिति ।

तावेवेति—ययोर्द्वयोः ( मध्ये ) एकमनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते, तावेव द्वावयुतसिद्धौ विज्ञातव्यावित्यन्वयः ।

अयुतसिद्धयोरुदाहरणानि दर्शयति—यथेति । अवयव्यादय इति—अत्रा-

---

तत्र—समवाय और संयोग इन दोनोंमें-समवाय सम्बन्ध अयुतसिद्धोंका होता है, और संयोग सम्बन्ध अयुतसिद्धसे भिन्न द्रव्योंका होता है ।

प्रश्न—अयुतसिद्ध कौन हैं ?

उत्तर—जिन दोनोंके मध्यमें एक विनाशकारणसामग्रीके सान्निध्यसे रहित होता हुआ दूसरेमें आश्रित होकर ही रहता है, वे दोनों अयुतसिद्ध हैं । कहा भी है—तावेवेत्यादि । इसका अर्थ यह है कि-उन्हीं दोनोंको अयुतसिद्ध समझना चाहिये जिन दोनोंके बीचमें एक अविनश्यदवस्थामें रहता हुआ दूसरेमें आश्रित होकर ही रहता है । जैसे-अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति, तथा विशेष और नित्यद्रव्य अयुतसिद्ध हैं । क्योंकि अविनश्यदवस्थामें रहते हुए अवयवी आदि क्रमशः अवयव आदिमें आश्रित होकर ही रहते हैं । यहाँ-जिन दोनोंके मध्यमें एक दूसरेमें आश्रित होकर ही रहता है, वे दोनों अयुतसिद्ध हैं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कहने पर अवयव और अवयवी

चाश्रिता एवाऽवतिष्ठन्तेऽविनश्यन्तः । विनश्यदवस्थास्त्वनाश्रिता एवा-वतिष्ठन्तेऽवयव्यादयः । यथा तन्तुनाशे सति पटः । यथा वा आश्रय-नाशे सति गुणः । **विनश्यत्ता तु** विनाशकारणसामग्रीसान्निध्यम् ।

---

दिना गुणक्रियाजातिविशेषाणा संग्रहः । **हि**—यतः । अविनश्यन्तोऽवयव्यादय इत्य-न्वयः । **अवयवादीति**—अत्रादिना गुणि-क्रियावद्-व्यक्ति-नित्यद्रव्याणा संग्रहः । **विनश्यदवस्था इति**—विनश्यन्ती अवस्था येषा ते विनश्यदवस्था इति व्युत्पत्तिः । अस्य अवयव्यादय इत्यनेनान्वयः । **अनाश्रिता एवेति**—क्षणमात्र-मिति शेषः । **अवयव्यादय इति**—अत्रादिना गुणक्रिययोरेव सङ्ग्रह, न तु जातिविशेषयोः, तयोर्नित्यत्वेन विनश्यदवस्थत्वासम्भवात्, इत्याशयेनैव पुनरस्य पाठोऽत्र धृतः केनचिदिति केचित् । अपरे तु पूर्वपठितस्यैव तस्य विनश्यदवस्था इत्यनेनान्वये तत्रादिना तयोरेव सङ्ग्रहेण निर्वाहसम्भवात् पुनस्तस्य पाठोऽत्र न युक्त इति वदन्ति, तच्च युक्तम्, शब्दस्य शरसादृश्येन वारद्वयं पदार्थद्वयोपस्थापक-त्वासम्भवात् । उक्तञ्च "सकृदुच्चरित• शब्दः सकृदेवार्थं गमयती"ति ॥ द्वितीयकल्प-मुदाहरति—**यथेति** । यत्र समवायिकारणनाशाद् द्रव्यनाशस्तमभिप्रेत्याह—**तन्तुनाशे इति** । किन्तु द्व्यणुकनाशान्यथाऽनुपपत्त्या असमवायिकारणनाशादपि द्रव्यनाशोऽभ्युपगन्तव्य• । वस्तुतस्तु अनुगतैककार्यकारणभावाभ्युपगमे लाघवाद् असमवायिकारणनाशेनैव द्रव्यनाश इति नवीनाः । तस्योदाहरणान्तरमाह—**यथा वेति** । यत्र समवायिकारणनाशात् परिमाणादिगुणनाशस्तमभिप्रेत्याह—**आश्रय-नाशे इति** । किन्तु शरीरतरुसंयोग,—घृतादिपरमाणुगतनैमित्तिकद्रवत्वादिनाशा-न्यथाऽनुपपत्त्या तदसमवायिकारणहस्ततरुसंयोग,—तेजस्संयोगादिनाशादपि क्वचिद् गुणनाश•, एवं द्वित्वादिनाशान्यथाऽनुपपत्त्या तन्निमित्तकारणापेक्षाबुद्धिनाशादपि क्वचिद् गुणनाश', तथा ज्ञानादिनाशान्यथाऽनुपपत्त्या गुणान्तरादपि क्वचिद् गुणनाश इति बोध्यम् । **विनश्यत्तेति**—विनश्यतो भावः विनश्यत्तेति व्युत्पत्ति । **विना-**

---

आदि अयुतसिद्ध नहीं हो सकेंगे, क्योंकि विनश्यदवस्थामें रहते हुए अवयवी और गुण आदि अनाश्रित होकर ही रहते हैं। जैसे—तन्तुके नाश होनेपर पट, और आश्रयके नाश होनेपर गुण । इसलिये उक्त रीतिसे जो अयुतसिद्धोंका निर्वचन किया है, और वैसा करनेपर कहीं भी अयुतसिद्धताकी अनुपपत्ति नहीं होती है। यहाँ-विनाशका कारण जो सामग्री उसका जो सान्निध्य उसे विनश्यत्ता समझनी

तन्तुपटौ अप्यवयवाऽवयविनौ, तेन तयोः संबन्धः समवायोऽयुतसिद्धत्वात् । तुरीपटयोस्तु न समवायोऽयुतसिद्धत्वाभावात् । न हि तुरी पटाश्रिता एवावतिष्ठते, नापि पटस्तुर्याश्रितः, अतस्तयोः सम्बन्धः संयोग एव । तदेवं तन्तुसमवेतः पटः । यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम् । अतस्तन्तुरेव समवायिकारणं पटस्य, न तु तुर्यादि । पटश्च स्वगतरूपादेः समवायिकारणम् । एवं मृत्पिण्डोऽपि घटस्य समवायिकारणं, घटश्च स्वगतरूपादेः समवायिकारणम् ।

ननु यदैव घटादयो जायन्ते तदैव तद्गतरूपादयोऽपि । अतः

---

शेति—विनाशस्य ( ध्वंसस्य ) यानि कारणानि, तेषां या सामग्री ( सकलता ) तस्याः साम्निध्यम् ( सन्निधानम् ) इत्यर्थः । अत्र सामग्रीपदं पूर्वोक्तस्य, सकलकारणसमवधानस्य वा न वाचकम्, तथा सति कारणपदसान्निध्यपदयो· वैयर्थ्यापातात् । एवं सान्निध्यमित्यत्र चातुर्वर्ण्यमित्यत्रेव स्वार्थे ष्यञ् प्रत्यय· । तन्तुपटाविति—येनेत्यादिः । तयोः—तन्तुपटयो· । कुत इत्यत आह—अयुतेति । तयोरित्यादिः । एवमग्रेऽपि । समवाय इति—सम्बन्ध इति शेषः । तुरीपटयोरयुतसिद्धत्वाभावमुपपादयति—न हीति । हि—यत· । तुर्याश्रित इति—अवतिष्ठते इत्यनुषज्यते । तयोः—तुरीपटयोः । उपसंहरति—तदेवमिति । यत इति शेष । यत्समवेतमिति—तदित्यादि· । एवव्यवच्छेद्यमाह—न त्विति । मृत्पिण्ड इति—कपालमित्यर्थ· । समवायिकारणलक्षणाक्रान्तत्वादिति भाव· ।

तद्गतेति—घटादिगतेत्यर्थ· । रूपादयोऽपीति—जायन्ते इत्यनुषज्यते ।

---

चाहिये । प्रकृतमें-तन्तु अवयव, और पट अवयवी हैं, इसलिये उन दोनोंको अयुतसिद्ध होनेके कारण तन्तुमें पटका समवाय सम्बन्ध है, अतएव तन्तुमें समवाय सम्बन्धसे रहता हुआ पट उत्पन्न होता है, इसीलिये तन्तु ही पटके समवायि कारण होते हैं, न कि तुरी । क्योंकि-तुरी अविनश्यदवस्थामें पटाश्रित होकर ही नहीं रहता है, और न पट ही अविनश्यदवस्थामें तुर्याश्रित होकर रहता है; इसलिये उन दोनोंको अयुतसिद्ध न होनेके कारण तुरीमें पटका समवाय सम्बन्ध नहीं है, किन्तु संयोग ही है, इसलिए तुरीमें-समवाय सम्बन्धसे नहीं रहनेके कारण पट उत्पन्न नहीं होता है । एवं-पट स्वगतरूपादिका समवायिकारण है । तथा-मृत्पिण्ड घटका समवायि कारण है, और घट स्वगतरूपादिका समवायि कारण है ।

नट—जिस समयमें घट आदि पैदा होते हैं, उसी समयमें उनमें रहनेवाले रूप

समानकालीनत्वाद् गुणगुणिनोः सव्येतरविषाणवत् कार्यकारणभाव एव नास्ति पौर्वापर्याभावाद्, अतो न समवायिकारणं घटादयः स्वगतरूपादीनाम् । कारणविशेषत्वात् समवायिकारणस्य ।

अत्रोच्यते । न गुणगुणिनोः समानकालीनं जन्म किन्तु द्रव्यं निर्गुणमेव प्रथममुत्पद्यते, पश्चात् तत्समवेता गुणा उत्पद्यन्ते । समानकालोत्पत्तौ तु गुणगुणिनोः समानसामग्रीकत्वाद्भेदो न स्यात् । कारण-

---

यथा वामदक्षिणविषाणयोः समानकालीनत्वेन पौर्वापर्याभावात् कार्यकारणभाव एव नास्ति, तथा गुणगुणिनोः समानकालीनत्वेन पौर्वापर्याभावात् कार्यकारणभाव एव नास्तीत्याशयेनाह—**समानेति** । कारणता हि पूर्ववृत्तित्वघटितेति भावः । ननु घटादीनां स्वगतरूपादीन्प्रति कारणत्वाभावेऽपि समवायिकारणत्वं कुतो नेत्यत आह—**कारणविशेषत्वादिति** । यत्र सामान्यतो यत्कारणत्वं न सम्भवति, तत्र विशेषतः तत्कारणत्वरूप तत्समवायिकारणत्वमपि न सम्भवति, सामान्याभावे विशेषाभावस्य नियतत्वादित्याशयः ।

परिहर्तुं प्रतिजानीते—**अत्रोच्यते इति** । परिहारमेवाह—**न गुणगुणिनोरिति** । गुणगुणिनोः जन्म समानकालीनं न, किन्तु प्रथमं निर्गुणमेव द्रव्यमुत्पद्यते इत्यन्वयः । **पश्चात्**—द्रव्योत्पत्त्यनन्तरम् । **तत्समवेताः**—द्रव्यसमवेता । गुणगुणिनोः समानकालिकोत्पत्तावापत्तिमाह—**समानेति** । गुणगुणिनोः समानकालोत्पत्तौ त्वित्यन्वयः । **समानसामग्रीकत्वादिति**—समानसमवायिकारणकत्वा-

---

आदि भी उत्पन्न होते हैं, ऐसी स्थितिमें गुण और गुणीको समानकालमें उत्पन्न होनेके कारण आपसमें पौर्वापर्यके नहीं रहनेसे उनमें कार्यकारणभाव नहीं बन सकेगा, जैसे वाम और दक्षिण शृङ्गको समानसमयमें उत्पन्न होनेके कारण परस्परमें पौर्वापर्य नहीं रहनेसे उनमें कार्यकारणभाव नहीं बनता, और ऐसी स्थितिमें घट आदिको अपनेमें रहनेवाले रूप आदिके प्रति समवायिकारण कहना युक्त नहीं है, क्योंकि समवायिकारणको भी कारणविशेष होनेके कारण-कारणमात्रमें आवश्यक जो कार्यके प्रति नियतपूर्वभाव-वह अपेक्षित है, और वह प्रकृतमें नहीं है ।

उत्तर—एककालमें गुण और गुणीकी उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु पहले द्रव्य गुण रहित ही पैदा होता है, और पीछे उनमें समवायसम्बन्धसे रहनेवाले गुण उत्पन्न होते हैं । क्योंकि यदि एककालमें गुण और गुणी की उत्पत्ति मानी जाय, तो उनको एक सामग्रीसे जन्य होनेके कारण आपसमें भेद नहीं बन सकेगा ।

भेदनियतत्वात् कार्यभेदस्य । तस्मात् प्रथमे क्षणे निर्गुण एव घट उत्पद्यते, गुणेभ्यः पूर्वभावीति भवति गुणानां समवायिकारणम् । तदा कारणभेदोऽप्यस्ति, घटो हि घटं प्रति न कारणमेकस्यैव पौर्वापर्याभावात् । न हि स एव तमेव प्रति पूर्वभावी पश्चाद्भावी चेति । स्वगुणान्

---

दित्यर्थः । तयोरित्यादि । कुत इत्यत आह—कारणभेदेति । समवायिकारणभेदेत्यर्थः । कार्यभेदस्य—गुणगुणिरूपकार्यभेदस्य । गुणगुणिनोः समानकालोत्पत्त्यभ्युपगमे यद् गुणिनो घटादेः समवायिकारणं तदेव गुणस्य रूपादेरपि समवायिकारणं वाच्यम्, न तु गुणी गुणस्य समवायिकारणं, तस्य तेन पौर्वापर्याभावात्, तथा च तयोः कपालाद्येव समवायिकारणम्, एवञ्च तयोः समानसमवायिकारणकत्वाद् भेदो न स्यात्, गुणगुणिरूपकार्यभेदे समवायिकारणभेदस्य प्रयोजकत्वादित्याशयः । नन्वत्र सामग्रीशब्दो यथाश्रुतार्थक एव कुतो नेति चेन्न, गुणगुणिनोः समानकालिकोत्पत्तिकत्वेऽपि तयोः प्रागभावादिभेदेन सामग्रीभेदात् । एवञ्च तयोः समानकालिकोत्पत्तिकत्वं समानसमवायिकारणकत्वस्यैव प्रयोजकं, न तु समानसामग्रीकत्वस्येति भावः । उपसंहरति—तस्मादिति । उत्पद्यते इति—पश्चात् क्षणे तत्र गुणा उत्पद्यन्ते । तथा च कपालं घटात्पूर्वभावीति भवति घटस्य समवायिकारणम्, एवं घट इति शेषः । अत एवाह—तदेति । तयोः भिन्नकालिकोत्पत्तिकत्वे इत्यर्थः । कारणेति—समवायिकारणेत्यर्थः । ननु तयोः भिन्नकालोत्पत्तिकत्वाभ्युपगमेऽपि समवायिकारणभेदो न सम्भवति, गुणम्प्रति समवायिकारणीभूतस्य घटस्यैव घटम्प्रति समवायिकारणत्वाभ्युपगमादित्यत आह—घटो हीति । कारणम्—समवायिकारणम् । कुत इत्यत आह—एकस्यैवेति । एकापेक्ष्येति शेषः । एकस्यैव ( एकापेक्षया ) पौर्वापर्याभावः कुत इत्यत आह—न हीति । हि—

---

क्योंकि कारणोंमें परस्पर भेद रहनेपर ही कार्योंमें परस्पर भेद होता है। इसलिये यही मानना चाहिये कि पहले क्षणमें घट निर्गुण ही पैदा होता है, और दूसरे क्षणमें उसके गुण उत्पन्न होते हैं। ऐसी स्थितिमें घट स्ववृत्तिगुणोंसे पहले होनेके कारण उनका समवायिकारण हो सकता है, इसलिये घटके कारणोंका और घटके गुणोंके कारणोंमें भेद रहनेके कारण उनमें परस्पर भेद भी होता है, क्योंकि किसी भी वस्तुमें अपने प्रति पूर्वत्व और परत्व नहीं हो सकनेके कारण घट घटके प्रति कारण नहीं होता है। अर्थात् घट स्ववृत्तिगुणोंके प्रति समवायिकारण है, और

प्रति तु पूर्वभावित्वाद्भवति गुणानां समवायिकारणम्।

नन्वेवं सति प्रथमे क्षणे घटोऽचाक्षुषः स्याद्, अरूपिद्रव्यत्वाद् वायुवत्। तदेव हि द्रव्यं चाक्षुषं, यन्महत्त्वे सत्युद्भूतरूपवत्। अद्रव्यं च स्यात्, गुणाश्रयत्वाभावात्। 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' इति हि द्रव्यलक्षणम्।

---

यतः। कारणत्वाभिप्रायेणाह—**पूर्वभावीति**। कार्यत्वाभिप्रायेणाह—**पश्चाद्भावी चेति**। सम्भवतीति शेषः। नन्वेवं यदि घट॰ स्वम्प्रति समवायिकारणं न भवति, तर्हि स स्वगुणान् प्रति समवायिकारणं कथं भवतीत्यत आह—**स्वगुणान् प्रतीति**। घट इत्यादिः। **गुणानाम्**—स्वगुणानाम्।

**एवं सति**—प्रथमे क्षणे निर्गुण एव घट उत्पद्यते, पश्चात् क्षणे च तत्र गुणा उत्पद्यन्ते इत्यभ्युपगते सति। **प्रथमे क्षणे घटः**—प्रथमक्षणावच्छिन्नघटः। **अचाक्षुषः**—चक्षुर्जन्यज्ञानाविषयः। कुत इत्यत आह—**अरूपिद्रव्यत्वादिति**। अत्र द्रव्यत्वादित्येतावन्मात्रोक्तौ द्वितीयादिक्षणावच्छिन्नसगुणघटादौ व्यभिचार इत्यत उक्तमरूपीति। एवमरूपित्वादित्येतावन्मात्रोक्तौ रूपादौ व्यभिचार इत्यत उक्तं द्रव्यत्वादिति। तत्र दृष्टान्तमाह—**वायुवदिति**। तत्राचाक्षुषत्वापत्तिं द्रढयितुं यस्य द्रव्यचाक्षुषत्वप्रयोजकस्याभावात्तत्र चाक्षुषत्वाभाव आपद्यते तदाह—**तदेवेति**। **हि**—यतः। उद्भूतरूपवत्त्वमात्रस्य द्रव्यचाक्षुषत्वप्रयोजकत्वे परमाण्वादेरपि चाक्षुषत्वापत्तिरित्यत आह—**महत्त्वे सतीति**। एवं महत्त्वमात्रस्य तत्प्रयोजकत्वे कालादेरपि चाक्षुषत्वमापद्येतेत्यत आह—**उद्भूतरूपवदिति**। तत्र महत्त्वे सति रूपवत्त्वमात्रस्य तत्प्रयोजकत्वे तप्ततैलस्थवह्न्यादेश्चाक्षुषत्वापत्तिरित्यत उक्तम्—उद्भूतेति। एवमाद्यक्षणावच्छिन्नघटस्य निर्गुणत्वे तत्राचाक्षुषत्वापत्तिम्प्रतिपाद्य अद्रव्यत्वापत्तिमाह—**अद्रव्यं चेति**। कुत इत्यत आह—**गुणाश्रयत्वेति**। तत्राद्रव्यत्वापत्तिं द्रढयितुं द्रव्यलक्षणमाह—**गुणाश्रय इति**। **हि**—यतः।

---

अपने प्रति कारण नहीं है, इसलिये घटके कारणोंसे घटवृत्तिगुणोंके कारणोंका भिन्न होना अनिवार्य है, इसलिये घटसे घटवृत्तिगुणोंके भिन्न होनेमें कोई बाधा नहीं होती है।

ननु—प्रथम क्षणमें घट निर्गुण ही पैदा होता है, और द्वितीय क्षणमें उसके गुण उत्पन्न होते हैं, ऐसा माननेपर प्रथम क्षणमें घट वायुके समान रूपरहित द्रव्य

सत्यम् । प्रथमे क्षणे घटो यदि चक्षुषा न गृह्यते, तदा का नो हानिः । न हि सगुणोत्पत्तिपक्षेऽपि निमेषावसरे घटो गृह्यते । तेन व्यवस्थितमेतन्निर्गुण एव प्रथमं घट उत्पद्यते द्वितीयादिक्षणेषु चक्षुषा गृह्यते, न च प्रथमे क्षणे गुणाश्रयत्वाभावादद्रव्यत्वापत्तिः । 'समवा-

---

तथा सति तत्रापादितयोरचाक्षुषत्वाद्रव्यत्वयोः परिहारायोपक्रमते—सत्यमिति । तत्राद्यमिष्टापत्त्या परिहरति—प्रथमे इति । नः—अस्माकम् ( प्रथमक्षणावच्छिन्नद्रव्यस्य निर्गुणत्वादिवादिनाम् ) । अर्थात् न कापि हानिरित्याशयः । कुत इत्यत आह—न हीति । हि—यतः । निमेषावसरे—प्रथमक्षणे । विषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षम्प्रति तादात्म्येन विषयस्य कारणत्वात्, कारणत्वस्य नियतपूर्ववृत्तित्वघटितत्वाच्चेति भावः । व्यवस्थितम्—सर्वत्रस्थितम् । एतत्पदनिर्देश्यमाह—निर्गुण इति । प्रथमं ( प्रथमक्षणे ) घटः निर्गुण एवोत्पद्यते, द्वितीयादिक्षणेषु ( तु सगुणत्वात् ) चक्षुषा गृह्यते ( इति ) इत्यन्वयः । ननु द्वितीयक्षणे घटे रूपाद्युत्पत्तावपि स चक्षुषा न गृह्येत, तेन तद्ग्रहणे उद्भूतरूपादेः कारणत्वात् कारणत्वस्य च नियतपूर्ववृत्तित्वघटितत्वादिति प्रकृतग्रन्थो न सङ्गच्छते इति चेन्न, द्वितीयादीत्यत्रातद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणा तृतीयादि ( क्षण ) ग्रहणेन सामञ्जस्यात् । तत्र द्वितीयं परिहरति—नच प्रथमे क्षणे इति । घटे इति शेषः । कुत इत्यत आह—समवायिकारणमिति । ननु द्रव्यस्यैवंलक्षणाभ्युपगमेऽपि प्रथमे क्षणे तत्र जातिसमवायित्वस्य सत्त्वेऽपि गुणादिसमवायित्वे सति कारणत्वस्यासत्त्वादद्रव्यत्वापत्तिस्तदवस्थैवेत्यत

---

होनेके कारण चक्षुसे ज्ञात नहीं हो सकेगा, क्योंकि वही द्रव्य चाक्षुष होता है, जो महत्त्वाश्रय होता हुआ उद्भूतरूपवाला हो । एवं पहले क्षणमें घट गुणाश्रय न होनेके कारण द्रव्य भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि गुणाश्रय होना ही द्रव्यका लक्षण है ।

उत्तर—यदि प्रथम क्षणमें घट चक्षुसे ज्ञात नहीं होता है, तो भी हमारी कोई हानि नहीं है, क्योंकि आपके-'गुणसहित ही घट पैदा होता है' इस पक्षमें भी अपनी उत्पत्तिके क्षणमें उसका चक्षुसे ज्ञान नहीं होता है । इससे फलित यह हुआ कि प्रथम क्षणमें घट निर्गुण ही पैदा होता है, तथा द्वितीय क्षणमें उसके गुण उत्पन्न होते हैं, और तृतीय आदि क्षणमें घट चक्षुसे ज्ञात होता है । ऐसी स्थितिमें-प्रथम क्षणमें घट गुणाश्रय न होनेके कारण द्रव्य न हो सकेगा, यह आपत्ति भी नहीं होती है, क्योंकि उस समयमें भी घटमें-द्रव्यका लक्षण-समवायिकारणत्व, विद्यमान है, और प्रागभावके साथ अत्यन्ताभावका विरोध रहनेके कारण उस समयमें वहाँ

यिकारणं द्रव्यम्' इति द्रव्यलक्षणयोगात् । योग्यतया गुणाश्रयत्वाच्च । **योग्यता च गुणात्यन्ताभावाभावः ।**

**असमवायिकारणं** तदुच्यते । यत्समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृत-

---

आह—**योग्यतयेति** । प्राचीनमते अत्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनेव ध्वंसप्रागभावाभ्यामपि विरोधात् तत्र गुणप्रागभावसत्त्वेन तदत्यन्ताभावो न सम्भवतीत्याशयः । केचित्तु प्राचीनमते ध्वंसम्प्रागभावं वाऽत्यन्ताभावं वाऽवगाहमाना प्रतीतिः 'नास्ती'त्याकारमेव भजते, अतः यदि ध्वंसप्रागभावयोरधिकरणे अत्यन्ताभावोऽपि तिष्ठेत्तर्हि सर्वत्र नास्तीत्याकारिका प्रतीतिरत्यन्ताभावमेव विषयीकृत्योपपद्येतेति ध्वंसम्प्रागभावं वाऽवगाहमाना तदाकारा प्रतीतिरुच्छिद्येतेति अत्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनेव ध्वंसप्रागभावाभ्यामपि विरोधोऽभ्युपगन्तव्य. । नवीनमते तु ध्वंसावगाहिनी प्रतीतिः नश्यतीत्याद्याकारा, एवं प्रागभावावगाहिनी प्रतीतिः भविष्यतीत्याकारा, तथाऽत्यन्ताभावावगाहिनी प्रतीतिः नास्तीत्याकारा भवतीति ध्वंसप्रागभावयोरधिकरणेऽत्यन्ताभावस्य सत्त्वेऽपि न काचन क्षतिरिति वदन्ति ॥

असमवायिकारणं लक्षयितुं प्रतिजानीते—**असमवायिकारणमिति** । यदित्यादिः । असमवायिकारणं लक्षयति—**यदिति** । तत्र यदवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणमित्येतावन्मात्रोक्तौ तन्त्वादौ पटाद्यसमवायिकारणत्वापत्तिरित्यत आह—**समवायिकारणप्रत्यासन्नमिति** । समवायिकारणे प्रत्यासन्नं वर्त्तमानमित्यर्थः । एवन्तत्र यत् समवायिकारणप्रत्यासन्नं तदसमवायिकारणमित्येतावन्मात्रोक्तौ तन्तुरूपादौ पटाद्यसमवायिकारणत्वापत्तिरित्यत आह—**अवधृतसामर्थ्यमिति** । अवधृतं ( निश्चितं ) सामर्थ्यं ( कारणत्वं ) यस्य, तदवधृतसामर्थ्यमिति व्युत्पत्तिः । नन्वेवमपि आत्मविशेषगुणेषु असमवायिकारणत्वापत्तिरिति चेन्न, तत्र तदापत्तिवारणाय असमवायिकारणलक्षणे ज्ञानादिभिन्नत्वस्य निवेशनीयत्वात् । न चात्मविशेषगुणानामप्यसमवायिकारणत्वं भवत्विति वाच्यम्, नीलतन्तुभ्यो रक्तपटोत्पत्तिवारणाय विशेषगुणाना स्वसजातीयविशेषगुणासमवायिकारणकत्वनियमाभ्युपगमेन ज्ञानादीनामिच्छादिकम्प्रति साजात्याभावेनासमवायिकारणत्वासम्भवात् । साजात्यमत्र स्ववृत्ति-

---

गुणप्रागभावके रहनेसे गुणात्यन्ताभावके नहीं रहनेके कारण गुणात्यन्ताभावाभाववत्त्वरूपगुणाश्रयत्व भी रह सकता है ।

असमवायि—जो समवायिकारणमें प्रत्यासन्न होता हुआ कार्यका कारण हो, वह

सामर्थ्यं तदसमवायिकारणम् । यथा तन्तुसंयोगः पटस्याऽसमवायिकारणम् । तन्तुसंयोगस्य पटसमवायिकारणेषु तन्तुषु गुणिषु समवेतत्वेन समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वादनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वेन पटं प्रति कारणत्वाच्च ।

एवं तन्तुरूपं पटरूपस्य असमवायिकारणम् ।

ननु पटरूपस्य पटः समवायिकारणम् । तेन तद्गतस्यैव कस्यचिद्धर्मस्य पटरूपं प्रति असमवायिकारणत्वमुचितम् । तस्यैव समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात् न तन्तुरूपस्य, तस्य समवायिकारणप्रत्यासत्त्यभावात् ।

---

यावज्जातिमत्त्वेन । वस्तुतस्तु शास्त्रकाराणां व्यवहारानुसारेण असमवायिकारणानां कार्यसहभावेनैव कारणतेति सिद्धान्तः । तथा चात्मविशेषगुणानामसमवायिकारणत्वे विनश्यदवस्थपरामर्शादनुमितिर्नोपपद्येतेति तेषां तत्त्वं नास्तीत्याकलनीयम् । तदुदाहरति—यथेति । तन्तुसंयोगे पटासमवायिकारणत्वमुपपादयति—तन्तुसंयोगस्येति । समवायिकारणेति—पटेत्यादिः । अनन्यथासिद्धेति—पटादित्यादिः ।

तस्योदाहरणान्तरमाह—एवमिति ।

तद्गतस्यैव—पटगतस्यैव । किञ्चित्कार्यम्प्रति किञ्चिदेकमेव ( समवायिकारणं वा ) असमवायिकारणं भवतीत्याशयेनाह—कस्यचिदिति । कुत इत्यत आह—तस्यैवेति । पटगतस्य कस्यचिद्धर्मस्यैवेत्यर्थः । समवायिकारणेति-पटरूपसमवायिकारणपटेत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । एवव्यवच्छेद्यमाह—न तन्तुरूपस्येति । कुत इत्यत आह—तस्येति । तन्तुरूपस्येत्यर्थः ।

---

असमवायिकारण कहलाता है । अर्थात् जो जिस कार्यके समवायिकारणमें प्रत्यासन्न होताहुआ उस कार्यका कारण हो, वह उस कार्यका असमवायिकारण होता है । जैसे-तन्तुओंमें परस्परका संयोग पटके समवायिकारण तन्तुओंमें समवायसम्बन्धसे प्रत्यासन्न होता हुआ, पटका, ( पटके प्रति अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभाववाला होनेके कारण ) कारण है, इसलिये वह पटका असमवायिकारण है । एवं तन्तुका रूप पटके रूपका असमवायि कारण होता है ।

ननु—पटरूपका समवायि कारण पट है, इसलिये पटमें प्रत्यासन्न कोई अन्य वस्तु ही पटरूपके प्रति असमवायि कारण होनी चाहिये, न कि तन्तुरूप, क्योंकि वह पटरूपके समवायिकारण पटमें प्रत्यासन्न नहीं है ।

मैवम् । तत्समवायिकारणसमवायिकारणप्रत्यासन्नस्यापि परंपरया समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात् ।

निमित्तकारणं तदुच्यते । यन्न समवायिकारणं, नाप्यसम-

तत्समवायिकारणेति—तस्य पटरूपस्य समवायिकारण पटः, तस्य समवायिकारणं तन्तुः, तत्र प्रत्यासन्नस्य विद्यमानस्यापि तन्तुरूपस्य परम्परया स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन समवायिकारणे पटरूपसमवायिकारणपटे प्रत्यासन्नत्वात् वर्त्तमानत्वादित्यर्थः । तथा च द्विरुक्तासमवायिकारणद्वयसङ्ग्रहाय समवाय, स्वसमवायिसमवेतत्वान्यतरसम्बन्धेन समवायिकारणे प्रत्यासन्नता विवक्षणीयेत्याशयः । अत्र समवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वं द्विविध, कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या, कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या च । तत्राद्यं यथा पटासमवायिकारणस्य तन्तुसंयोगस्य स्वकार्येण पटेन सहैकस्मिन् तन्तुरूपेऽर्थे प्रत्यासत्त्या । एवं द्वितीयं यथा पटरूपासमवायिकारणस्य तन्तुरूपस्य पटरूपसमवायिकारणपटेन सहैकस्मिन् तन्तुलक्षणेऽर्थे प्रत्यासत्त्या । केचित्तु तदुभय प्रत्यासत्त्योः कार्य ( समवायि ) कारणभावरूपसम्बन्धनिरूपकसम्बन्ध्येकार्थप्रत्यासत्तित्वेनानुगमः । यथैकत्र तादृशसम्बन्धिनौ तन्तुपटौ तयोर्मध्ये कार्येण पटेन सहैकत्र तन्तुरूपेऽर्थे तन्तुसंयोगस्य प्रत्यासत्तिः । एवं यथाऽपरत्र तादृशसम्बन्धिनौ पटतद्गतरूपे तयोर्मध्ये कारणेन पटेन सहैकत्र तन्तुलक्षणेऽर्थे तन्तुरूपस्य प्रत्यासत्तिरिति वदन्ति ।

निमित्तकारणं लक्षयितुं प्रतिजानीते—निमित्तकारणमिति । यदित्यादिः । निमित्तकारणं लक्षयति—यन्नेति । स्वसमवायिकारणस्वासमवायिकारणभिन्नत्वे सति स्वकारणत्वं स्वनिमित्तकारणत्वमित्यर्थः । तत्र तत्रातिव्याप्तिवारणायात्र तत्तद्भिन्नत्व-

उत्तर—पटरूप-समवायिकारण-पटके समवायिकारण-तन्तुमें समवायसम्बन्धसे प्रत्यासन्न तन्तुरूपको पटरूपके समवायिकारण पटमें ( समवाय सम्बन्धसे प्रत्यासन्न न होने पर भी ) स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्धसे प्रत्यासन्न होनेके कारण उसको पटरूपके प्रति असमवायि कारण कहना उचित ही है । प्रकृत में-स्व-तन्तुरूप, उसका समवायी-तन्तु, उसमें समवेत-पट, इस तरहसे स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धका समन्वय समझना चाहिये ।

निमित्त—समवायिकारण और असमवायिकारणसे भिन्न जो कारण, वह निमित्तकारण है । अर्थात् जिस कार्यके समवायि कारण और असमवायिकारणसे भिन्न जो उस कार्यका कारण, वह उस कार्यका निमित्तकारण होता है जैसे-पटके

वायिकारणम्, अथ च कारणं तत् निमित्तकारणम्। यथा वेमादिकं पटस्य निमित्तकारणम्।

तदेतद्भावानामेव त्रिविधं कारणम्; अभावस्य तु निमित्तमात्रं, तस्य क्वचिदप्यसमवायात्। समवायस्य तु भावद्वयधर्मत्वात्।

तदेतस्य त्रिविधस्य कारणस्य मध्ये, यदेव कथमपि सातिशयं तदेव करणम्। तेन व्यवस्थितमेतल्लक्षणं प्रमाकरणं प्रमाणमिति।

यत्तु अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमिति लक्षणम्। तन्न। एकस्मिन्नेव

---

निवेशः। तदुदाहरति—यथेति। नन्वेवं ध्वंसस्य असमवायिकारणादेरप्रसिद्ध्या तदीयनिमित्तकारणेऽव्याप्तिरिति चेन्न, समवायिकारणतात्व-असमवायिकारणतात्वान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववत्त्वे कारणतावत्त्वं स्वनिमित्तकारणत्वमित्यभ्युपगमात्॥

अभावस्येति—ध्वंसस्येत्यर्थः। अत्यन्ताभावान्योन्याभावयोर्नित्यत्वात्, प्रागभावस्य चानादित्वात् तेषां सकारणत्वासम्भवात्। निमित्तेति-निमित्तकारणेत्यर्थः। कुत इत्यत आह—तस्येति। अभावस्येत्यर्थः। ननु तस्य क्वचिदपि समवायः कुतो नेत्यत आह—समवायस्येति।

सातिशयम्—व्यापारवदसाधारणकारणम्। कार्यमात्रम्प्रति कारणं साधारणकारणम्। एवं तत्तत्कार्यम्प्रति कारणम् असाधारणकारणमिति बोध्यम्। फलितमाह—तेनेति। प्रमाणस्येति शेषः। एतत्पदनिर्देश्यमाह—प्रमाकरणमिति।

भाट्टाभिमतं प्रमाणलक्षणं खण्डयितुमुपन्यस्यति—यत्त्विति। यथार्थज्ञानं द्विविधं

---

समवायिकारण तन्तुसे और असमवायिकारण तन्तुसंयोगसे भिन्न-तुरी, वेमा आदि पटका कारण है, इसलिये वह पटके प्रति निमित्त कारण होता है।

तदेतद्—ये तीनों कारण भावोंके ही होते हैं, क्योंकि समवायको भावद्वयका सम्बन्ध होनेके कारण अभावका कहीं भी समवाय न रहनेसे उसका केवल निमित्तकारण ही होता है, अर्थात् उसके समवायिकारण और असमवायिकारण नहीं होते हैं।

तदेतस्य—इन तीनों कारणोंके मध्यमें जो सातिशय होता है, वही करण है। इससे यह फलित हुआ कि-प्रमाका जो करण, वही प्रमाण है।

यत्तु—कोई दार्शनिक कहते हैं कि-अज्ञातविषयक जो यथार्थज्ञान वह प्रमा है, और उसका जो करण वह प्रमाण है। किन्तु ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा

घटे 'घटोऽयं, घटोऽयम्' इति धारावाहिकज्ञानानां गृहीतग्राहिणामप्रामाण्यप्रसङ्गात् ।

न च अन्यान्यक्षणविशिष्टविषयीकरणादनधिगतार्थगन्तृता । प्रत्य-

---

स्मृत्यनुभवभेदात् । तत्र प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदाच्चतुर्विधोऽनुभव एव प्रमा, न तु स्मृतिरेकविधा । तथा च अज्ञातविषयकयथार्थज्ञानं प्रमा, तत्करणं प्रमाणमित्याशयेनाह—**अनधिगतेति** । अनधिगतश्चासौ अर्थः अनधिगतार्थः, तस्य गन्तृ ( बोधकम्, अन्तर्भावितण्यर्थत्वात् ) अनधिगतार्थगन्त्रिति व्युत्पत्तिः । ननु गन्तृशब्दस्य तृन्नन्तत्वे "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनामि"ति सूत्रेण षष्ठीनिषेधात् तत्समासानुपपत्तिः, तस्य तृजन्तत्वे च "तृजकाभ्यां कर्त्तरी"ति सूत्रेण षष्ठीसमासस्यैव निषेध इति चेन्न, "न लोकाव्यये"ति सूत्रेण कृद्योगलक्षणषष्ठीनिषेधस्य, "तृजकाभ्यामि"ति सूत्रेण च कृद्योगलक्षणषष्ठीसमासनिषेधस्याभ्युपगमात् प्रकृते शेषलक्षणषष्ठ्याः समासे बाधाभावेनोभयथापि सामञ्जस्यात् । **लक्षणमिति**—प्रमाणस्येत्यादिः । तत् खण्डयति—**तन्नेति** । युक्तमिति शेषः । कुत इत्यत आह—**एकस्मिन्निति** । तथा सतीत्यादिः । **घटे इति**—अत्र विषयार्थे सप्तमी । **इति**—इत्याकारकाणाम् । **धारावाहिकज्ञानानामिति**—धारया वोढुं शीलमेषामिति धारावाहीनि, तान्येव धारावाहिकानि ( स्वार्थे कविधानात् ), तानि च ज्ञानानि धारावाहिकज्ञानानि तेषामित्यर्थः । हेतुगर्भविशेषणेन तानि विशिनष्टि—**गृहीतग्राहिणामिति** । **अप्रामाण्येति**—अप्रमात्वेत्यर्थः । तथा च तत्करणे प्रमाणत्वं नोपपद्येतेत्याशयः ।

विशेषणानां भेदेन विशिष्टस्यापि भेदात् तत्तत्क्षणविशिष्टघटविषयकतादृशज्ञानानां गृहीतग्राहित्वाभावादप्रमात्वं, तत्करणेऽप्रमाणत्वञ्च नापद्यते इत्याशङ्कामुत्थाप्य निराचष्टे—**नचेति** । तादृशज्ञानानामिति शेषः । **विशिष्टेति**—घटेति शेषः ।

---

कहने पर-एक ही घड़े में जो 'घटोऽयम्' इत्याकारक, धाराप्रवाह न्यायसे होनेवाले ज्ञातविषयक ज्ञान हैं उनमें प्रमात्व न हो सकेगा, और उनके जो करण हैं उनमें प्रामाण्य न हो सकेगा ।

इस पर यदि वे कहें कि-धाराप्रवाहन्यायसे होने वाले 'यह घड़ा है' इत्याकारक ज्ञानोंके स्थलमें प्रथम ज्ञान प्रथमक्षणविशिष्ट घटको, एवं द्वितीय ज्ञान द्वितीयक्षणविशिष्ट घटको विषय करता है, इसलिये उनको प्रमा, एवम् उनके करणोंको प्रमाण होनेमें कोई बाधा नहीं है, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि

न्द्रियेण सूक्ष्मकालभेदानाकलनात्। कालभेदाग्रहे हि क्रियादि—संयोगान्तानां चतुर्णां यौगपद्याभिमानो न स्यात्। क्रिया, क्रियातो विभागो, विभागात् पूर्वसंयोगनाशस्ततश्चोत्तरसंयोगोत्पत्तिरिति।

---

करणादिति—प्रमात्वं, तथा तत्करणे इति शेषः। कुत इत्यत आह—प्रत्यक्षेणेति। इन्द्रियेणेत्यर्थः। सूक्ष्मेति—सूक्ष्माः ये कालानां भेदाः विशेषाः, तेषामनाकलनात् ज्ञानाजननादित्यर्थः। इदमेव कुत इत्यत आह—कालेति। तेन सूक्ष्मेत्यादिः। हि—यतः। यौगपद्याभिमानः—यथा कमलेन कमलदलशतं युगपदेव भिन्नमिति लोकसिद्धाभिमानः। क्रियादिसंयोगान्तान् चतुरो दर्शयति—क्रियेति। एक एव कालः उपाधिभेदात् क्षणादिव्यवहारविषयो भवति। तत्रोपाधिः स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नं कर्म, पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागो वा, पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रागभावो वा, उत्तरसंयोगावच्छिन्ना क्रिया वा। नचोत्तरसंयोगानन्तरं क्रियानाशेन क्षणव्यवहारो न स्यादिति वाच्यं, कर्मान्तरस्यापि सत्त्वात्। तथा च प्रथमोपाधिकः कालः प्रथमक्षण इत्यादिरीत्या क्षणादयो ज्ञेयाः। प्रतिक्षणं क्रियोत्पत्तौ मानाभावाद् द्वितीयाद्युपाधयो दर्शिताः। वस्तुतस्तु द्रव्यप्रत्यक्षमात्रस्यापि रूपादिचक्षुर्ग्राह्यगुणवत्त्वस्य कारणत्वात् कालस्य प्रत्यक्षं न भवति, यदीदानीं वेश्या नृत्यतीत्यादिप्रतीत्या कालस्य प्रत्यक्षमभ्युपगम्येत, तर्हि गगने बलाका विचरन्तीत्यादिप्रतीत्या गगनप्रत्यक्षस्याप्यभ्युपगम्यता आपद्येतेति भावः। नन्वेवं धारावाहिकज्ञानस्थले द्वितीयक्षणे भासि यद् ज्ञानं, तत् प्रत्यक्षमेव कुतो नोच्यते अप्रमात्वादिति चेन्न, तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्याम् उत्पत्तिमात्रस्यापि पूर्वपूर्वज्ञानस्य कारणताया अभ्युपगमात् पूर्वक्षणे कारणसत्त्वेनोत्तरज्ञानस्योत्पत्तिसम्भवात्।

---

कोई भी ज्ञान इन्द्रियके सहारे सूक्ष्म समयको विषय ही नहीं कर सकता है। यदि कोई ज्ञान इन्द्रियके सहारे सूक्ष्म समयको विषय करे, तब क्रमसे चार क्षणोंमें होनेवाले-क्रिया, क्रियासे विभाग, विभागसे पूर्वसंयोगनाश, और तब उत्तरदेश-संयोग-इन चारोंमें होनेवाला जो एककालावच्छिन्नत्वका भान है वह उपपन्न नहीं हो सकेगा।

यहाँ कोई दार्शनिक कहते हैं कि-अबाधितविषयक जो ज्ञान वह प्रमा है, और उसका जो करण वह प्रमाण है। किन्तु ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा कहने पर कहीं भ्रम भी प्रमा हो जायगा। जैसे-जो पुरुषको 'यह दक्षिण है' ऐसा समझनेके बाद 'यह दक्षिण नहीं है, किन्तु पूरब है' ऐसा नहीं समझ सका,

ननु प्रमायाः कारणानि बहूनि सन्ति प्रमातृ–प्रमेयादीनि, तान्यपि किं करणानि उत नेति ।

उच्यते । सत्यपि प्रमातरि प्रमेये च प्रमानुत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादौ सति अविलम्बेन प्रमोत्पत्तेरत इन्द्रियसंयोगादिरेव करणम् । प्रमायाः साधकत्वाविशेषेऽप्यनेनैवोत्कर्षेणाऽस्य प्रमात्रादिभ्योऽतिशयितत्वादतिशयितं साधकं साधकतमं तदेव करणमित्युक्तम् । अत इन्द्रियसंयोगादिरेव प्रमाकरणत्वात् प्रमाणं, न प्रमात्रादि ।

---

अथात्ममनोयोगरूपव्यापारस्य प्रमातरि, तथा विषयेन्द्रिययोगरूपव्यापारस्य प्रमेये सत्वात् व्यापारवत्वाविशेषेण करणे कर्तृकर्मवैलक्षण्यस्य दुर्ज्ञेयत्वात् सन्दिहानः पृच्छति—नन्विति । करणानीति—प्रमाया इत्यादिः । एवमग्रेऽपि ।

समाधातुं प्रतिजानीते—उच्यते इति । उत्तरयति—सत्यपीति । यतः प्रमास्थले इत्यादिः । प्रमेये चेति—इन्द्रियसंयोगादिमन्तरेणेति शेषः । प्रमानुत्पत्तेरिति—सत्तेति शेषः । एवमग्रेऽपि । सतीति—चेत्यादिः । इन्द्रियसंयोगादिरिति—इन्द्रियञ्च संयोगश्च इन्द्रियसंयोगौ, तावादी यस्य स इन्द्रियसंयोगादिरिति व्युत्पत्तिः । आदिना च निर्विकल्पकज्ञानादिपरिग्रहः । प्रमात्रादिनिरासायाह—एवेति । प्रमात्रादौ प्रमाकरणता न सम्भवति, किन्तु अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिन्द्रियादौ सोपपद्यते इति भावः । ननु प्रमाकारणत्वानुरोधात् प्रमात्रादावपि तदन्वयव्यतिरेकौ स्त एवेत्यत आह—प्रमाया इति । तत्र तत्रेत्यादि । अनेनैव—स्वोत्तरकालेऽवश्यं प्रमोत्पादकत्वरूपेणैव । अस्य—इन्द्रियसंयोगादेः । अतिशयितमिति—यदित्यादिः । तदेवेति—साधकतममेवेत्यर्थः । चेति शेषः एवन्यवच्छेद्यं स्पष्टयति—न प्रमात्रादीति । प्रत्यक्षमात्रं प्रमाणमिति चार्वाकाः । प्रत्यक्षा-

---

उसका जो 'यह दक्षिण है' ऐसा ज्ञान है वह अबाधितविषयक होनेके कारण प्रमा हो जायगा ।

ननु—प्रमाके प्रति-प्रमाता, प्रमेय, इन्द्रिय, और इन्द्रिय-विषयसयोग आदि अनेक कारणोंके मध्यमें क्या सब उसके प्रति करण हैं, अथवा नहीं ?

उत्तर—जहां प्रमाता और प्रमेयके रहने पर भी प्रमाकी उत्पत्ति नहीं होती है, वहीं इन्द्रियविषयसंयोग आदिके होने पर शीघ्र ही प्रमाकी उत्पत्ति हो जाती है। इसलिये प्रमाता आदिमें प्रमाके प्रति कारणत्वको समानरूपसे रहने पर भी विप-

तानि च प्रमाणानि चत्वारि । तथा च न्यायसूत्रम्—

प्रत्यक्ष–अनुमान–उपमान–शब्दाः प्रमाणानि इति ।

( गौ. न्या. सू. १–१–३ )

प्रत्यक्षम् ।

६. किं पुनः प्रत्यक्षम् ?

---

नुमाने एव प्रमाणे इति काणादसुगता । शब्दसहिते ते एव प्रमाणे इति कपिला. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा एव प्रमाणानीति गौतमाः । अर्थापत्त्या सह त एव प्रमाणानीति प्रभाकराः । अनुपलब्धिपष्ठानि तान्येव प्रमाणानीति भाट्टवेदान्तिन । सम्भवैतिह्यसहितानि तान्येव ( अष्ट ) प्रमाणानीति पौराणिकाः । चेष्टया सह तानि ( नव ) प्रमाणानीत्यालङ्कारिका ।

एवम् प्रमाणाल्पत्वबहुत्वयो. वादिनाम् विप्रतिपत्तावपि नैयायिकमते चत्वार्येव प्रमाणानीत्याशयेन प्रमाणाना सामान्यलक्षणे सप्रपञ्चमुपपादिते विशेषलक्षणान्यभिधातुं तानि विभजते—**तानीति** । प्रमाकरणत्वरूपलक्षणेन लक्षितानीत्यर्थ । तेषाम् चतुरो भेदान् गौतमोऽपि समर्थयतीत्याशयेन प्रकृते तस्य सूत्रमुद्धरति—**तथा चेति** । अभिमतचतुष्प्रकारकप्रमाणाना विभाजकेन प्रकृतसूत्रेण विभागस्य न्यूनाधिकसंख्याव्यवच्छेदकत्वात् तानि चत्वार्येव प्रमाणानि तदभिमतानीति फलति । तत्रस्वभिन्नप्रमाणमूलत्वेन ज्येष्ठत्वात्, सर्ववाद्यभिमतत्वाच्च प्रथमं प्रत्यक्षस्य, ततः प्रत्यक्षोपजीवकत्वाद् बहुवादिसम्मतत्वाच्चानुमानस्य, ततः शक्तिग्राहकत्वेन शाब्दबोधोपयोगित्वात्, प्रत्यक्षज्ञानरूपत्वाच्चोपमानस्य, तत. परिशेषाच्छब्दस्योद्देश कृतः ।

तत्र यथोद्देशक्रमं प्रत्यक्षस्य लक्षणन्तावत् पृच्छति—**किमिति** । किंलक्षणकमित्यर्थ । **पुनरिति**—वाक्यालङ्कारे । **प्रत्यक्षमिति**—अस्य अक्षमक्षि प्रति

---

येन्द्रियसंयोग आदिमें 'झटिति प्रमोत्पादकत्वरूप' उत्कर्ष रहनेके कारण विषयेन्द्रियसंयोग आदि ही प्रमाके प्रति करण होता है, न कि प्रमाता आदि । क्योंकि सातिशय जो कारण वही करण कहलाता है ।

तानि च—वे प्रमाण-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्दके भेदसे चार प्रकारके हैं । इसलिये न्यायसूत्रकार गौतम लिखते हैं कि—प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ।

प्रश्न—प्रत्यक्ष ( प्रमाण ) कौन है ?

साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम् । साक्षात्कारिणी च प्रमा, सा एवोच्यते या इन्द्रियजा । सा च द्विधा सविकल्पक-निर्विकल्पक-

---

( प्रत्यक्षम् ) इति व्युत्पत्तौ वीप्सार्थे "अव्ययं विभक्ती"त्यादिनाऽव्ययीभावसमासे "प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः" इत्यनेन टचि सुबादौ निष्पत्तिः । नन्वेव प्रत्यक्षः कुमारः, प्रत्यक्षा च कुमारीत्यादिप्रयोगानुपपत्तिरिति चेन्न, तत्र "अर्श आदिभ्योऽजि"ति विहिताजन्तताया अभ्युपगमेन सामञ्जस्यात् । केचित्तु प्रतिगतमक्षम् । ( प्रत्यक्षम् ) इति व्युत्पत्तौ "कुगतिप्रादयः" इत्यनेन तत्पुरुषसमासे "परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः" इत्यनेन परवल्लिङ्गतायाः प्राप्तौ "द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु ने"त्यनेन तस्याः प्रतिषेधात् तस्य निष्पत्तिं विशेष्यलिङ्गताञ्चोपपादयन्तः कमलादौ पङ्कजादिशब्दस्येव चक्षुरादौ वृत्तिमभ्युपगच्छन्ति ॥

प्रत्यक्षस्य लक्षणमभिधत्ते—**साक्षात्कारीति** । साक्षात्कारिणी चासौ प्रमा ( साक्षात्कारिप्रमा ) इति विग्रहे कर्मधारयसमासे "स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ्" इत्यादिना पुंवद्भावः । तथा तस्याः करणं तादृशमिति व्युत्पत्तिः । ननु साक्षात्कारिणी प्रमा केत्यत आह—**साक्षात्कारिणी चेति । इन्द्रियजेति** । प्रमेति शेषः । अत्रेन्द्रियजता इन्द्रियत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतारूपा विवक्षणीया । तेन मनस्त्वेन मनोरूपेन्द्रियजन्यायामनुमित्यादौ न साक्षात्कारिप्रमात्वापत्तिः । तस्याः भेदमाह—**सा चेति** । साक्षात्कारिणी प्रमा चेत्यर्थः । कुत इत्यत आह—**सविकल्पकेति** । सप्रकारकेत्यर्थः । सर्वव्यवहाराणां साक्षान्निदानत्वेन प्रधानत्वात् सविकल्पिकायास्तस्याः प्रथमं निर्देशः । तेषां परम्परया कारणत्वेन गौणत्वात् निर्विकल्पिकां तां पश्चान्निर्दिशति—**निर्विकल्पकेति** । निष्प्रकारकेत्यर्थः । ननु निर्विकल्पकज्ञानं नाभ्युपगन्तव्यमिति चेन्न, घटचक्षुःसंयोगाद्यनन्तरं कदाचिज्जायमानस्य स्वरूपतो

---

उत्तर—साक्षात्कारिणी प्रमाका जो करण वह प्रत्यक्ष ( प्रमाण ) है । और जो प्रमा इन्द्रियसे उत्पन्न हो उसे साक्षात्कारिणी प्रमा कहते हैं । जैसे फूलके साथ आँखोंके सम्बन्ध होने पर जो 'यह फूल है' ऐसा ज्ञान नेत्रेन्द्रियसे उत्पन्न प्रमा होनेके कारण साक्षात्कारिणी प्रमा है, और उसका जो करण नेत्र वह प्रत्यक्ष ( प्रमाण ) है । इसी तरह अन्य स्थलोंमें भी समझना चाहिये । और वह साक्षात्कारिणी प्रमा सविकल्पक और निर्विकल्पकके भेदसे दो प्रकारकी है । इन दोनों प्रकारोंमें निर्विकल्पक ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं होता है, किन्तु उसका अनुमान ही होता है । अर्थात् सविकल्पक ज्ञानसे यह अनुमान होता है कि इसके अव्यवहित

भेदात्। तस्याः करणं त्रिविधम्—कदाचिद् इन्द्रियम्—कदाचिद् इन्द्रियार्थसंनिकर्षः, कदाचिज्ज्ञानम्।

---

घटत्वप्रकारकस्य (घटत्वादौ जातित्वाद्यप्रकारकस्य) घट इत्याकारकज्ञानस्य (विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात्) घटत्वविषयकज्ञानाभावेऽनुपपद्यमानस्य समुपपादनाय प्रथममनवस्याभिया सांसर्गिकविषयताशून्यज्ञानात्मकनिर्विकल्पज्ञानाभ्युपगमस्यावश्यकत्वात्। तस्य च घटघटत्वे इत्याद्याकारकता, विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्येव विशेष्यज्ञानस्यापि कारणत्वात्। नन्वेवम् समवायसम्बन्धेनोल्लिख्यमानाया जातेः, उल्लिख्यमानस्य अखण्डोपाधेश्च, जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थानाञ्च किञ्चिद्रूपेणैव भानं भवति, तथा समवायातिरिक्तसम्बन्धेनोल्लिख्यमानाया जातेः, अनुल्लिख्यमानजात्यखण्डोपाध्योश्च स्वरूपत एव भानं भवतीति सिद्धान्तेन तत्र घटस्य घटत्वेन भानावश्यकत्वात् निर्विकल्पकता भज्येतेति चेन्न, यथा धवखदिरावित्यादौ इतरेतरयोगद्वन्द्वस्थले धवखदिरयोः परस्परं प्रकारविशेष्यभावेन भानं न भवति, तथा प्रकृतेऽपि घटघटत्वयोः परस्परं प्रकारविशेष्यभावेन भानासम्भवात्। केचित्तु विशिष्टबुद्धिम्प्रति विशेष्यज्ञानस्य कारणत्वमनभ्युपगच्छन्तः तस्य घटत्वमित्याकारकता वदन्ति। अपरे तु तस्य अस्फुटवस्तुमात्राकारकतां निराकारता वा स्वीकुर्वन्ति। तत्करणभेदमाह—तस्या इति। साक्षात्कारिप्रमाया इत्यर्थः। कुत इत्यत आह—कदाचिदिति। यतस्तस्या करणमित्यादि। ज्ञानम्—निर्विकल्पज्ञानम्।

---

पूर्वमें निर्विकल्पक ज्ञान हुआ है। निर्विकल्पक ज्ञानको माननेमें युक्ति यह है कि—विशिष्टज्ञानके प्रति विशेषणज्ञान कारण है; अर्थात जबतक विशेषणका ज्ञान नहीं होता, तब तक विशिष्टका ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये मानना होगा कि विशिष्टज्ञान ( सविकल्पक ज्ञान ) से पहले विशेषणविषयक ( निर्विकल्पक ) ज्ञान होता है। यदि उस विशेषण विषयक ज्ञानको सविकल्पक माना जायगा, तब उस विशेषणमें जो विशेषण उसका ज्ञान अपेक्षित होगा। और इस तरह अनवस्था हो जायगी। अतः सविकल्पक ज्ञानके प्रति कारणीभूत विशेषण ज्ञानको निर्विकल्पक ही मानना आवश्यक है। सविकल्पक ज्ञानका प्रत्यक्ष होता है, और उसे प्रायः सब मानते हैं, इसलिये उसके सम्बन्धमें विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। उस साक्षात्कारिणी प्रमाके करण तीन प्रकारके होते हैं। अर्थात् उसके करण—कभी इन्द्रिय, कभी इन्द्रिय तथा अर्थका सन्निकर्ष और कभी ज्ञान होते हैं।

कदा पुनरिन्द्रियं करणम्? यदा निर्विकल्पकरूपा प्रमा फलम्। तथा हि, आत्मा मनसा संयुज्यते। मन इन्द्रियेण। इन्द्रियमर्थेन। इन्द्रियाणां वस्तुप्राप्य प्रकाशकारित्वनियमात्। ततोऽर्थसंनिकृष्टेनेन्द्रियेण निर्विकल्पकं नामजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि किञ्चिदिदमिति

---

**करणमिति**—तस्या इत्यादिः। **प्रमा**—साक्षात्कारिप्रमा। इन्द्रियस्य निर्विकल्पकसाक्षात्कारिप्रमाम्प्रति करणत्वमुपपादयिष्यन् तदुत्पत्तिप्रक्रियां दर्शयितुं प्रतिजानीते—**तथाहीति**। तत्प्रक्रियां दर्शयति—**आत्मेति**। पुरीतद्व्यतिरिक्त प्रदेशावच्छिन्नात्मेत्यर्थः। सुषुप्त्यवस्थायां पुरीतति वर्त्तमानेन मनसा तादृशात्मनः संयोगाभावेन ज्ञानाजननात् तदर्थं तादृशात्मनः मनसा संयोगोऽभ्युपगन्तव्यः। एवं स्वप्नावस्थायां सत्यपि तादृशात्मनो मनसा संयोगे बाह्यविषयकज्ञानानुत्पादात् तदर्थं मनस इन्द्रियेण संयोगोऽभ्युपगन्तव्यः। तथा जागरणावस्थायां सत्यपि तत्संयोगद्वये विषयेन्द्रियसम्बन्धासत्त्वे बाह्यविषयकप्रत्यक्षज्ञानाजननात् तदर्थं विषयस्येन्द्रियेण संयोगो मन्तव्य इत्याशयः। **इन्द्रियेणेति**—संयुज्यते इत्यनुषज्यते। एवमग्रेऽपि। बाह्यविषयकप्रत्यक्षज्ञानजननाय विषयस्येन्द्रियेण सम्बन्धोऽभ्युपगन्तव्य इत्यत्र हेतुमाह—**इन्द्रियाणामिति**। फलितमाह—**तत इति**। तादृशात्ममनःसंयोगाद्यनन्तरमित्यर्थः। केचित्तु—यत इन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षः साधितः, तत इत्येवं योजयन्ति। वक्ष्यमाणमात्रपदव्यावर्त्यमाह—**नामजात्यादीति**। नाम संज्ञा, जातिर्ब्राह्मणत्वादिः, आदिना गुणक्रियादिपरिग्रहः। तेषां योजना विशेषणत्वेन सम्बन्धः, तेन हीनं तदनवगाहीत्यर्थः। तदाकारं दर्शयति—**किञ्चिदिति**। इति-

---

प्रश्न—कब इन्द्रिय उसके करण होते हैं?

उत्तर—जब निर्विकल्पकरूप प्रमा फल होता है, तब इन्द्रिय उसके करण होते हैं। अर्थात् 'इन्द्रियके द्वारा उससे सन्निकृष्ट वस्तुका ही ज्ञान होता है' ऐसा नियम रहनेके कारण जब-अर्थसे इन्द्रियका, इन्द्रियके साथ मनका और मनसे आत्माका संयोग होता है, तब इन्द्रियसे-नामजात्यादिको छोड़कर वस्तुमात्रको अवगाहन करनेवाला 'इद किञ्चिद्'इत्याकारक ('अर्थात् जिस ज्ञानमें कोई वस्तु-विशेष्य, विशेषण और उन दोनोंके सम्बन्धरूपसे नहीं भासित हो वैसा ) निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है। और जैसे फरसा छेदनका करण होता

ज्ञानं जन्यते । तस्य ज्ञानस्येन्द्रियं करणं, छिदाया इव परशुः । इन्द्रियार्थसंनिकर्षोऽवान्तरव्यापारः, छिदाकरणस्य परशोरिव दारुसंयोगः । निर्विकल्पकं ज्ञानं फलं, परशोरिव छिदा ।

कदा पुनरिन्द्रियार्थसंनिकर्षः करणम् ?

यदा निर्विकल्पकानन्तरं सविकल्पकं नामजात्यादियोजनात्मकं

---

इत्याकारकम् । तस्य—तादृशनिर्विकल्पस्य । अत्र दृष्टान्तमाह—छिदाया इति । करणस्य व्यापारवत्त्वनियमात् तत्करणस्येन्द्रियस्य व्यापारं सदृष्टान्तं दर्शयति—इन्द्रियार्थेति । तत्करणस्येन्द्रियस्येत्यादिः । तस्य फलकरणयोर्मध्ये वर्तमानत्वादवान्तरता, ( तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम् व्यापारत्वमित्यनुसारेण ) इन्द्रियजन्यत्वे सति इन्द्रियजन्यज्ञानजनकत्वाद् व्यापारता चोपपद्यते । अत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षोपादानं द्रव्यप्रत्यक्षस्थलीयसंयोगसन्निकर्षाभिप्रायेण । रूपादिप्रत्यक्षस्थले संयुक्तसमवायादिसन्निकर्षाणां समवायरूपत्वेन नित्यत्वाद् इन्द्रियजन्यत्वाभावेन जन्यत्वावच्छिन्नव्यापारताया असम्भवाद् इन्द्रियमनःसंयोगस्यैव व्यापारताया अभ्युपगमात् । केचित्तु बाह्यप्रत्यक्षमात्रे इन्द्रियमनःसंयोगस्यैव व्यापारतामभ्युपगच्छन्ति । मानसप्रत्यक्षे त्वात्ममनःसंयोगस्यैव व्यापारता बोध्येति भावः । इन्द्रियस्य फलमाह—निर्विकल्पकमिति । तत्करणस्य तदेव फलमित्यत्र दृष्टान्तमाह—परशोरिति ।

एवमिन्द्रियस्य सव्यापारफले करणत्वे प्रतिपादिते इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य सव्यापारफलं करणत्वं ज्ञातुं पृच्छति—कदेति । करणमिति । तस्या इत्यादिः । एवमग्रेऽपि ।

समावत्ते—यदेति । निर्विकल्पकेति—ज्ञानेति शेषः । योजनात्मकं—

---

है, वैसे इन्द्रिय उस निर्विकल्पक ज्ञानका करण होता है । एवं जैसे काष्ठपरशुसंयोग छेदनके करण परशुका अवान्तर व्यापार होता है, वैसे इन्द्रियार्थसन्निकर्ष उस निर्विकल्पक ज्ञानके करण इन्द्रियका अवान्तरव्यापार होता है । तथा जैसे छेदन फरसारूपकरणका फल होता है, वैसे वह निर्विकल्पक ज्ञान इन्द्रियरूप करणका फल होता है ।

प्रश्न—कब इन्द्रिय और अर्थका सन्निकर्ष उसका करण होता है ?

उत्तर—जब उस निर्विकल्पक ज्ञानके बाद-नामजात्यादिको भी अवगाहन करनेवाला ( अर्थात् विशेष्य, विशेषण और उन दोनोंके सम्बन्धको विषय करनेवाला ) 'अयं ब्राह्मणः' इत्याकारक सविकल्पक ज्ञान होता है, तब

डित्थोऽयं, ब्राह्मणोऽयं, श्यामोऽयमिति विशेषणविशेष्यावगाहि ज्ञानमुत्पद्यते, तदेन्द्रियार्थसंनिकर्षः करणम् । निर्विकल्पकज्ञानम् अवान्तरव्यापारः । सविकल्पकं ज्ञानं फलम् ।

कदा पुनर्ज्ञानं करणम् ।

यदा उक्तसविकल्पकानन्तरं हान—उपादान—उपेक्षाबुद्धयो जायन्ते, तदा निर्विकल्पकं ज्ञानं करणम् । सविकल्पकज्ञानमवान्तरव्यापारः । हानादिबुद्धयः फलम् । तज्जन्यस्तज्जन्यजनकोऽवान्तरव्यापारः । यथा

---

सम्बन्धावगाहि । तदाकारं दर्शयति—**डित्थोऽयमिति** । इति—इत्याकारकम् । **निर्विकल्पकज्ञानमिति**—इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्येत्यादिः । **सविकल्पकमिति**—तस्येत्यादिः ।

एवमिन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य करणत्वादावुपपादिते निर्विकल्पकज्ञानस्य करणत्वादिजिज्ञासया पृच्छति—**कदेति** । **ज्ञानं**—निर्विकल्पकज्ञानम् ।

उत्तरयति—**यदेति** । **सविकल्पकेति**—ज्ञानेति शेषः । **हानेति**—सदोषवस्तुनि या हेयत्वबुद्धिः सा हानबुद्धिः । गुणवद्वस्तुनि योपादेयत्वबुद्धिः सोपादानबुद्धिः । दोषगुणोभयाभाववद्वस्तुनि योपेक्षणीयताबुद्धिः सोपेक्षाबुद्धिः । द्वन्द्वान्ते इत्यादिन्यायेन बुद्धिपदस्य प्रत्येकमन्वयः । एतासामेकदाऽसम्भवाद् अन्यतमा जायते इति भावः । **सविकल्पकज्ञानमिति**—निर्विकल्पकज्ञानस्येत्यादिः । **हानादिबुद्धय इति**—हानादिबुद्धयन्यतमेति भावः । तस्येत्यादिः । प्रसङ्गाद् व्यापारं लक्षयति—**तज्जन्य**

---

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष उस सविकल्पक ज्ञानका करण होता है । एवं वह निर्विकल्पक ज्ञान उस सविकल्पक ज्ञानके करण इन्द्रियार्थ सन्निकर्षका अवान्तर व्यापार होता है । तथा वह सविकल्पक ज्ञान इन्द्रियार्थ सन्निकर्षरूप करणका फल होता है ।

प्रश्न—कब ज्ञान उसका करण होता है ?

उत्तर—जब उस सविकल्पक ज्ञानके बाद्-त्यागबुद्धि, ग्रहणबुद्धि, और उपेक्षाबुद्धि-इन तीनों बुद्धियोंमें अन्यतमबुद्धि होती है, तब वह निर्विकल्पक ज्ञान उस अन्यतमबुद्धिका करण होता है । एव वह सविकल्पक ज्ञान उस अन्यतमबुद्धिके करण उस निर्विकल्पक ज्ञानका अवान्तर व्यापार होता है । तथा वह अन्यतमबुद्धि उस निर्विकल्पक ज्ञानरूप करणका फल होती है ।

प्रश्न—कौन किसका ( अवान्तर ) व्यापार होता है ?

उत्तर—जो जिससे जन्य हो, और उससे जन्यका जनक हो; वह उसका

कुठारजन्यः कुठारदारुसंयोगः, कुठारजन्यच्छिदाजनकः । अत्र कश्चिदाह— सविकल्पकादीनामपीन्द्रियमेव करणम् । यावन्ति त्वान्तरालिकानि संनिकर्षादीनि, तानि सर्वाण्यवान्तरव्यापार इति ।

---

इति । सर्वत्र व्यापारस्य फलकरणयोर्मध्ये वर्त्तमानत्वेनावान्तरत्वात्तं विशिनष्टि—अवान्तरेति । तमुदाहरति—यथेति । जनक इति—इति कुठारव्यापार इति शेषः । अत्र—साक्षात्कारिप्रमाकरणविषयकविचारप्रसङ्गे । तत्किमर्म निर्दिशति—सविकल्पकेति । ज्ञानेति शेषः । आदिना हानोपादानोपेक्षाबुद्धिपरिग्रहः । अपिना निर्विकल्पकज्ञानपरिग्रहः । एवेन—इन्द्रियार्थसन्निकर्षनिर्विकल्पकज्ञानयोर्व्यावृत्ति । आन्तरालिकानि—अन्तराले ( फलकरणयोर्मध्ये ) भवानि । सन्निकर्षेति—इन्द्रियार्थेत्यादिः । आदिना निर्विकल्पकसविकल्पकज्ञानयोः परिग्रहः ।

---

( अवान्तर ) व्यापार होता है । जैसे-काष्ठकुठारसंयोग-कुठार से जन्य तथा कुठारसे जन्य छेदनका जनक होनेके कारण कुठारका (अवान्तर) व्यापार होता है ।

अत्र कश्चिदाह—इस प्रसङ्गमें कोई कहते हैं कि-जैसे इन्द्रिय ही निर्विकल्पक-ज्ञानका करण होता है, वैसे वही सविकल्पक ज्ञान और त्यागबुद्धि आदियोंका भी करण होता है । और जितने मध्यवर्त्ती इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि हैं, वे सब इन्द्रिय-रूप करणके अवान्तर व्यापार ही हैं ?

वक्तव्य—प्रत्यक्षप्रमा-अलौकिक और लौकिकके भेदसे भी दो प्रकारकी होती हैं । इनमें-अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकारके होते हैं, जैसे-सामान्यलक्षणाजन्य, ज्ञानलक्षणाजन्य और योगज । इनमें-सामान्यलक्षणाजन्य उसे कहते हैं, जो धर्मप्रत्यक्षमूलक धर्मविशिष्टधर्मी समुदायका प्रत्यक्ष हो । जैसे-किसी एक घटको देखकर जो-भावी एवम् अतीत, और दूरवर्त्ती एवं निकटवर्त्ती सभी घटोंमें ( ये सारे घट हैं ) ऐसा प्रत्यक्ष होता है, वह सामान्यलक्षणाजन्य है । क्योंकि-एक घटमें देखा हुआ घटत्व ही संसारके सब घटोंमें रहता है, इस लिये जब घटत्व-स्वरूपसामान्यका अर्थात् सकल घट साधारणधर्मका प्रत्यक्ष होता है, तब वही प्रत्यक्ष असाधारण कारण बनकर स्वविषय घटत्वके आश्रयीभूत सकलघटोंका प्रत्यक्ष करा देता है । एवं-जिस विशिष्टप्रत्यक्षमें विशेषणके स्मरणसे उसका भान हो, उसे ज्ञानलक्षणाजन्य कहते हैं । जैसे-दूरवर्त्ती चन्दनोंमें दूरताप्रयुक्त नाकके सम्बन्ध न होनेपर भी आँखोंसे जो 'ये चन्दन सुगन्धित हैं' ऐसा प्रत्यक्ष होता है, वह ज्ञानलक्षणाजन्य है । क्योंकि उस सुगन्धविशिष्टचन्दनके प्रत्यक्षमें जो सुगन्धका विशेषणतया भान होता है, उसके प्रति सुगन्धका स्मरण ही असाधारण

इन्द्रियार्थयोस्तु यः सन्निकर्षः साक्षात्कारिप्रमाहेतुः, स षड्विध

---

तत्करणस्य भेदानभिधाय सन्निकर्षस्य भेदानाह—इन्द्रियार्थयोरिति ।

---

कारण है । एवं-योगियोंको योगाभ्यासजनितधर्मसे जो पदार्थोंका प्रत्यक्ष होता है, वह योगज है । जैसे-योगियोंके कथनानुसार जो घटना हुई, उसके सम्बन्धमें मानना होगा कि उनको जो भावी उस घटनाका प्रत्यक्ष हुआ, वह योगज था । क्योंकि वहाँ योगाभ्यासजनितधर्मसे अतिरिक्त कोई ऐसा असाधारण कारण नहीं था, कि जिससे वह प्रत्यक्ष हो सकता था ।

लौकिक प्रत्यक्ष छः प्रकार के होते हैं, जैसे-चाक्षुष, त्वाच, श्रावण, घ्राणज, रासन और मानस । क्योंकि-आँख, त्वक्, कान, नाक, जिह्वा और मन ये छः ज्ञानेन्द्रियां हैं । उनमें-जो 'यह पीत वस्त्र है' ऐसा ज्ञान होता है, वह चाक्षुष है । क्योंकि जब आँख रश्मिरूपसे जाकर उस पीत वस्त्रसे जुटती है, तब वह ज्ञान होता है । द्रव्य, गुण, कर्म, जाति और अभाव इन सबोंका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है । क्योंकि जिस इन्द्रियसे जिस द्रव्य या गुण या कर्मका प्रत्यक्ष होता है, उसी इन्द्रियसे तद्गत जाति और तदभावका भी प्रत्यक्ष होता है; इसलिये रूपत्व जाति और रूपाभाव आदिका भी प्रत्यक्ष आँखसे ही होता है । एवं-शीत, उष्ण आदि स्पर्शोंका जो प्रत्यक्ष वह त्वाच है । क्योंकि जब त्वक्के पास वे विषय आते हैं, तब वह ज्ञान होता है । चाक्षुष प्रत्यक्षके समान त्वाच प्रत्यक्ष भी द्रव्य, गुण आदिका होता है । एव-कानसे जो-शब्द, शब्दत्व, और शब्दाभावका प्रत्यक्ष वह श्रावण है । क्योंकि जब शब्द तरङ्ग परम्पराक्रमसे उत्पन्न होता हुआ कानमें उत्पन्न होता है, तब कानमें उत्पन्न होनेवाले शब्दका प्रत्यक्ष कानसे होता है । एवं-'यह सुगन्ध है' या 'यह दुर्गन्ध है' ऐसा जो प्रत्यक्ष वह घ्राणज है । क्योंकि गन्धवाली वस्तुके नाकसे सम्बद्ध होने पर ही नाकसे गन्धका वैसा प्रत्यक्ष होता है । घ्राणज प्रत्यक्ष गन्ध, गन्धत्व और गन्धाभावके ही होते हैं । एव 'यह मीठा है' या 'यह खट्टा है' ऐसा जो प्रत्यक्ष वह रासन है। क्योंकि रसना ( जिह्वा ) से मधुर आदि रसयुक्त वस्तुओंके संयोग होनेपर ही जिह्वासे रसोंका वैसा प्रत्यक्ष होता है । रासन प्रत्यक्ष रस, रसत्व और रसाभावके ही होते हैं । एव-आत्मा और उसके गुण ज्ञान, सुख, तथा दुःख आदियोंका जो 'मैं जानता हूँ' या 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष वह मानस है । क्योंकि ज्ञान, सुख आदियोंके उत्पन्न होनेपर मनसे ही वैसे प्रत्यक्ष किये जाते हैं ।

इन्द्रियार्थयोस्तु—लौकिक प्रत्यक्ष प्रमाका हेतु जो इन्द्रिय और अर्थोंका सन्निकर्ष वह छः प्रकारका है । जैसे-संयोग, संयुक्तसमवाय, सयुक्तसमवेतसमवाय, सम-

एव । तद्यथा संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेष्यविशेषणभावश्चेति ।

तत्र यदा चक्षुषा घटविषयं ज्ञानं जन्यते, तदा चक्षुरिन्द्रियम्, घटोऽर्थः । अनयोः संनिकर्षः संयोग एव, अयुतसिद्ध्यभावात् । एवं मनसाऽन्तरेन्द्रियेण यदात्मविषयकं ज्ञानं जन्यतेऽहमिति, तदा मन इन्द्रियमात्मार्थः । अनयोः संनिकर्षः संयोग एव । कदा पुनः

---

एवेनतस्य षण्न्यूनाधिकसंख्याकत्वव्यावृत्तिः । तस्य षट् प्रकारान् दर्शयति—तद्यथेति । घटतन्नीलतन्नीलत्वशब्दशब्दत्वजातयः ।

अभावसमवायौ च ग्राह्याः सम्बन्धषट्कतः ॥ इति संग्रहकारिकाऽनुसारेण यथाक्रमं सन्निकर्षषट्कमाख्यानं दर्शयति—तत्रेति । कदा संयोगसन्निकर्षः साक्षात्कारिप्रमाहेतुरित्यत आह—यदेति । घटविषयम्—घटो विषयो यस्य तत् । अत्र किमिन्द्रियं कश्चार्थः कश्च तयोः संनिकर्ष इति जिज्ञासायामाह—तदेति । अनयोः—चक्षुर्घटयोः । एवेनान्यसन्निकर्षव्यावृत्तिः । तत्र हेतुमाह—अयुतेति । तयोरित्यादि । चक्षुर्घटयोरन्योन्यपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रितत्वादित्याशयः । स्वप्रकाशज्ञानाश्रयत्वादात्मनोऽपरोक्षत्वं वदतां प्राभाकराणां, स्वप्रकाशत्वात्तस्य प्रत्यक्षत्वमभ्युपगच्छतां वेदान्तिनाञ्च मतं खण्डयितुमाह—एवमिति । यथा घटस्य ग्राह्यत्वं तथात्मनोऽपि तदिति भावः । इति—इत्याकारकम् । पूर्ववद् बुभुत्सायामाह—तदेति । अनयोः—आत्ममनसोः । एवेनेतरसन्निकर्षव्यवच्छेदः, तत्र हेतुः पूर्वोक्त

---

वाय, समवेतसमवाय और विशेष्यविशेषणभाव । इनमें–जब आँख या त्वक्से घट, पट आदि द्रव्योंका, और मनसे आत्माका प्रत्यक्ष होता है, तब अवयवावयविभावरहित द्रव्य होनेके कारण उन इन्द्रियोंका उन द्रव्योंके साथ संयोग नामक सन्निकर्ष ही होता है । अर्थात् आँख, त्वक् और मनसे ही किसी भी द्रव्यका प्रत्यक्ष होता है, और इन इन्द्रियोंका अपनेसे प्रत्यक्ष करने योग्य किसी भी द्रव्यके साथ अयुतसिद्धता नहीं है; इसलिये इन इन्द्रियोंसे किसी भी द्रव्यके प्रत्यक्षस्थलमें इन्द्रिय और द्रव्यका संयोग सन्निकर्ष ही कारण होता है । जैसे–आँख या त्वक्से 'यह घट है' ऐसे ज्ञानोंके स्थलमें, एवं मनसे 'मैं हूँ' इस ज्ञानके स्थलमें इन्द्रिय और द्रव्यका संयोग सन्निकर्ष ही कारण होता है । एवं–कानसे अतिरिक्त इन्द्रियोंसे द्रव्यमें रहनेवाले गुण, कर्म या जातिके प्रत्यक्षस्थलोंमें इन्द्रिय और विषयोंका

**संयुक्तसमवायसंनिकर्षः** । यदा चक्षुरादिना घटगतरूपादिकं गृह्यते घटे श्यामं रूपमस्तीति, तदा चक्षुरिन्द्रियं घटरूपमर्थः । अनयोः संनिकर्षः **संयुक्तसमवाय** एव । चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात् । एवं मनसात्मसमवेते सुखादौ गृह्यमाणे अयमेव संनिकर्षः ।

घटगतपरिमाणादिग्रहे चतुष्टयसंनिकर्षोऽप्यधिकं कारणमिष्यते ।

---

एवावसेयः । केचित्तु-संयोगसन्निकर्षस्य वहिरिन्द्रियजन्यसाक्षात्कारिप्रमाहेतुतामुपपाद्य अन्तरिन्द्रियजन्यतादृशप्रमाहेतुतां दर्शयति—**एवमिति** । इति वदन्ति । पृच्छति—**कदेति** । **सन्निकर्ष इति**—तादृशप्रमाहेतुरिति शेषः । समाधत्ते—**यदेति** । प्रथमादिना घ्राणरसनत्वक्परिग्रहः । द्वितीयादिना गन्धरसस्पर्शसंग्रहः । दिग्दर्शनाय घटगतरूपप्रतीत्याकारमाह—**घटे श्याममिति** । पूर्ववज्जिज्ञासायामाह—**तदेति** । एवमग्रेऽपि । **अनयोः**—चक्षुर्घटरूपयोः । एवेनान्यसन्निकर्षव्यावृत्तिः । कुत इत्यत आह—**चक्षुःसंयुक्ते इति** । एवमग्रेऽपि । संयोगसन्निकर्षस्येव संयुक्तसमवायसन्निकर्षस्यापि वहिरिन्द्रियजन्यसाक्षात्कारिप्रमाहेतुतामुपपाद्य अन्तरिन्द्रियजन्यतद्धेतुतां प्रतिपादयति—**एवमिति** । यथा चक्षुषा घटगतरूपग्रहणे संयुक्तसमवाय एव सन्निकर्षः, तथा मनसाऽऽत्मगतसुखादिग्रहणेऽपि स एव सन्निकर्ष इत्याशयः । **अयमेव**—संयुक्तसमवाय एव । मनःसंयुक्तात्मनि सुखादेः समवायादिति भावः ।

संयुक्तसमवायसन्निकर्षमात्रेण न घटगतपरिमाणादिज्ञानं, किन्तु तत्सहितेन वक्ष्यमाणचतुष्टयसन्निकर्षेणेत्याह—**घटगतेति** । अपिना संयुक्तसमवायसन्निकर्षपरिग्रहः । **अधिकमिति**—घटगतरूपादिग्रहणकारणापेक्षयेति भावः । कुत इत्यत

---

संयुक्तसमवाय ही सन्निकर्ष कारण होता है । क्योंकि इन्द्रिय संयुक्त द्रव्यमें गुण आदिका समवाय है । जैसे-जहां चक्षु आदिसे 'घटमें नील रूप है' इत्यादि ज्ञान होता है, वहाँ चक्षु आदिको घटरूप आदिके साथ संयुक्तसमवाय ही सन्निकर्ष कारण होता है । क्योंकि चक्षुःसंयुक्त घट आदिमें रूप आदिका समवाय है । एवं-मनसे आत्मसमवेत सुखादिके ज्ञानस्थलमें भी मन और सुखादिका संयुक्त-समवाय ही सन्निकर्ष कारण होता है । क्योंकि मनः संयुक्त आत्मामें सुख आदिका समवाय है ।

घटगतपरिमाणादि—यहाँ एक बात विशेषरूपसे जाननी चाहिये कि-घटादियोंमें रहनेवाले परिमाण ( छोटापन या बड़ापन ) आदियोंके ज्ञानमें इन्द्रिय-संयुक्तसमवायसे अतिरिक्त और चार सन्निकर्ष कारणरूपसे अपेक्षित होते हैं ।

सत्यपि संयुक्तसमवाये तदभावे दूरे परिमाणाद्यग्रहणात्। चतुष्टयसंनिकर्षो यथा—इन्द्रियावयवैरर्थावयविनाम्, इन्द्रियावयविना अर्थावयवानाम्, इन्द्रियावयवैरर्थावयवानाम्, अर्थावयविनामिन्द्रियावयविनां संनिकर्ष इति।

यदा पुनश्चक्षुषा घटरूपसमवेतं रूपत्वादिसामान्यं गृह्यते, तदा चक्षुरिन्द्रियं रूपत्वादिसामान्यमर्थः। अनयोः संनिकर्षः संयुक्तसमवेतसमवाय एव। यतश्चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपं समवेतं, तत्र रूपत्वस्य समवायात्।

---

आह—सत्यपीति। तदभावे—चतुष्टयसंनिकर्षाभावे। दूरे—दूरस्थघटे। तथा चान्वयव्यतिरेकाभ्यां संयुक्तसमवायसंनिकर्षसहितस्य चतुष्टयसंनिकर्षस्य घटगतपरिमाणादिग्रहणकारणतोपपन्नेति भावः। इन्द्रियतदवयवार्थतदवयवानां वक्ष्यमाणरीत्या सम्बन्धे संनिकर्षा अपि चत्वारो भवन्तीत्याशयेनाह—चतुष्टयेति।

कदा पुनः संयुक्तसमवेतसमवायसंनिकर्षः तादृशप्रमाहेतुरित्यत आह—यदेति। अनयोः—चक्षूरूपत्वयोः। तत्र—रूपे।

---

क्योंकि—उनके साथ इन्द्रियसंयुक्तसमवायरूप सन्निकर्षके रहने पर भी उससे भिन्न और चार सन्निकर्षोंके न रहने पर दूरस्थवस्तुओंमें विद्यमान परिमाण आदियोंका ज्ञान नहीं होता है। जैसे—किसी व्यक्तिको दूरमें स्थित (आँख से जानने योग्य) वृक्ष आदियोंमें विद्यमान परिमाणके साथ इन्द्रियसंयुक्तसमवायके रहने पर भी उससे अतिरिक्त और चार सन्निकर्षोंके न रहनेके कारण उसका (इसमें इतना छोटापन है' या 'इतना बड़ापन है' ऐसा) ज्ञान नहीं होता है। वे चार सन्निकर्ष हैं जैसे—१ इन्द्रियावयवोंके साथ अर्थावयवोंका संयोग, २ इन्द्रियावयवोंके साथ अर्थावयवीका संयोग, ३ इन्द्रियावयवीके साथ अर्थावयवोंका संयोग, और ४ इन्द्रियावयवीके साथ अर्थावयवीका संयोग। एवम्—गुण या कर्ममें रहनेवाली किसी भी जातिके प्रत्यक्षमें उस जातिके साथ इन्द्रियका संयुक्तसमवेतसमवाय ही सन्निकर्ष कारण होता है। जैसे—घटसमवेतरूपमें (समवाय सम्बन्धसे) रहनेवाले रूपत्वके चाक्षुष प्रत्यक्षमें उस (रूपत्व) के साथ आँखका संयुक्तसमवेतसमवाय ही संनिकर्ष कारण होता है। क्योंकि—आंखसे संयुक्त होता घट, उसमें समवेत (समवाय सम्बन्धसे रहनेवाला) होता रूप, और उसमें समवाय है रूपत्वका। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये।

कदा पुनः **समवायः** संनिकर्षः । यदा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते, तदा श्रोत्रमिन्द्रियं शब्दोऽर्थः । अनयोः संनिकर्षः **समवाय** एव । कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रम् । श्रोत्रस्याकाशात्मकत्वाच्छब्दस्य चाकाशगुणत्वाद् गुण-गुणिनोश्च समवायात् ।

कदा पुनः **समवेतसमवायः** । यदा पुनः शब्दसमवेतं शब्दत्वादिसामान्यं श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते, तदा श्रोत्रमिन्द्रियं शब्दत्वादिसामान्यमर्थः । अनयोः संनिकर्षः **समवेतसमवाय** एव, श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात् ।

कदा पुनर्विशेषणविशेष्यभाव इन्द्रियार्थसंनिकर्षो भवति । यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटाभावो गृह्यते 'इह भूतले घटो नास्ति' इति,

---

**सन्निकर्ष इति**—तादृशप्रमाहेतुरिति शेषः । **अनयोः**—शब्दश्रोत्रयोः ।

**समवेतसमवाय इति**-सन्निकर्षः साक्षात्कारिप्रमाहेतुरिति शेषः । **अनयोः**-श्रोत्रशब्दत्वयोः ।

**भवतीति**—साक्षात्कारिप्रमाहेतुरिति भावः । **संयुक्ते**—चक्षुःसंयुक्ते । भूतलगतघटाभावज्ञानाकारमाह—**इहेति** । घटाभाववद् भूतलमिति प्रतीतिस्थले घटाभावे

---

प्रश्न—कब समवाय सन्निकर्ष होता है ?

उत्तर—जब कानसे शब्दका प्रत्यक्ष होता है तब कानके साथ शब्दका समवाय ही सन्निकर्ष ( कारण ) होता है । क्योंकि कर्णविवरावच्छिन्न आकाश ही कान है, और उसमें शब्द ( गुण ) समवाय सम्बन्धसे रहता है ।

प्रश्न—कब समवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है ?

उत्तर—जब कानसे शब्दमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले शब्दत्वयागुणत्व आदि जातियोंका प्रत्यक्ष होता है, तब शब्दत्व आदिके साथ कानका समवेतसमवाय ही सन्निकर्ष ( कारण ) होता है । क्योंकि कानरूप आकाशमें समवेत ( समवायसम्बन्धसे रहनेवाला ) है शब्द, और उसमें समवाय है शब्दत्व आदि का ।

प्रश्न—कहां विशेष्यविशेषणभाव सन्निकर्ष होता है ?

उत्तर—किसी भी अभावके प्रत्यक्षमें विशेष्यविशेषणभाव ही सन्निकर्ष ( कारण ) होता है । इसके दो भाग होते हैं, जैसे-विशेष्यभाव और विशेषणभाव । इनमें विशेष्यभावका अर्थ है विशेष्यता और विशेषणभावका अर्थ है विशेषणता

तदा विशेषणविशेष्यभावः संबन्धः तदा । चक्षुःसंयुक्तस्य भूतलस्य घटाद्यभावो विशेषणं भूतलं विशेष्यम् । यदा च मनःसंयुक्त आत्मनि सुखाद्यभावो गृह्यते, 'अहं सुखरहितः' इति, तदा मनःसंयुक्तस्यात्मनः

---

चक्षुःसंयुक्तविशेषणतासन्निकर्षः, चक्षुःसंयुक्तभूतलनिष्ठविशेष्यतानिरूपितविशेषणतायास्तत्र सत्त्वात् । एवं भूतले घटाभाव इति प्रतीतिस्थले घटाभावे चक्षुःसंयुक्तविशेष्यतासन्निकर्षः, चक्षुःसंयुक्तभूतलनिष्ठविशेषणतानिरूपितविशेष्यतायास्तत्र सत्त्वादिति वस्तुस्थित्यनुरोधेन "इह" इत्यादिना पूर्वप्रतीतिमभिप्रेत्याह—यदा चक्षुःसंयुक्तस्येति । विशेषणम्—घटाभावः । विशेष्यम्—भूतलम् । आत्मनि सुखाभावग्रहणं क्वचिन्मनःसंयुक्तविशेषणतासन्निकर्षेण क्वचिन्मनःसंयुक्तविशेष्यतासन्निकर्षेण च । तत्राद्यस्थलमभिप्रेत्याह—यदा चेति । अत एव तदाकारमाह—अहमिति । द्वितीयस्थले तु मयि सुखाभाव इति प्रतीतिर्वक्तव्या । एवं शब्दे घत्वाभावग्रहणं क्वचिच्छ्रोत्रसमवेतविशेषणतासन्निकर्षेण क्वचिच्च श्रोत्रसमवेतविशेष्यतासन्निकर्षेण । तत्र

---

इन दोनोंके भी छः छः भाग होते हैं, जैसे—संयुक्तविशेष्यता, संयुक्तसमवेतविशेष्यता, संयुक्तसमवेतसमवेतविशेष्यता, श्रोत्रविशेष्यता, श्रोत्रसमवेतविशेष्यता और श्रोत्रसमवेतसमवेतविशेष्यता । एवं—संयुक्तविशेषणता, संयुक्तसमवेतविशेषणता, संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणता, श्रोत्रविशेषणता, श्रोत्रसमवेतविशेषणता और श्रोत्रसमवेतसमवेतविशेषणता । जब किसी भी द्रव्यमें किसी भी अभावका प्रत्यक्ष होगा, तब उसके लिये संयुक्तविशेष्यता या संयुक्तविशेषणता सन्निकर्षकी अपेक्षा होगी । जैसे—इस भूमिमें घटाभाव है । एतादृश चाक्षुषप्रत्यक्षस्थलमें संयुक्तविशेष्यता सन्निकर्ष होगी । क्योंकि यहाँ चक्षु संयुक्त होगी 'यह भूमि' और उसका विशेष्य होगा 'घटाभाव' अतः तादृश विशेष्यता रहेगी घटाभावमें । एवं—'सुखाभाववाला मैं हूँ' एतादृश मानस प्रत्यक्षस्थलमें संयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष होगी । क्योंकि यहाँ मनः संयुक्त होगी आत्मा, और उसका विशेषण होगा सुखाभाव, अतः तादृशविशेषणता सुखाभावमें रहेगी । जब घटादिमें रहनेवाले किसी भी गुण या कर्म या जातिमें किसी भी अभावका प्रत्यक्ष होगा, तब उसके लिये संयुक्तसमवेतविशेष्यता या संयुक्तसमवेतविशेषणता की अपेक्षा होगी । जैसे—'घटरूपमें पटाभाव है' एतादृश प्रत्यक्षस्थलमें संयुक्तसमवेतविशेष्यता सन्निकर्ष होगी । क्योंकि यहाँ चक्षु संयुक्त होगा घट, उसमें समवेत है उसका रूप और उसका विशेष्य है पटाभाव, अतः तादृश विशेष्यता रहेगी पटाभावमें । एवं—'पटाभाववाला घटरूप है' एतादृश प्रत्यक्षस्थलमें संयुक्तसमवेतविशेषणता

सुखाद्यभावो विशेषणम्। यदा श्रोत्रसमवेते गकारे घत्वाभावो गृह्यते,

प्रथमस्थलमभिप्रेत्याह—यदेति। प्रथमस्थले घत्वाभाववान् गकार इति प्रतीतिः, द्वितीयस्थले च गकारे घत्वाभाव इति प्रतीतिरिति भावः। एवं रूपादौ रसाद्यभावज्ञानं क्वचित् (रसाद्यभाववान् रूपादिरिति प्रतीतिस्थले) चक्षुःसंयुक्तसमवेतविशेषणतासन्निकर्षेण, क्वचिच्च (रूपादौ रसाद्यभाव इति प्रतीतिस्थले च) चक्षुःसंयुक्तसमवेतविशेष्यतासन्निकर्षेण। एवं रूपत्वादौ रसाद्यभावज्ञानकाले विभिन्नप्रतीतिद्वयानुसारेण विभिन्नसन्निकर्षद्वयेऽभ्युपगम्यमाने एकं समवेतपदमधिकं निवेश्यम्। एवं कत्वादौ जात्याद्यभावज्ञान क्वचित श्रोत्रसमवेतसमवेतविशेषणतासन्निकर्षेण, क्वचिच्च श्रोत्रस-

सन्निकर्ष होगी। क्योंकि यहां चक्षुःसंयुक्त होगा घट, उसमें समवेत है उसका रूप, और उसका विशेषण है पटाभाव, अतः तादृश विशेषणता रहेगी पटाभाव में। यदि-घटादिके रूपादिमें रहनेवाले रूपत्वादिमें किसी भी अभावका प्रत्यक्ष हो, तो उसके लिये संयुक्तसमवेतसमवेतविशेष्यता या संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणता की अपेक्षा होगी। जैसे—'घटरूपत्वमें पटाभाव है' या 'पटाभाव वाला घटरूपत्व है' एतादृश ज्ञानस्थलमें संयुक्तसमवेतसमवेतविशेष्यता या संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणता सन्निकर्ष होगी। क्यों कि—चक्षुः संयुक्त (घट) समवेत (रूप) समवेत है रूपत्व, उसका विशेष्य या विशेषण है पटभाव, अतः तादृश विशेष्यता या तादृश विशेषणता रहेगी पटाभावमें। जब श्रोत्रमें शब्दके अभावका प्रत्यक्ष होगा, तब उसके लिये श्रोत्रविशेष्यता या श्रोत्रविशेषणता की अपेक्षा होगी। जैसे—'कानमें शब्द नहीं है' या 'शब्दाभाव वाला कान है' एतादृश ज्ञानस्थलमें श्रोत्रविशेष्यता या श्रोत्रविशेषणता सन्निकर्ष होगी। क्योंकि—कर्णछिद्रवर्त्ती आकाश है कान और उसमें विशेष्य या विशेषण होगा शब्दाभाव, अतः तादृशविशेष्यता या तादृशविशेषणता रहेगी शब्दाभावमें। जब शब्दमें किसी भी अभाव का प्रत्यक्ष होगा, तब उसके लिये श्रोत्रसमवेतविशेष्यता या श्रोत्रसमवेतविशेषणता की अपेक्षा होगी। जैसे-'शब्दमें रूप नहीं है' या 'रूपाभाव वाला शब्द है' एतादृश ज्ञानस्थलमें श्रोत्रसमवेतविशेष्यता या श्रोत्रसमवेतविशेषणता सन्निकर्ष होगी। क्योंकि—कानमें समवेत है शब्द, और उसका विशेष्य या विशेषण होगा रूपाभाव, अतः तादृश विशेष्यता या तादृश विशेषणता रहेगी रूपाभाव मे। यदि शब्दत्वमें किसी भी अभाव का प्रत्यक्ष होगा, तो उसके लिये श्रोत्रसमवेतसमवेतविशेष्यता या श्रोत्रसमवेतसमवेतविशेषणता की अपेक्षा होगी। जैसे—'शब्दत्वमें रूप नहीं है' या 'रूपाभाव वाला शब्दत्व है' एतादृश ज्ञानस्थलमें श्रोत्रसमवेतसमवेतविशेष्यता या श्रोत्रसमवेतसमवेतविशेषणता सन्निकर्ष होगी। क्यों कि—कानमें समवेत होगा शब्द, उसमें समवेत है शब्दत्व और उसका विशेष्य या विशेषण होगा रूपाभाव, अतः तादृश

तदा श्रोत्रसमवेतस्य गकारस्य घत्वाभावो विशेषणम् । तदेवं संक्षेपतः पञ्चविधसंबन्धान्यतमसम्बद्धविशेषणविशेष्यभावलक्षणेनेन्द्रियार्थसंनिकर्षेण अभाव इन्द्रियेण गृह्यते ।

एवं समवायोऽपि । चक्षुःसंबद्धस्य तन्तोर्विशेषणभूतः पटसमवायो गृह्यते 'इह तन्तुषु पटसमवायः' इति ।

---

मवेतसमवेतविशेष्यतासन्निकर्षेण । एवमन्यत्राप्यूहनीयमित्याशयेनाह—**तदिति** । तस्मादित्यर्थः । समानन्यायत्वादित्याशयः । **एवम्**—उक्तरीत्या । **संक्षेपतः**—सामान्येन । **पञ्चविधेति**—संयोगादीत्यादि । **सम्बद्धेति**—इदमुपलक्षणम सम्बद्धस्य श्रोत्रविशेषणतारूपस्य श्रोत्रविशेष्यतारूपस्य च सन्निकर्षस्य । अन्यथा क्वचिदाद्येन क्वचिच्च द्वितीयेन जायमानस्य शब्दाभावज्ञानस्यासंग्रहाद् ग्रन्थकृतो न्यूनता दुर्वारा ।

**एवम्** अभाववत् । **समवायोऽपीति**—विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्षेण गृह्यते, यथेति शेषः । तन्तुषु पटसमवायज्ञानं यत्र चक्षुःसंयुक्तविशेषणतासन्निकर्षेण भवति, तमभिप्रेत्याह—**चक्षुरिति** । **तन्तोरिति**—अत्र तन्तुत्वगतैकत्वविवक्षयैकवचनोपपत्तिर्बोध्या । तदाकारमाह—**इहेति** । अनेन पटसमवायवन्त इमे तन्तव इति प्रतीतिर्विवक्षणीया, अन्यथा यथाश्रुते पटसमवायस्य विशेष्यतायाः, चक्षुःसंयुक्तविशेष्यतासन्निकर्षस्य च दुर्निवारतया "विशेषणभूत" इति ग्रन्थो नोपपद्येत । अत्र वैशेषिकाः-घटाकाशसंयोगस्य प्रत्यक्षवारणाय सम्बन्धप्रत्यक्षम्प्रति यावत्सम्ब-

---

विशेष्यता या तादृशविशेषणता रहेगी रूपाभावमें । यदि किसी अभावमें किसी अभावान्तर का प्रत्यक्ष होगा, तो विशेष्यता या विशेषणता के अनन्त भेद होंगे । जैसे—'गृहवृत्तिघटाभावमें पटाभाव है' या 'पटाभावविशिष्ट घटाभाववाला गृह है' एतादृशज्ञानस्थलमें चक्षुःसंयुक्तविशेष्यविशेष्यता या चक्षुःसंयुक्तविशेषणविशेषणता सन्निकर्ष कारण होगा । इस तरह और भी बढ़ाया जा सकता है ।

एवं समवायोऽपि—वैशेषिकके मतमें-घटाकाशसंयोगके प्रत्यक्षका वारण करनेके लिये, सम्बन्ध प्रत्यक्षके प्रति यावत् सम्बन्धिप्रत्यक्षको कारण मानते हैं, इसलिये—एक समवायके यावत् आश्रयोंका एक समयमें प्रत्यक्ष नहीं हो सकने के कारण समवायका प्रत्यक्ष नहीं होता है । किन्तु नैयायिक के मतमें-उस संयोगके प्रत्यक्षका वारण करनेके लिये, संयोग प्रत्यक्षके प्रति यावत्संयोगिप्रत्यक्षको कारण मानते हैं;

तदेवं षोढा संनिकर्षो वर्णितः । संग्रहश्च—

अक्षजा प्रमितिर्द्वेधा सविकल्पाऽविकल्पिका ।
करणं त्रिविधं तस्याः संनिकर्षस्तु षड्विधः ॥
घट–तन्नील–नीलत्व–शब्द–शब्दत्व–जातयः ।
अभाव–समवायौ च ग्राह्याः संबन्धषट्कतः ॥

---

न्धिप्रत्यक्षस्य कारणताया अभ्युपगन्तव्यत्वेन यावतामेकसमवायसम्बन्धिनामेकदा प्रत्यक्षासम्भवात् समवायस्य प्रत्यक्षं न सम्भवतीति वदन्ति । नैयायिकास्तु संयोगप्रत्यक्षम्प्रति यावत्सम्बन्धिप्रत्यक्षस्य कारणत्वाभ्युपगमेनैव तादृशसंयोगस्य प्रत्यक्षवारणात् तदर्थं तादृशकार्यकारणभावाङ्गीकारानावश्यकत्वात् समवायप्रत्यक्षोपपत्तौ न काचिद्बाधेति निगदन्ति । प्रकृतमुपसंहरति—**तदेवमिति** ।

सङ्ग्रहमाह—**अक्षजेति** । इन्द्रियजेत्यर्थः । प्रकारद्वयमेवाह—**सविकल्पेति तस्याः**—अक्षजप्रमितेः ॥

अथ "सा ( साक्षात्कारिणी प्रमा ) च द्विधा सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदादि" त्यनेनोपक्रम्य, "अक्षजा प्रमितिर्द्वेधा सविकल्पाविकल्पिके" त्यनेनोपसंहृत्य च सविकल्पकनिर्विकल्पकयोः प्रामाण्ये व्यवस्थापिते वस्तुमात्रावभासिनो निर्विकल्पक-

---

इसलिये समवायके प्रत्यक्ष होनेमें कोई बाधा नहीं है । प्रकृतमें इसी मतके अनुसार कहते हैं कि—जैसे अभावके प्रत्यक्षमें विशेष्यता या विशेषणता सन्निकर्षकी अपेक्षा तथा भेद होते हैं, वैसे समवायके प्रत्यक्षमें भी विशेष्यता या विशेषणता सन्निकर्षकी अपेक्षा तथा भेद होंगे । अर्थात् जिस तरह विशेष्यता या विशेषणता सन्निकर्षके द्वारा अभावका प्रत्यक्ष होता है, उसी तरह विशेष्यता या विशेषणता सन्निकर्षके द्वारा समवाय का भी प्रत्यक्ष होता है । जैसे—'इन तन्तुओंमें पटका समवाय है' एतादृश ज्ञानस्थलमें चक्षुःसंयुक्तविशेष्यता सन्निकर्ष कारण होगा । क्योंकि यहां—चक्षुःसंयुक्त तन्तुओंका विशेष्य है पटका समवाय अतः तादृश विशेष्यता रहेगी उस समवायमें । एव—'पटसमवाय वाले ये तन्तु हैं' एतादृश प्रत्यक्ष स्थलमें चक्षुःसंयुक्त विशेषणता सन्निकर्ष कारण होगा । क्योंकि यहां—चक्षुःसंयुक्त हैं तन्तु, और उनका विशेषण है पटसमवाय, अतः तादृश विशेषणता रहेगी उस समवायमें । इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये ।

तदेवम्—इस तरह लौकिक प्रत्यक्षके कारणीभूत छः प्रकारके लौकिक सन्निकर्षोंका वर्णन किया, अब उस वर्णनको संक्षेपमें संगृहीत कर दिखाते हैं; जैसे—अक्षजेत्यादि । इसका अर्थ यह है कि—इन्द्रियजन्य प्रमा दो प्रकार की होती है जैसे—

ननु निर्विकल्पकं परमार्थतः स्वलक्षणविषयं भवतु प्रत्यक्षम्। सविकल्पकं तु शब्दलिङ्गवदनुगताकारावगाहित्वात्सामान्यविषयं, कथं प्रत्यक्षम्? अर्थजस्यैव प्रत्यक्षत्वात्। अर्थस्य च परमार्थतः सत एव

---

स्यानारोपितविषयकत्वात्प्रमात्वमभ्युपगच्छन्, विकल्पविशेषणसम्बन्धावगाहिनः सविकल्पस्यारोपितविषयकत्वात्प्रमात्वमसहमानो बौद्धः शङ्कते—नन्विति। परमार्थतः—अनारोपितरूपत। स्वलक्षणविषयम्—स्वं स्वरूपं लक्षणं व्यावर्तकं यस्य तत् स्वलक्षणम्, स्वलक्षणं व्यक्तिः, विषयो यस्य तादृशम्। प्रत्यक्षम्—साक्षात्कारि प्रमा। एवमग्रेऽपि। सविकल्पकं सामान्यविषयमित्यत्र हेतुमाह—अनुगतेति। तत्र दृष्टान्तमाह—शब्दलिङ्गवदिति। शब्द आगमः, लिङ्गमनुमानम्। यथा ताभ्यां प्रतीयमानो विषयः सामान्यरूपेणावगम्यते, न तु विशेषरूपेण। तथा सविकल्पकमपि अनुगतमेवाकारमवगाहते, न तु सर्वतो व्यावृत्तमिति भावः। सामान्यविषयम्—सामान्यं जातिरूपं विषयो यस्य तादृशम्। कथं प्रत्यक्षम्—प्रत्यक्षं न सम्भवतीत्यर्थः। ननु तादृशनिर्विकल्पकस्यैव प्रामाण्यादिमान्यं न तु तादृशसविकल्पकस्येति वैषम्ये किं बीजमित्यत आह—अर्थजस्यैवेति। परमार्थतः सताऽर्थेन जन्यस्यैवेत्यर्थः। ननु तस्यैव प्रत्यक्षत्वं कुत इत्यत आह—अर्थस्य

---

सविकल्पक और निर्विकल्पक। और उस प्रमाके कारण तीन प्रकारके होते हैं जैसे—कहीं इन्द्रिय, कहीं इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और कहीं ज्ञान। तथा उस लौकिक प्रमाके कारण जो लौकिक सन्निकर्ष वे छः प्रकारके हैं जैसे—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेष्यविशेषणभाव। और इन छः सन्निकर्षोंसे क्रमशः—घट, उसके नील, उसका नीलत्व, शब्द, उसका शब्दत्व और अभाव तथा समवाय इनके प्रत्यक्ष होते हैं।

ननु—शुद्ध वस्तु ही परमार्थतः सत् है, इसीलिये उसको ही विषय करने वाला निर्विकल्पज्ञान ही प्रमा है, और सामान्य तथा उसके सम्बन्ध आदि आरोपित होनेके कारण परमार्थतः सत् नहीं हैं, इसलिये उनको भी विषय करनेवाला सविकल्पक ज्ञान प्रमा नहीं हो सकता। इसी आशयसे बौद्ध यहां शङ्का करते हैं—ननु इत्यादि। इसका अर्थ यह है कि—अनारोपित शुद्ध वस्तुमात्रको विषय करनेवाला निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हो सकता है, किन्तु सविकल्पक, शाब्दबोध और अनुमितिके समान अनुगताकारक वस्तुको अवगाहन करनेके कारण अनुगताकारक होता हुआ आविद्यक सामान्यादि विषयक है, इसलिये वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्यों कि—परमार्थतः सत् अर्थ ही प्रत्यक्षका जनक होता है, और शुद्ध वस्तु ही परमार्थतः

तज्जनकत्वात्। स्वलक्षणं तु परमार्थतः सत्। न तु सामान्यम्। तस्य प्रमाणनिरस्तविधिभावस्याऽन्यव्यावृत्त्यात्मनस्तुच्छत्वात्।

मैवम्। सामान्यस्यापि वस्तुभूतत्वात्। तदेवं व्याख्यातं प्रत्यक्षम्।

---

चेति। तदिति—प्रत्यक्षेत्यर्थः। एवं स्थिते, निर्विकल्पक एव प्रमात्मकप्रत्यक्षत्वमुपपद्यते, न तु सविकल्पके इत्याशयेनाह—स्वलक्षणमिति। तु—एव। ननु सामान्यस्य परमार्थतः सत्ता कुतो नेत्यत आह—तस्येति। सामान्यस्येत्यर्थः। प्रमाणनिरस्तेति—प्रमाणेन (सामान्यं वस्तुषु कात्स्न्र्येन वर्त्तते, उतैकदेशेन। नाद्यः, तथा सति अन्यस्या व्यक्तौ तत्प्रतीत्यनुपपत्तेः। न द्वितीयः, निरंशसामान्यस्य देशकल्पनासम्भवादिति) युक्त्या निरस्तः खण्डितो विधिभावोऽस्तितता यस्य, तादृशस्येत्यर्थः। अन्यव्यावृत्त्यात्मनः—अन्यापोहरूपस्य। घटोऽयमित्यादिप्रतीतेः अघटव्यावृत्तोऽयमित्याद्यर्थेन सर्वत्र सामान्यस्यान्यापोहरूपतयैव भानादित्याशयः। तुच्छत्वात्—गगनकुसुमवदत्यन्तासत्त्वात्।

खण्डयति—मैवमिति। अननुगतव्यक्तिष्वनुगतसामान्यानभ्युपगमे-घटोऽयं घटोऽयमित्याद्यनुगताकारप्रतीतिप्रयोगयोः, शक्तिव्याप्त्योर्दुर्ज्ञेयतया शाब्दबोधानुमित्योश्चानुपपत्तेः तदभ्युपगम्यते। नन्वन्यापोह-(अघटव्यावृत्त्यादि) रूपसामान्येन तेषामुपपत्तिरिति चेन्न, घटाप्रतिपत्तौ नाघटप्रतिपत्तिः, तदप्रतिपत्तौ च न तद्व्या-

---

सत् है, न कि सामान्यादि। क्योंकि-सामान्य व्यक्तिमें साकल्येन रहता है अथवा एकदेशेन? इस प्रश्नके उत्तरमें-प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि-सामान्यको किसी एक व्यक्तिमें साकल्येन रहने पर किसी दूसरे व्यक्तिमें उसकी स्थिति नहीं हो सकती, और यदि किसी एक ही व्यक्तिमें उसकी स्थिति मानी जाय, तो उसमें सामान्यत्व ही नहीं उपपन्न होगा, क्योंकि एक व्यक्तिमात्रमें रहनेवाला सामान्य नहीं होता है, जैसे आकाशत्वादि। एवं-दूसरा पक्ष भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि सामान्यको निरंश होनेके कारण उसका एक देश ही नहीं हो सकता है। इस तरह जब सामान्यका कहीं रहना ही नहीं उपपन्न हो रहा है, तब मानना होगा कि वह कल्पित एवं गगनकुसुमादिके समान तुच्छ है।

उत्तर—आप (बौद्धों) की शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि-यदि यह मान लिया जाय कि-सामान्य एक समवाय सम्बन्धसे सब व्यक्तियोंमें रहता है, तो किसी प्रकारकी अनुपपत्ति या आपत्ति नहीं होगी। एवं-यदि सामान्य की सत्ता नहीं मानी जा सकेगी, तो किसी अनुगत प्रतीतिकी उपपत्ति नहीं होगी। और-यदि

वृत्त्या घटप्रतिपत्तिरिति घटप्रतिपत्तावघटप्रतिपत्ति, तत्प्रतिपत्तौ च तद्व्यावृत्त्या घटप्रतिपत्तिरित्यन्योन्याश्रयस्य दुर्वारत्वात्तेन तेषामुपपत्तेर्वक्तुमशक्यत्वात्। भावरूपसामान्यापेक्षया अभावरूपसामान्याभ्युपगमे गौरवाच्च। न चोकवृत्तितादिविकल्पेन भावरूपसामान्यसत्ताया निरसनीयतेति वाच्यम्, तादृशसामान्यस्य समवायसम्बन्धेन प्रत्येकं वस्तुषु कार्त्स्न्येन वृत्तिताया अभ्युपगमे सर्वमानञ्जस्यात्। नापि तादृशसामान्यस्य कल्पिततैव, तद्विषयकभ्रमस्य तद्विषयकप्रमापूर्वकत्वनियमात्। तथा च सामान्यं वस्तुभूतम् अबाधितत्वात् स्वलक्षणवदित्यनेन तस्य पारमार्थिकत्वे सिद्धे, सविकल्पकं प्रमाऽऽत्मकप्रत्यक्षं सद्विषयकत्वे सति प्रत्यक्षावभासितत्वात् निर्विकल्पकवदित्यनेन सविकल्पकस्यापि साक्षात्कारिप्रमात्वमुपपन्नमिति भावः। प्रकृतमुपसंहरति—**तदेवमिति** । तत्—तस्मात् परमतस्य खण्डितत्वात्, **एवम्** उक्तरीत्या, **व्याख्यातम्** विशेषेण निरूपितम्, **प्रत्यक्षम्** सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदभिन्नाया· साक्षात्कारिप्रमायाः करणम्। अत एव गौतमोऽपि—"( यतः ) इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं ( तत् ) प्रत्यक्षमि त्यसूत्रयत्। अत्रेदमवधेयम्, लौकिकालौकिकभेदाद् द्विविधे जन्यप्रत्यक्षे सन्निकर्षो हेतु। तत्र लौकिकजन्यप्रत्यक्षे उक्ता· लौकिका· षट् सन्निकर्षा· कारणानि। एवमलौकिकजन्यप्रत्यक्षे सामान्यलक्षण-ज्ञानलक्षण—योगजाख्या अलौकिकास्त्रयः सन्निकर्षा· हेतवः।

---

सामान्यको कल्पित माना जायगा, तो कहीं उसे अकल्पित भी मानना होगा। क्योंकि-जो वस्तु एक स्थानमें कल्पित होती है, वही वस्तु कहीं अकल्पित भी होती है। जैसे-यदि रजत शुक्तिमें कल्पित है, तो वह बाजारमें वास्तविक भी है। इस तरह मानना होगा कि-शुद्ध वस्तुके समान अबाधित होनेके कारण सामान्य भी परमार्थतः सत् है और उसको विषय करनेवाला सविकल्पक भी प्रत्यक्ष तथा प्रमा है। क्योंकि-यदि निर्विकल्पकको ही प्रमा मानेंगे, तो आपका अनुमान को प्रमाण मानना असङ्गत होगा, क्योंकि-पक्षरूपधर्मीमें साध्यरूप विधेयका ज्ञान ही अनुमिति है और वह कभी निर्विकल्पक अर्थात् निर्विशेष्य विशेषण सम्बंध नहीं हो सकती। इस तरह प्रत्यक्ष प्रमाणका व्याख्यान किया।

प्रत्यक्ष ज्ञानको सभी लोग मानते हैं, इसलिये उसके करणभूत इन्द्रियोंको जाननेके लिये अनुमान प्रमाण भी सभी को मानना होगा, क्योंकि इन्द्रियोंको अतीन्द्रिय होनेके कारण उनका ज्ञान इन्द्रियोंसे नहीं हो सकता है, एवं-यदि वक्ता श्रोताओंकी मानसिक स्थिति ( ये क्या समझना चाहते हैं ) को बिना जाने बोलेगा, तो उसके वाक्य अनुपादेय हो जायगे। इसलिये वक्ता श्रोता·

अनुमानम् ।

७. लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् । येन हि अनुमीयते तदनुमानम् ।

तत्र सामान्यलक्षणेन—(यत्रेन्द्रियसंयुक्तधूमविशेष्यकं धूम इति ज्ञानं जातं तत्र) तादृशज्ञानप्रकारीभूतधूमत्वेन रूपेण भूतभाविवर्त्तमानसन्निकृष्टासन्निकृष्टसकलधूमविषयकं 'धूमाः' इति ज्ञानं जायते । एवं सकलवह्नीनां ज्ञानमपि । अत एव धूमो वह्निव्याप्यो न वेति संशय उपपद्यते । अन्यथा प्रत्यक्षधूमे वह्निसम्बन्धस्य गृहीतत्वाद् धूमान्तरस्य चानुपस्थितत्वात् तादृशसंशयानुपपत्तेः । एवं ज्ञानलक्षणेन—( यत्र दूरस्थ—सन्निकृष्टचन्दनविशेष्यकं सौरभप्रकारकं सुरभि चन्दनमिति ज्ञानं जायते तत्र ) स्वसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतज्ञानविषयत्वरूपेण सौरभत्वस्य भानं भवति । तथा योगजेन श्रुत्यादिप्रतिपाद्ययोगाभ्यासजनितधर्मविशेषरूपेण योगिना सकलवस्तुविषयकं ज्ञानं जायते इति ।

एवं प्रत्यक्षं निरूप्य तदुपजीवकत्वात् बहुवादिसम्मतत्वाच्चानुमानं निरूपयति—**लिङ्गपरामर्श इति** । लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्, अथवा लिङ्ग्यते ज्ञायतेऽनेनेति लिङ्गम्, ( हेतुः ), तस्य परामर्शः तृतीयज्ञानं वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इत्याद्याकारकमित्यर्थः । इदं वार्त्तिककारमतेन । मणिकारमतेन तु व्याप्तिज्ञानमनुमानम् । आचार्यास्तु व्याप्यत्वेन ज्ञायमानं लिङ्गमनुमानमिति वदन्ति, तन्न, तथा सति अनागतेन विनष्टेन च लिङ्गेनानुमितिः नोपपद्येत, तदानीं लिङ्गाभावात् । ननु लिङ्गपरामर्शस्यानुमितिचरमकारणत्वेन व्यापाराभावात्तत्करणत्वं नोपपद्येतेति चेन्न, तन्मते कार्याऽव्यवहितपूर्ववर्त्तित्वविशिष्टकारणस्यैव करणत्वात् । 'कृत्यल्युटो बहुलम्"

---

-ओंकी मनोगतिको ( इन्द्रियोंसे ग्राह्य न होनेके कारण ) अनुमान प्रमाणसे जानकर ही कुछ बोलता है। अतएव सभी उपदेष्टाओंको मानना होगा कि-अनुमान भी प्रमाण है और उससे होनेवाली प्रमाका नाम है अनुमिति । उसकी साधारणतया प्रक्रिया यह है कि-अनुमाता पहले दो वस्तुओंको नियतरूपसे एक आश्रयमें विद्यमान देखता है, बादमें उन दो वस्तुओंमें से एकको कहीं देखकर वहां द्वितीयका जो ज्ञान करता है, वही होती है अनुमिति । उसे स्मृति इसलिये नहीं कह सकते कि-स्मृतिमें केवल अनुभूत तथा भूत विषय होते हैं, और अनुमितिमें भूत, भावी, वर्तमान, तथा अननुभूत ( पक्ष साध्य सम्बन्ध ) भी विषय होते हैं। इत्यादि आशयसे अब अनुमान प्रमाणका निरूपण करते हैं—

लिङ्ग—लिङ्गका जो परामर्श वह अनुमान है। क्योंकि-जिससे अनुमिति की

लिङ्गपरामर्शेन चानुमीयतेऽसौ लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् । तच्च धूमादिज्ञानमनुमितिं प्रति करणत्वात् । अग्न्यादिज्ञानमनुमितिः । तत्करणं धूमादिज्ञानम् ।

किं पुनर्लिङ्गं, कश्च तस्य परामर्शः ? उच्यते । व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम् । यथा धूमोऽग्नेर्लिङ्गम् । तथाहि, 'यत्र धूमस्तत्राग्निः'

---

"ल्युट् च" "करणाधिकरणयोश्च" इति सूत्राभ्यां कर्तृकर्मकरणाधिकरणेषु ल्युटो विधानात् । अनुमानशब्दे कस्मिन्नर्थे ल्युडिति जिज्ञासायामाह—येनेति । हि—यतः । ननु कोऽसौ लिङ्गपरामर्श इत्यत आह—तच्चेति । लिङ्गपरामर्शश्चेत्यर्थः । "उद्देश्यविधेययोरैक्यमापादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण तत्तल्लिङ्गं भजन्ते" इति नियमात् प्रकृते तच्छब्दस्य धूमादिज्ञानगतनपुंसकलिङ्गेन निर्देशः । अत एव "शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य" इत्यादिप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते । धूमादीति—पर्वतादिविशेष्यकवह्न्यादिव्याप्येत्यादिः । एवमग्रेऽपि । कुत इत्यत आह—अनुमितिमिति । तस्येत्यादिः । कासावनुमितिः यत्करणं तदित्यत आह—अग्न्यादीति । अग्निविशिष्टानुभूत्यादिः । अग्न्याद्येति शेषः ।

लिङ्गपरामर्शयोः स्वरूपं जिज्ञासमानः पृच्छति—किं पुनरिति । तस्य—लिङ्गस्य । समाधातुं प्रतिजानीते—उच्यते इति । उत्तरयति—व्याप्तीति । गमकम्—बोधकम् । तदुदाहरति—यथेति । धूमे वह्नेर्व्याप्यत्वाद्गमकत्वमुपपादयि-

---

जाती है वह अनुमान कहलाता है, और लिङ्गके परामर्शसे अनुमिति की जाती है । जैसे—पर्वतादिमें वह्न्यादिमत्ताज्ञानरूप अनुमितिके प्रति करण होनेके कारण पर्वतादिमें वह्न्यादिव्याप्यधूमादिमत्ताज्ञानरूपलिङ्गपरामर्श ही अनुमान है ।

किं पुनः (प्रश्न)—लिङ्ग कौन है ? और उसका परामर्श कौन है ?

उच्यते (उत्तर)—व्याप्तिके बलसे जो विषयका बोधक हो वह लिङ्ग है । जैसे—धूमका आगके साथ नियमरूपसे एक अधिकरणमें रहना रूप व्याप्तिके 'जहां जहां धूआं है, वहाँ वहाँ अग्नि है' इस तरह ज्ञान होने पर ही पर्वतमें देखा हुआ धूम वहाँ अग्निकी अनुमिति कराता है, इसलिये (व्याप्तिके बलसे अग्निका बोधक होनेके कारण) धूम अग्निका लिङ्ग है, और उसका जो तीसरा ज्ञान, वह लिङ्गपरामर्श कहलाता है। जैसे—कोई पहले पाकशाला, गोशाला आदिमें बार बार धूमके साथ अग्निको देखनेसे धूम और अग्निके स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) को 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इस तरह निश्चयरूपसे जानता है, अनन्तर कभी पर्वत आदिमें

इति साहचर्यनियमो व्याप्तिः, तस्यां गृहीतायामेव व्याप्तौ, 'धूमोऽग्निं गमयति, अतो व्याप्तिबलेनाग्न्यनुमापकत्वाद् धूमोऽग्नेर्लिङ्गम् । तस्य तृतीयं ज्ञानं लिङ्गपरामर्शः । तथाहि, प्रथमं तावन्महानसादौ भूयो

---

तुमाह—**तथाहीति** । व्याप्तिग्रहणाकारमाह—**यत्रेति** । व्याप्तिलक्षणमाह—**साहचर्येति** । सह चरत इति सहचरौ तयोर्भावः साहचर्यं, तस्य नियम इत्यर्थः । साहचर्यनियमो व्याप्तिस्तस्या व्याप्तौ यत्र धूमस्तत्राग्निरिति गृहीतायामेव धूम इत्यन्वयः । यद्यपि न साहचर्यमात्रं व्याप्तिः, तस्य सोपाधावपि सत्त्वात्, नापि साहचर्यनियमो व्याप्तिः, तस्य नियमपदार्थव्याप्तिघटितत्वेनात्माश्रयात् । तथापि अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिरिति सूचयितुं नियमग्रहणमिति भावः । सौगतास्तु-धूमात्मककार्येण वह्निरूपकारणस्य, शिंशपया तादात्म्याद् वृक्षत्वस्य चानुमान पश्यन्तः "कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् । अविनाभावनियमो दर्शनान्तरदर्शनादि"ति वचनेन तादाम्यतदुत्पत्तिभ्यामेवाविनाभाव इति व्यवस्थापयन्ति, तन्न, रसादिरूपाद्योः कार्यकारणभावस्य तादात्म्यस्य चासत्त्वेऽपि रसादिना रूपाद्यनुमानस्य दर्शनात् ॥ बलपदप्रयोगसूचितमाह—**पवेति** । नान्यथेति भावः । फलितमाह—**अत इति** । यत उक्तरीत्या तत्र व्याप्तिज्ञानस्यावश्यकता, अत इत्यर्थः । एवं लिङ्गस्वरूपं निरूप्य लिङ्गपरामर्शस्वरूपं निरूपयति—**तस्येति** । लिङ्गस्येत्यर्थः । तृतीयादिशब्दस्य सापेक्षत्वात् प्रथमादिज्ञान निरूपयन् लिङ्गतृतीयज्ञाने लिङ्गपरामर्शत्वमुपपादयितुमाह—**तथाहीति** । **तावदिति**—वाक्यालङ्कारे । **आदिना** गोष्ठचत्वरादिपरिग्रहः ।

---

धूमको देखनेसे धूम और अग्निकी व्याप्तिको उसी तरह स्मरण करता है, अनन्तर पर्वतमें धूमका 'पर्वतमें वह्निव्याप्य धूम है' इस तरह परामर्श करता है, बादमें उसे पर्वतमें अग्निकी 'पर्वतमें अग्नि है' इस तरह अनुमिति होती है। ऐसी स्थितिमें-पाकशाला आदिमें जो धूमका ज्ञान वह प्रथम है, बादमें पर्वतमें जो धूमका ज्ञान वह द्वितीय है, अनन्तर पर्वतमें जो ( वह्निव्याप्य ) धूमका ज्ञान वह तृतीय है, इसलिये वही लिङ्गपरामर्श है । इस तृतीय ज्ञानसे ही पर्वतमें अग्नि की अनुमिति होती है, इसलिये इसे अवश्य मानना चाहिये, अन्यथा व्याप्तिस्मरण तक ही होकर रह जायगा ।

नोट—प्रकृतसम्बद्ध होनेके कारण पृ० ५८ के 'तदनेन न्यायेन' से लेकर 'ज्ञानमुत्पद्यते' तकका आशय यहीं लिख दिया है ।

भूयो धूमं पश्यन् वह्निं पश्यति, तेन भूयोदर्शनेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकं संबन्धमवधारयति 'यत्र धूमस्तत्राग्निः' इति ।

यद्यपि 'यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं, तत्र तत्र श्यामत्वमपि' इति भूयोदर्शनं समानमवगम्यते, तथापि मैत्रीतनयत्व-श्यामत्वयोर्न स्वाभाविकः संबन्धः, किन्त्वौपाधिक एव, शाकाद्यन्नपरिणामस्योपाधेर्विद्यमानत्वात् । तथाहि श्यामत्वे मैत्रीतनयत्वं न प्रयोजकं, किं तु शाकाद्यन्नपरिणतिभेद

---

भूयोभूयः—पुनः पुनः । तेनेति—धूमवह्निसहचारविषयकेणेत्यर्थः । तत इत्यादि । भूयोदर्शनेन—असकृद्दर्शनेन । स्वाभाविकम्—अनौपाधिकम् । अवधारणाकारमाह—यत्रेति ।

नासकृत्सहचारदर्शनमात्रेण धूमाग्न्योर्व्याप्तिरवधार्यते किन्तु उपाध्यभावग्रहण, भूयःसहचारदर्शनजनितसंस्कारसहकृतेन शाब्दत्र्याद्रिप्रत्यक्षेणेत्युपपादयितुं भूमिकामारचयति—यद्यपीति । भूयोदर्शनमिति—मैत्रीतनयत्वश्यामत्वयोः सहचारस्येत्यादिः । यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति धूमाग्न्योः सहचारस्य भूयोदर्शनेनेति शेषः । औपाधिकः—उपाधेर्जातः । कुत इत्यत आह—शाकादीति । तत्रेत्यादिः । तस्योपाधित्वं व्यवस्थापयितुं प्रतिजानीते—तथाहीति । कश्चित् मैत्र्याः प्राचीनसप्तपुत्रेषु श्यामत्वं साक्षात्कृत्य तदीयभाविनमष्टमपुत्रं पक्षीकृत्येत्यमनुमिमीते—विमतस्तदीयाष्टमपुत्रः श्यामो भवितुमर्हति मैत्रीतनयत्वात् सम्प्रतिपन्नसप्तमैत्रीतनयवदिति । तत्रापर आह—श्यामत्वे इति । ननु तस्योपाधित्वप्रतिपा-

---

यद्यपि—जिस साध्य और जिस हेतुका सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं होता अर्थात् किसी उपाधिके प्रयुक्त ही होता है उस साध्य और उस हेतुके सहवृत्तित्वको वारवार देखने पर भी उस हेतुमें उस साध्यसे निरूपित व्याप्तिका निश्चय नहीं होता है। अर्थात् जिस साध्य और जिस हेतुके सम्बन्धका प्रयोजक कोई उपाधि उपलब्ध नहीं होती, उसी साध्य और उसी हेतुके सहवृत्तित्वको वारवार देखनेसे उस हेतुमें उस साध्यसे निरूपित व्याप्तिका निश्चय होता है। जैसे—श्यामत्वके साथ मित्रातनयत्वका और पापसाधनत्वके साथ हिंसात्वका सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है, किन्तु शाकाद्यन्नपरिणतिभेद तथा शास्त्रनिषिद्धत्वरूप उपाधिके प्रयुक्त ही है, इसलिये श्यामत्वके साथ मित्रातनयत्वके और पापसाधनत्वके साथ हिंसात्वके सहवृत्तित्वको वारवार देखनेपर भी, मित्रातनयत्वमें श्यामत्वसे तथा हिंसात्वमें पापसाधनत्वसे

एव प्रयोजकः । प्रयोजकश्चोपाधिः, इत्युच्यते । न च धूमाग्न्योः

---

दनमुपक्रम्य प्रयोजकत्वप्रतिपादनं न युक्तमित्यत आह—प्रयोजकश्चेति । केवलं संज्ञाभेदो न तु संज्ञिभेद इत्याशयः । उपाधिश्च साध्यत्वाभिमतसमव्यापकत्वे सति साधनत्वाभिमताव्यापकः । तत्र शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटवदित्यत्र सकर्तृकत्वस्योपाधितानिरासाय विशेष्यदलम् । तथा तत्रैव घटत्वस्योपाधित्वव्यावृत्तये सत्यन्तदलम् । एवं तत्रैवाश्रावणत्वस्योपाधितानिराकरणाय समपदम् । स उपाधिः द्विविधः, निश्चित-शङ्कितभेदात् । तत्र पर्वतो धूमवान् वह्नेरित्यत्र आर्द्रेन्धनसंयोगो निश्चितोपाधि, तादृशव्यापकत्वादिनिर्णयात् । एवमुक्तस्थले शाकाद्याहारपरिणामभेदः शङ्कितोपाधिः, तादृशाव्यापकत्वाद्यनिश्चयात् । ननु नीलघटादौ श्यामत्वसत्त्वेऽपि शाकाद्याहारपरिणतिभेदाभावात् तत्र तस्योपाधिता नोपपद्येतेति चेन्न, यद्धर्मावच्छिन्नसाध्यत्वाभिमतसमव्यापकत्वे सति तद्धर्मावच्छिन्नसाधनत्वाभिमताव्यापक उपाधिरिति विवक्षणेन मैत्रीतनयत्वावच्छिन्नश्यामत्वव्यापकस्य शाकाद्याहारपरिणामभेदस्य तदवच्छिन्नसाधनत्वाभिमताव्यापकत्वेन सामञ्जस्यात् । उपाधेर्दूषकता च—हेतौ स्वव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमापकतया, पक्षे स्वाभावेन साध्याभावानुमापकतया वा । तत्रापि—यत्र शुद्धसाध्यत्वाभिमतसमव्यापक उपाधिस्तत्र शुद्धेनैवोपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमानम् । यथा तत्र वह्निर्धूमव्यभिचारी तद्व्यापकार्द्रेन्धनसंयोगव्यभिचारित्वादिति । यत्र तु किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नसाध्यत्वाभिमतसमव्यापक उपाधिस्तत्र तद्धर्मवति उपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमानम् । यथा तत्र मैत्रीतनयत्वं श्यामत्वव्यभिचारि मैत्रीतनये तद्व्यापकशाकाद्याहारपरिणतिभेदव्यभिचारित्वादिति । एवमयोगोलकं धूमवद्वह्नेरित्यादौ अयोगोलकं धूमाभाववत् तद्व्यापकार्द्रेन्धनसंयोगाभावादित्यादिरीत्योपाध्यभावेन साध्याभावानुमानं बोध्यम् । यथा जपाकुसुमं स्वसन्निहितस्फटिके स्वगतरक्तिमानमाधाय रक्तः स्फटिक इति व्यवहारञ्जनयदुपाधिपदवाच्यता लभते, तथा आर्द्रेन्धनसंयोगादिरपि स्वसन्निहितवह्न्यादौ स्वगत-धूमादिनिरूपितव्याप्तिमाधाय धूमादिव्याप्यो वह्न्यादिरिति व्यवहारं प्रयोजयन् उपाधिशब्दवाच्यतां भजते । तस्य सर्वत्र साध्यत्वाभिमतसमव्यापकता दृष्टान्ते, तथा साधनत्वाभिमताव्यापकता पक्षे, प्राप्नोति भावः॥

ननु मैत्रीतनयत्वश्यामत्वयोरिव धूमाग्न्योरपि सम्बन्धे कश्चिदुपाधिर्वर्त्ततामित्यत

---

निरूपित व्याप्तिका निश्चय नहीं होता है । और वह्निके साथ धूमका सम्बन्ध

संबन्धे कश्चिदुपाधिरस्ति । अस्ति चेत्, योग्योऽयोग्यो वा । अयोग्यस्य शङ्कितुमशक्यत्वाद्, योग्यस्य चाऽनुपलभ्यमानत्वात् । यत्रोपाधिरस्ति तत्रोपलभ्यते । यथा, अग्नेर्धूमसंबन्धे आर्द्रेन्धनसंयोगः । हिंसात्वस्य चाऽधर्मसाधनत्वेन सह संबन्धे, निषिद्धत्वमुपाधिः । मैत्रीतनयत्वस्य च श्यामत्वेन सह संबन्धे शाकाद्यन्नपरिणतिभेदः । न चेह धूमस्याग्निसाहचर्ये कश्चिदुपाधिरस्ति, । यद्यभविष्यत्तदाऽद्र-

---

आह—न चेति । कुत इत्यत आह—अस्तीति । ( तत्रोपाधिं वदतां भवतां मते ) तत्रोपाधिरित्यादिः । चेदिति—यदीत्यर्थः । तर्हि स इति शेषः । व्युत्क्रमेण तं विकल्पं खण्डयति—अयोग्यस्येति । तत्र न चरम इत्यादिः । यदि सर्वत्रायोग्योपाधिना सम्बन्धः सोपाधिः स्यात्तर्हि अनुमानमात्रमुच्छिद्येत । न च तस्येष्टताऽभ्युपगन्तुं शक्या, तथा सति परसंशयादीनजानन् वादी प्रेक्षावद्भिरुन्मत्तवदुपेक्ष्येतेति भावः । योग्यस्य चेति—नापि प्रथम इत्यादिः । तदुपपादनायाह—यत्रेति । योग्य इति शेषः । तत्रेति स इति शेषः । तत्रोदाहरति—यथेति । तदुदाहरणान्तरमाह—हिंसात्वस्य चेति । यथेत्यनुषज्यते । अहिंसा परमो धर्मस्तत्त्वधर्मः प्राणिनां वध इत्यभिमानवाञ्जैन इत्यमनुमिनोति—यागान्तर्वर्तिहिंसा अधर्मसाधनं हिंसात्वात् तद्बहिर्वर्तिहिंसावदिति । तत्र श्रुत्यनुयायी ब्रूते—अधर्मसाधनत्वे हिंसात्वं न प्रयोजकम्, किन्तु निषिद्धत्वमेवेति । धर्माधर्मयोरतीन्द्रियतया प्रत्यक्षस्य तदुपजीवकानुमानस्य चाविषयत्वात् स्वतः प्रमाणभूतवेदशब्द एव तत्स्वरूपसाधनफलेषु प्रमाणतामर्हतीति धर्मसाधनत्वे तद्विहितत्वम्, अधर्मसाधनत्वे च तन्निषिद्धत्वं प्रयोजकं भवति, न त्वन्यदित्याशयः । उपाधिरिति—अस्य पूर्वपराभ्यामप्यन्वयः । एवन्तत्र निश्चितोपाधि ( स्थल ) द्वयमुदाहृत्य शङ्कितोपाधि ( स्थल ) मुदाहरति—मैत्रीति । यथेत्यनुषज्यते । इह—प्रकृते । तद् विवृणोति—धूमस्येति । उपाधिरिति—योग्य इत्यादिः । ननु अत्र स नास्तीति कथमवगम्यते इत्यत आह—यदीति । अत्र स इति शेषः । तदेति—

---

स्वाभाविक है, क्योंकि—योग्य होनेके कारण इन दोनोंके सम्बन्धका प्रयोजक यदि कोई होता, तो वह भी योग्य ही होता, अतः यहाँ अयोग्य उपाधिकी शङ्का ही नहीं हो सकती है, ऐसी स्थितिसे बची यहाँ योग्य उपाधिकी शङ्का, किन्तु वह भी ठीक नहीं, क्योंकि—योग्य होकर जो जहाँ रहता है, वह वहाँ अवश्य उपलब्ध होता है, यदि वह वहाँ नहीं मिलता है, तो समझना चाहिये कि वह वहाँ नहीं है । जैसे—

दयत् । ततो दर्शनाभावान्नास्ति, इति तर्कसहकारिणानुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवोपाध्यभावोऽवधार्यते । तथा च, उपाध्यभावग्रहणजनितसंस्कारसहकृतेन भूयोदर्शनजनितसंस्कारसहकृतेन साहचर्यग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योर्व्याप्तिरवधार्यते । तेन धूमाग्न्योः स्वाभाविक एव संबन्धः न त्वौपाधिकः । स्वाभाविकश्च संबन्धो व्याप्तिः ।

---

तमिति शेषः । **तत इति**—यतो न दृश्यते इत्यादिः । तत इति विवृणोति—**दर्शनाभावादिति । तर्केति**—तर्कः सहकारी यस्येति व्युत्पत्तिः । **अनुपलम्भेति**—योग्येत्यादिः । योग्यता च प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा । अनुपलम्भेन सनाथः ( सहकृत० ) इति व्युत्पत्तिः । एतेनानुमानादिनिरासः । एवमग्रेऽपि । **उपाध्यभाव इति**—अत्र योग्योपाध्यभाव इत्यर्थः । तथा सति फलितमाह—**तथा चेति ।** व्यभिचारादर्शनसहकृतं सहचारदर्शनं व्याप्तिग्राहकम् । व्यभिचारादर्शनश्च व्यभिचारज्ञानाभाव० । व्यभिचारज्ञानश्च संशयनिश्चयसाधारणम् । उपाधिसंशयाहितश्च व्यभिचारसंशय उपाध्यभावावधारणेन निवर्त्तते इत्यभिप्रायेण उपाध्यभावग्रहणजनितसंस्कारस्य, अनुकूलतर्कसाधकतया भूयः सहचारदर्शनजनितसस्कारस्य च व्याप्तिग्रहोपायता प्रदर्शितेत्याशयः । **भूयोदर्शनेति**—भूयः सहचारदर्शनेत्यर्थः । प्रसङ्गादागतमुपसंहरति—**तेनेति ।** धूमाग्न्योः सम्बन्धे उपाधेर्निराकरणेनेत्यर्थः । एवव्यवच्छेद्यमाह—**न त्विति ।** ननु स्वाभाविकसम्बन्धावधारणमुपक्रम्य व्याप्त्यवधारणोपसंहरणं न युक्तमित्यत आह—**स्वाभाविकश्चेति ।** संज्ञाभेदमात्रं न तु संज्ञिभेद इति भावः ।

---

धूमके साथ वह्निके सम्बन्धका प्रयोजक आर्द्रेन्धनसयोग योग्य होकर वहाँ रहता है, अतः वह वहाँ मिलता है । प्रकृतमें ( वह्निके साथ धूमके सम्बन्धका प्रयोजक ) कोई उपाधि नहीं मिल रही है, इसलिये समझते हैं कि—यहाँ कोई उपाधि नहीं है । अतः वह्निके साथ धूमके सहवृत्तित्वको बारबार देखनेसे धूममें वह्निनिरूपित व्याप्तिका निश्चय होता है। क्योंकि स्वाभाविक सम्बन्ध ही व्याप्ति है । उपाधि किसको कहते है, यदि इसे जानने की इच्छा हो तो समझना चाहिये कि—उपाधि प्रयोजकको कहते हैं । जैसे—जहाँ जपाकुसुमके सन्निधानमें स्फटिकमें लालिमाकी प्रतीति होती है, वहाँ स्फटिकके साथ लालिमाके सम्बन्धका प्रयोजक जपाकुसुम ही है, इसलिये उसे उपाधि कहते हैं ।

तदनेन न्यायेन धूमाग्न्योर्व्याप्तौ गृह्यमाणायां, महानसे यद्धूमज्ञानं तत्प्रथमम्। पर्वतादौ पक्षे यद्धूमज्ञानं तद्द्वितीयम्। ततः पूर्वगृहीतां धूमाग्न्योर्व्याप्तिं स्मृत्वा 'यत्र धूमस्तत्राग्निः' इति तत्रैव पर्वते पुनर्धूमं परामृशति—अस्त्यत्र पर्वतेऽग्निना व्याप्तो धूम इति। तदिदं धूमज्ञानं तृतीयम्, एतच्चावश्याभ्युपेतव्यम्, अन्यथा 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इत्येव स्याद्, इह तु कथमग्निना भवितव्यम्? तस्माद् 'इहापि धूमोऽस्ति, इति ज्ञानमपेक्षितव्यम्। अयमेव लिङ्गपरामर्शः, अनुमितिं प्रति करणत्वाच्च **अनुमानम्**। तस्माद् 'अस्त्यत्र पर्वतेऽग्निः' इत्यनुमितिज्ञानमुत्पद्यते।

---

नन्वेतावता प्रकृते किमायातमित्यत आह—**तदनेनेति**। तत्—तस्माद् व्याप्तिग्रहणप्रकार उपपादितस्तस्मात्, **अनेन**—उपपादितेन, **न्यायेन** प्रकारेणेत्यर्थः। **महानसे**—उदाहरणे। **पर्वतादाविति**—तत इत्यादिः। अगृहीतस्य स्मरणासम्भवादाह—**पूर्वगृहीतामिति**। विशिष्टबुद्धिम्प्रति विशेषणज्ञानस्य, विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिबुद्धिम्प्रति विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य वा कारणत्वादाह—**स्मृत्वेति**। ग्रहणस्य स्मरणस्य वाऽऽकारमाह—**यत्र धूम इति**। **तत्रैव**—पक्षत्वेनाभिमत एव। **परामृशति**—अनुसन्धत्ते। परामर्शमभिनयति—**अस्त्यत्रेति**। लिङ्गदर्शनव्याप्तिस्मरणाभ्यामेवानुमितिर्भवतीति कन्दलीकारादिमतं खण्डयितुमाह—**एतच्चेति**। तृतीयज्ञानञ्चेत्यर्थः। **अवश्येति**—अत्र अवश्यमिति स्थितौ 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुङ्कामनसोरपि' इत्यनेन मलोपः। **अन्यथा**—तदनभ्युपगमे। एतस्यावच्छेदम्, प्रश्नरूपेणोपन्यस्यति—**इहेति**। पक्षत्वेनाभिमते (पर्वतादौ) इत्यर्थः। **भवितव्यमिति**—इति प्रतिवादिप्रश्ने वादी तूष्णीं स्यादिति भावः। **धूम इति**—वह्निव्याप्य इत्यादिः। एवम् पूर्वत्रापि। **ज्ञानम्**—तृतीयज्ञानम्। तृतीयज्ञानस्य प्रक्रान्तं लिङ्गपरामर्शत्वमनुमानत्वञ्च दृढीकर्तुं सम्भ्यस्यति—**अयमेवेति**। तृतीयज्ञानमेवेत्यर्थः। कथन्तस्य तां प्रति करणत्वमित्यत आह—**तस्मादिति**। तृतीयज्ञानादित्यर्थः। यत इत्यादिः।

---

'तदनेन...... उत्पद्यते' (इसका अनुवाद ५९ पृष्ठमें देखिये।)

ननु कथं प्रथमं महानसे यद्धूमज्ञानं तन्नाग्निमनुमापयति ? सत्यम् । व्याप्तेरगृहीतत्वाद् गृहीतायामेव व्याप्तावनुमित्युदयात् ।

अथ व्याप्तिनिश्चयोत्तरकालं महानस एवाग्निरनुमीयताम् । मैवम् । अग्नेर्दृष्टत्वेन संदेहस्यानुदयात् । संदिग्धश्चार्थोऽनुमीयते । यथोक्तं

---

प्रथमद्वितीयज्ञानयोरनुमितिं प्रति करणत्वासम्भवात्तृतीयज्ञानस्य तांप्रति करणताऽभ्युपगन्तव्येत्युपपादयितुं प्रथमज्ञानस्य तावत्ताम्प्रति करणत्वं शङ्कते—नन्विति । तदिति—तत्रेति शेषः । अर्द्धमभ्युपगच्छन् समाधातुमाह—सत्यमिति । तस्य प्रथमज्ञानताऽङ्गीक्रियते किन्त्वनुमितिजनकता नाभ्युपगम्यते इत्याशयः । समाधत्ते—व्याप्तेरिति । धूमाग्न्योरित्यादिः । ननु तयोः व्याप्तिज्ञानाभावेऽपि तेन तत्र कुतो न वह्न्यनुमितिरित्यत आह—गृहीतायामिति । अनुमितेः व्याप्तिज्ञानान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन व्याप्तिज्ञानस्यानुमितिजनकताया अनुभवसिद्धत्वादिति भावः ।

प्रसङ्गाच्छङ्कते—अथेति । धूमाग्न्योरिति शेषः । परिहरति—मैवमिति । कुत इत्यत आह—अग्नेरिति । तत्रेत्यादिः । तत्र तत्संशयानुदये हेतुमाह—दृष्टत्वेनेति । संदेहस्येति-तदित्यादिः । ननु तत्सन्देहाभावेऽपि तदनुमितिः कुतो नेत्यत आह-सन्दिग्ध इति । च-यतः । अत्र भाष्यकारोक्तिं प्रमाणयति-यथोक्त-

---

ननु—महानस ( रसोई-घर ) में जो धूमका पहला ज्ञान है, वही वहाँ आगकी अनुमिति क्यों नहीं कराता है ?

सत्यम् ( उत्तर )—महानसमें धूमके प्रथम ज्ञानसे धूम और आगकी व्याप्ति ज्ञात नहीं है, इसलिये महानसमें धूमका पहला ज्ञान वहाँ आगकी अनुमिति नहीं कराता है । क्योंकि—हेतु और साध्यकी व्याप्तिके ज्ञान होनेपर ही कहीं हेतुका ज्ञान साध्यकी अनुमिति कराता है ।

अथेति ( प्रश्न )—धूम और आगकी व्याप्तिके निश्चय होनेके वाद महानसमें धूमके ज्ञानसे वहीं आगकी अनुमिति क्यों नहीं होती है ?

मैवम् ( उत्तर )—महानसमें आगको देखनेसे वहाँ उसका संशय ही नहीं होता है, इसीलिये-धूम और आगकी व्याप्तिके निश्चय होनेके वाद भी महानसमें धूमके ज्ञानसे वहाँ आगकी अनुमिति नहीं होती है । क्योंकि-सन्दिग्ध विषयकी ही अनुमिति होती है । जैसे भाष्यकार ( वात्स्यायन ) ने कहा है कि-अज्ञात और

भाष्यकृता—'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किं तु संदिग्धे'। ( गौ. सू. वा. भा. १. १. १. )

अथ पर्वतगमनमात्रेण पुंसो यद्धूमज्ञानं तत्कथं नाग्निमनुमापयति? अस्ति चात्राग्निसन्देहः, साधकबाधकप्रमाणाभावेन संशयस्य न्याय्यत्वात्।

सत्यम्। अगृहीतव्याप्तेरिव गृहीतविस्मृतव्याप्तेरपि पुंसोऽनु-

---

मिति। अनुपलब्धे—अज्ञाते। न्यायः—अनुमानम्। सन्दिग्धे इति इतीति शेषः।

साध्यस्यानिर्णये निश्चये वा सति सन्दिग्धसाध्यकपक्षताया अनुपपत्त्या तद्घटितपूर्वोक्तलिङ्गपरामर्शरूपो न्यायो न प्रवर्तितुमर्हति, प्रतिज्ञायाः पक्षघटितत्वादिति भावः। तस्मात्तु सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावस्य पक्षतात्वेन महानसे वह्निनिर्णयदशायाम् अपक्षतायाः अनुपपत्त्या न तत्र तदनुमितिरित्याहुः। विस्मृतव्याप्तिकस्य तदनुत्पत्तिं शङ्कते—अथेति। गृहीतव्याप्तिकस्येति शेषः। धूमज्ञानमिति—पर्वते इत्यादिः। अग्निमिति—तत्रेत्यादिः। ननु महानसे इव पर्वतेऽपि तत्सन्देहाभावात् तदनुमितिर्न्येत आह—अस्ति चेति। अत्र—पर्वते। कुत इत्यत आह—साधकेति। पर्वते वह्निसत्त्व इत्यादिः। साधकञ्च बाधकञ्चेति साधकबाधके, ते एव प्रमाणे इति साधकबाधकप्रमाणे, तयोरभावस्तेनेति व्युत्पत्तिः। संशयस्येति—तत्र वह्नेरित्यादिः।

अथ तच्छङ्कामुत्तरयन्नाह—सत्यमिति। तत्र तत्संशयोऽभ्युपगम्यते किन्तु विस्मृतव्याप्तिकस्य ( तत्र ) तदनुमापकता नाङ्गीक्रियते इत्याशयः। तत्राह— अगृहीतेति। अगृहीता—अज्ञाता ( हेतुसाध्ययोः ) व्याप्तिर्येन, तस्येवेत्यर्थः। गृहीतेति—गृहीता अथ च विस्मृता (तयोः) व्याप्तिर्येन, तस्येत्यर्थः। अनुमाना-

निश्चित विषयमें अनुमानकी प्रवृत्ति नहीं होती है, किन्तु सन्दिग्ध विषयमें ही उसकी प्रवृत्ति होती है।

शङ्का ( प्रश्न )—जिसे धूम और अग्निकी व्याप्तिका निश्चय हो गया है, उसे पर्वतके निकट जाने मात्र पर जो पर्वतमें धूमका ज्ञान होता है, उसीसे वहाँ अग्निकी अनुमिति क्यों नहीं होती है? क्योंकि वहाँ अग्निकी सत्ता या असत्ताके बोधक प्रमाणोंके न रहनेसे अग्निका संशय उचित प्राप्त ही है।

समाधान ( उत्तर )—जिसे साध्य और हेतु की व्याप्तिका ज्ञान नहीं है, उसे जैसे हेतुके ज्ञानसे भी साध्यकी अनुमिति नहीं होती है; वैसे—जिसे साध्य और हेतुकी व्याप्ति ज्ञात होकर भी विस्मृत हो गयी है, उसे भी हेतुके ज्ञानसे साध्यकी अनु-

मानानुदयेन व्याप्तिस्मृतेरप्यनुमितिहेतुत्वात् । धूमदर्शनाच्चोद्‌बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति, 'यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसः' इति । तेन धूमदर्शने जाते व्याप्तिस्मृतौ भूतायां यद्‌धूमज्ञानं तत्तृतीय 'धूमवांश्चायम्' इति तदेवाग्निमनुमापयति नान्यत् । तदेवानुमानं, स एव लिङ्गपरामर्शः । तेन व्यवस्थितमेतल्लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति ।

---

नुदयेनेति—पद्ये साध्यस्येत्यादिः । स्मृतव्याप्ते' पुंसस्तत्र तस्यानुमित्युदयेन चेति शेषः । तथा च तत्र तत्संशयसत्त्वेऽपि व्याप्तिस्मरणाभावाच्च तदनुमितिरिति भावः । ननु व्याप्तिस्मरणं कथं भवतीत्यत आह—धूमदर्शनादिति । महानसादौ गृहीत-धूमाग्निव्याप्तिकः पर्वते इत्यादिः । "एकसम्बन्धिज्ञानम् ( अपरसम्बन्धिविषयक-संस्कारोद्‌बोधनद्वारा ) अपरसम्बन्धिनं स्मारयती"ति सूचनायाह—उद्‌बुद्धेति । तद्‌व्याप्तिविषयकेति शेष. । तद्‌व्याप्तिस्मरणमभिनीय दर्शयति—यो य इति । एतावता फलितमाह—तेनेति । महानसादौ गृहीतधूमाग्निव्याप्तिकस्य पर्वते इति शेष. । व्याप्तीति—तद्‌व्याप्तिविषयकसंस्कारोद्‌बोधे सतीत्यादिः । धूमेति—पर्वते वह्निव्याप्येत्यादिः । तृतीयमिति—ज्ञानमिति शेष' । तृतीयज्ञानाकारमाह—धूमवांश्चेति—वह्निव्याप्येत्यादि' । अयं—पर्वतः । इति इत्याकारकम् । पूर्वत्र परत्र च तृतीयज्ञानस्य पर्वते वह्निव्याप्यधूम इत्याकारकतायाः दर्शनेन, प्रकृते च तस्य वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इत्याकारकतायाः प्रदर्शनेन, पर्वते वह्निरित्याकारका-नुमितिं प्रति वह्निव्याप्यधूमः पर्वते इत्याकारकपरामर्शः कारणम्, तथा पर्वतो वह्नि-मानित्याकारकानुमितिं प्रति वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इत्याकारकपरामर्शो हेतुरिति सूचितम् । केचित्तु पर्वतो वह्निमानित्याद्याकारिकैवानुमितिर्भवतीति वदन्त'-पर्वते वह्निव्याप्यधूम इत्याकारकपरामर्शाव्यवहितोत्तरजायमान-पर्वतो वह्निमानित्याकार-कानुमितिं प्रति पर्वते वह्निव्याप्यधूम इत्याकारकपरामर्शः कारणम्, एवं वह्निव्याप्य-

---

मिति नहीं होती है; इसलिये मानना होगा कि-हेतु और साध्यकी व्याप्तिका स्मरण भी साध्यकी अनुमितिके प्रति कारण है । अतएव ज्ञातधूमाग्निव्याप्तिक व्यक्तिको पर्वतके निकट जाने मात्र पर जो पर्वतमें धूमका ज्ञान होता है, उससे वहाँ अग्निकी अनुमिति नहीं होती है; किन्तु धूमाग्नि व्याप्तिविषयक संस्कारके 'उद्‌बुद्ध होनेसे उस व्याप्तिकी स्मृति होती है, अनन्तर 'वह्निव्याप्य धूमवाला यह

तच्चानुमानं द्विविधम् । स्वार्थं, परार्थं चेति । स्वार्थं स्वप्रतिपत्ति-हेतुः । तथाहि, स्वयमेव महानसादौ विशिष्टेन प्रत्यक्षेण धूमाग्न्योर्व्याप्तिं

धूमवान् पर्वत इत्याकारकपरामर्शाव्यवहितोत्तरजायमान-पर्वतो वह्निमानित्याकारका-नुमितिं प्रति वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इत्याकारकपरामर्शो हेतुः। अन्यथा एकाका-रकानुमितिं प्रति भिन्नाकारकपरामर्शद्वयस्य कारणत्वे व्यतिरेकव्यभिचारापत्तेरिति वदन्ति । तृतीयज्ञानस्योपक्रान्तम् अनुमानत्वं लिङ्गपरामर्शत्वञ्च निगमयति—तदेवेति । तृतीयज्ञानमेवेत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । यत इत्यादिः । पर्वते इति शेषः । एवव्य-वच्छेद्यमाह—नान्यदिति । अत इति शेषः । प्रकृतमुपसंहरति—तेनेति । येन प्रथमद्वितीयज्ञानयोः अनुमितिकरणत्वं न सम्भवति तेनेत्यर्थः । एतत्पदनिर्देश्य-माह—लिङ्गेति ।

अनुमानं विभजते—तच्चेति । प्रकारद्वयमाह—स्वार्थमिति । कश्चित् क्वचित् स्वयमनुमाय प्रवर्त्तते, तथा क्वचित् स्वयमनुमाय परं बोधयित्वा प्रवर्त्तयति इत्यनुमानमात्रस्थले स्वार्थानुमानस्यावश्यकत्वात्तस्य प्रथममुद्देशः, पश्चाच्च परार्थानु-मानस्येत्याशयः । स्व ( स्वीयानुमेयप्रतिपत्तिरूपम् ) अर्थः ( प्रयोजनं ) यस्य तत् स्वार्थमनुमानमिति निश्चित्य तस्य लक्षणमाह—स्वार्थमिति । स्वार्थानुमानमित्य-र्थः । स्वप्रतिपत्तीति—स्वस्य या अनुमेयप्रतिपत्तिस्तस्या हेतुरित्यर्थः । वाक्या-प्रयुक्तः परामर्शः स्वार्थानुमानमिति भावः । तदुपपादयति—तथाहीति । अन्येन गृहीतस्यान्येन स्मरणासम्भवादाह—स्वयमेवेति । व्यभिचारदर्शनसहचारादर्शना-न्यतरसत्त्वे व्याप्तिज्ञानं न सम्भवतीत्यत आह—विशिष्टेनेति । व्यभिचारादर्शन-सहचारदर्शनसहकृतेन, उपाध्यभावग्रहण-भूयः सहचारदर्शनजनितसंस्कारद्वयसहकृ-

पर्वत है' ऐसा जो ज्ञान होता है, वही वहाँ अग्निकी अनुमिति कराता है, किन्तु दूसरा नहीं, इसलिये वही अनुमान और लिङ्गपरामर्श है । इससे यह फलित हुआ कि-लिङ्गपरामर्श अनुमान है ।

तच्चानुमानम्—वह अनुमान दो प्रकारका है । जैसे-स्वार्थ और परार्थ । उनमें-विना किसीके कहे जो ( पक्षमें हेतुको देखनेसे ) साध्यकी अनुमिति उसका जो हेतु उसे स्वार्थानुमान कहते हैं । जैसे-कोई खुद महानसादिमें धूम और आगके सहवृत्तित्वको बारबार देखनेसे उन दोनोंकी व्याप्तिको जानकर पर्वतके समीप गया, और वहाँ जाकर पर्वतवृत्ति अग्निका संशय करता हुआ जभी पर्वतवृत्ति अविच्छिन्न-मूल मेघ तक जाती हुई धूमलेखाको देखनेसे धूमाग्निव्याप्तिविषयक संस्कारोद्बोध के

गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ संदिहानः, पर्वतवर्तिनीमविच्छिन्नमूलामभ्रंलिहां धूमलेखां पश्यन् धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति, 'यत्र धूमस्तत्राग्निः' इति । ततो 'अत्रापि धूमोऽस्ति' इति प्रतिपद्यते । तस्माद् 'अत्र पर्वतेऽग्निरप्यस्ति' इति स्वयमेव प्रतिपद्यते तत् **स्वार्थानुमानम्** । यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं

---

तेन चेत्यर्थः । अगृहीतस्य स्मरणासम्भवादाह—**गृहीत्वेति** । गृहस्थितस्य पर्वतगताग्नौ संशयासंभवादाह—**पर्वतेति** । महानसादावग्नेर्दृष्टत्वेन तत्र तत्संशयासम्भवादाह—**तद्गते इति** । पर्वतनिष्ठ इत्यर्थः । सन्दिग्धे न्यायः प्रवर्त्तते इति नियमेन सन्देहस्याप्यनुमानाङ्गत्वादाह—**सन्दिहान इति** । अन्यत्र धूमदर्शनेनान्यत्र वह्निसंशयासम्भवादाह—**पर्वतवर्त्तिनीमिति** । यत्र अतिवेगेन गमनशीलं धूमयानम्पूर्वत्र धूमं निःसार्य परत्र गतन्तत्र धूमज्ञानाज्जायमानं वह्निज्ञानं भ्रमात्मकमेवेत्यत आह—**अविच्छिन्नेति** । अविच्छिन्नं मूलं ( मूलेन सम्बन्धो ) यस्यास्तामिति व्युत्पत्तिः । मूलमात्रसम्बद्धधूमस्य दर्शनासम्भवादाह—**अभ्रंलिहामिति** । अभ्रं लेढीति अभ्रंलिहा तामित्यर्थः । मेघचुम्बिनीमिति भावः । तद्व्याप्तिविषयकसंस्कारोद्बोधकारणमाह—**धूमदर्शनादिति** । ज्ञातयापि तत्संस्कारोद्बोधमन्तरा तत्स्मरणासम्भवादाह—**उद्बुद्धेति** । तद्व्याप्तिविषयके ति शेषः । ( संस्कारस्य ) उद्बोधः कार्योन्मुखत्वम् । विशिष्टबुद्धिम्प्रति विशेषणज्ञानस्य, विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिबुद्धिम्प्रति विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य वा कारणत्वात् परामर्शस्य व्याप्तिप्रकारकतया ततः पूर्वं तज्ज्ञानस्यावश्यकत्वादाह—**व्याप्ति स्मरतीति** । तद्व्याप्तिस्मरणाकारमाह—**यत्रेति** । **ततः**—व्याप्तिस्मरणानन्तरम् । **अत्र**—पर्वते । **धूमः**—वह्निव्याप्यधूमः । **तस्मादिति**—तृतीयज्ञानादित्यर्थः । यत इत्यादिः । **तदिति**—अत इत्यादिः । एवं स्वार्थानुमानमुपपाद्य परं ( परकीयानुमेयप्रतिपत्तिलक्षणम् ) अर्थः ( प्रयोजनं ) यस्य तत् परार्थमनुमानमिति विभावयन् क्रमप्राप्त परार्थानुमानं प्रदर्शयति—**यत्त्विति** । अत्रत्यमच्छब्दस्य पञ्चावयवमित्यादिनिर्देशकस्य परत्रस्थिततच्छब्देनान्वयः । स्वयमप्रतिपन्नः परं बोधयितुं न शक्नोतीत्यत

---

कारण उन दोनोंकी व्याप्तिका स्मरण करता है, तभी उसे 'वह्निव्याप्यधूमवाला यह पर्वत है' ऐसा ज्ञान होनेसे जो 'यह पर्वत अग्निवाला है' ऐसी स्वार्थित अनुमिति होती है उसका जो करण वह स्वार्थानुमान है । एवम्-उक्तरीतिसे अनुमिति किये

बोधयितुं पञ्चावयवमनुमानवाक्यं प्रयुङ्क्ते, तत् परार्थानुमानम् । तद्यथा 'पर्वतोऽयमग्निमान्, धूमवत्त्वात् । यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्, यथा महानसः । तथा चायं, तस्मात्तथा' इति । अनेन वाक्येन प्रतिज्ञादिमता प्रतिपादितात् पञ्चरूपोपपन्नाल्लिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते तेनैतत् परार्थमनुमानम् ।

---

आह—**स्वयमिति** । उक्तरीत्या पर्वते इति शेषः । वाक्यप्रयोगस्य स्वप्रतिपत्त्यर्थत्वासम्भवादाह—**परमिति** । **पञ्चावयवम्**—पञ्च ( प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि ) अवयवाः ( एकदेशाः ) यस्य तत् । तदुदाहरति—**तद्यथेति** । तत्र पर्वतोऽयमग्निमानिति प्रतिज्ञा, धूमवत्त्वादिति हेतुः, यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानस इत्युदाहरणम्, तथा चायमित्युपनयः, तस्मात्तथेति निगमनम् । ननु पञ्चावयव-वाक्यस्य लिङ्गपरामर्शत्वाभावात् अनुमानत्वाभावे परार्थानुमानत्वं न सम्भवति, व्यापकाभावे व्याप्यसत्ताया असम्भवादित्यत आह—**अनेनेति** । पर्वतोऽयमग्निमानित्याद्याकारकेणेत्यर्थः, यत इत्यादिः । **आदिना** हेतूदाहरणोपनयनिगमनपरिग्रहः । **पञ्चरूपोपपन्नात्**—पक्षसत्त्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षासत्त्वाबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वात्मकपञ्चरूपयुक्तात् । **लिङ्गात्**—तृतीयज्ञानविषयीभूतलिङ्गात् । **एतत्**—पञ्चावयववाक्यम् । अत्रायं क्रमः—प्रथमं प्रतिज्ञादिपञ्चवाक्यैरेकवाक्यतया

---

हुए क्योंकि पञ्चावयव ( न्याय ) वाक्यको सुननेसे परामर्श होकर जो परार्थित अनुमिति होती है, उसका जो हेतु वह परार्थानुमान है । जैसे-कोई उक्तरीतिसे पर्वतमें अग्निकी अनुमिति करके जब दूसरेको कहता है कि-(१) यह पर्वत अग्निवाला है, (२) क्योंकि इससे धूम उठ रहा है, (३) जो जो धूमवाला होता है, वह अग्निवाला अवश्य होता है, जैसे पाकगृह; (४) यह पर्वत भी धूमवाला है, (५) अतः अग्निवाला है । तब इन पाँच वाक्योंके सुननेसे श्रोताको ( वह्निव्याप्यधूमवाला यह पर्वत है ऐसा ) परामर्श होकर जो ( यह पर्वत अग्निवाला है ऐसी ) अनुमिति होती है, उसका जो हेतु वह परार्थानुमान है । उन पाँच वाक्योंमें-प्रथम है 'प्रतिज्ञा', दूसरा है 'हेतु', तीसरा है 'उदाहरण', चौथा है 'उपनय', और पाँचवाँ है 'निगमन' । अतः उन पाँच वाक्योंसे प्रतिपादित पक्षसत्त्वादिपञ्चरूपोपपन्न हेतुसे दूसरा भी अनुमिति करता है । सारांश यह है कि-१ स्वार्थानुमितिकरण लिङ्गपरामर्श स्वार्थानुमान है, तथा २ परार्थानुमितिकरण लिङ्गपरामर्शप्रयोजक पञ्चावयववाक्य परार्थानुमान है । यद्यपि ग्रन्थकारने लिङ्गपरामर्शको ही अनुमान कहा है,

अत्र पर्वतस्याग्निमत्त्वं साध्यं, धूमवत्त्वं हेतुः । स चाऽन्वयव्यतिरेकी, अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमत्त्वात् । तथाहि, 'यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्राग्निमत्त्वं, यथा महानसे' इति अन्वयव्याप्तिः । महानसे धूमाग्न्योरन्वयसद्भावात् । एवं 'यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि

---

महावाक्यार्थज्ञानं जन्यते, ततः—यदि धूमविशिष्टे वह्निवैशिष्ट्यं न स्यात्तर्हि अकारणककार्योत्पत्तिः स्यात्, यदि च हेतुमति साध्यबाधः स्यात्तर्हि प्रमाणसिद्धा तयोर्व्याप्तिर्भज्येतेत्यादि तर्करूपमानसज्ञानं भवति, ततः—वह्निव्याप्यधूमवानयमिति मानसलिङ्गपरामर्शो जन्यते, ततो वह्न्यनुमितिर्भवतीति । तथाच पञ्चावयववाक्यस्य साक्षादनुमितिसाधनत्वाभावेऽपि तत्साधनलिङ्गपरामर्शोपपादनद्वारा ( औपचारिकी ) अनुमानतेत्याशयः ॥

प्रकृते साध्यसाधनविभागं करोति—**अत्रेति** । अस्मिन् अनुमाने इत्यर्थः । **धूमवत्त्वमिति**—तत्रेत्यादिः । तत्र धूमो हेतुः किं केवलान्वयी उत केवलव्यतिरेकी, अथवान्वयव्यतिरेकीति संशये निर्णयमाह—**स चेति** । तत्र धूमो हेतुश्चेत्यर्थः । कुत इत्यत आह—**अन्वयेनेति** । अत्र तृतीया अभेदे । केचित्तु—'प्रकृते सा करणे', तथा व्याप्तीत्यस्य निश्चितेत्यादि' इति वदन्ति । एवमग्रेऽपि । **व्याप्तीति**—वह्निनिरूपितेत्यादिः । तदुपपादयति—**तथाहीति** । ननु तत्र महानसस्य दृष्टान्तता कुत इत्यत आह—**महानसे इति** । एवमग्रेऽपि । अयमित्यनेन

---

इसलिये वाक्यको अनुमान कहना ठीक नहीं है; तथापि अनुमितिसमर्थलिङ्गप्रतिपादक होनेके कारण वाक्यमें औपचारिक अनुमान शब्दका प्रयोग किया जाता है ।

अत्र—जिस धर्मीमें अनुमेयका निश्चय होता है उसे 'पक्ष' और जो अनुमेय होता है उसे 'साध्य' तथा जिससे अनुमिति होती है उसे 'हेतु' कहते हैं । जैसे-'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहाँ पर पर्वत पक्ष, होता है वह्नि साध्य, होता है और धूम हेतु होता है । हेतु तीन प्रकारका होता है, जैसे-अन्वयव्यतिरेकी, केवलव्यतिरेकी और केवलान्वयी । इनमें-अन्वयव्यतिरेकी हेतु वह होता है जिसमें अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति दोनों हों । हेतुमें साध्यका जो अव्यभिचरित साहचर्य, वही अन्वयव्याप्ति है, और साध्याभावमें हेत्वभावका जो अव्यभिचरित साहचर्य, वही व्यतिरेकव्याप्ति है । जैसे-'पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि उसमें धूम है' यहाँ पर धूम अन्वयव्यतिरेकी हेतु होता है क्योंकि उसमें-'जहाँ जहाँ धूम है

नास्ति यथा महाह्रदे' इतीयं व्यतिरेकव्याप्तिः। महाह्रदे धूमाग्न्योर्व्यतिरेकस्य सद्भावदर्शनात्। व्यतिरेकव्याप्तेस्त्वयं क्रमः। अन्वयव्याप्तौ यद्व्याप्य तदभावोऽत्र व्यापको, यत्र व्यापकं तदभावोऽत्र व्याप्य इति। तदुक्तम्—

व्याप्य-व्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।
तयोरभावयोस्तस्माद्विपरीतः प्रतीयते॥

---

निर्देश्यमाह—अन्वयेति। अत्र—व्यतिरेकव्याप्तौ। एवमग्रेऽपि। व्यापकमिति—तत्रेत्यादिः। यदपेक्षया यदधिकदेशवृत्ति, तदपेक्षया तद्व्यापकम्। एवं यदपेक्षया यदल्पदेशवृत्ति, तदपेक्षया तद्व्याप्यम्। तथा च धूमापेक्षया ( धूमाभाववदयोगोलकेऽपि सत्त्वेन ) अधिकदेशवृत्तित्वाद् वह्निस्तदपेक्षया व्यापक। एवं वह्न्यपेक्षया ( वह्निमदयोगोलकेऽसत्त्वेन ) अल्पदेशवृत्तित्वाद् धूमः तदपेक्षया व्याप्यः॥ यो भावोऽधिकदेशवृत्तिः, तदभावोऽल्पदेशवृत्तिः, एवं यो भावोऽल्पदेशवृत्तिः तदभावोऽधिकदेशवृत्तिः। तथा च वह्न्यभावापेक्षया ( वह्न्यभावाभाववदयोगोलकेऽपि सत्त्वेन ) अधिकदेशवृत्तित्वाद् धूमाभावस्तदपेक्षया व्यापकः। एवं धूमाभावापेक्षया ( धूमाभाववदयोगोलकेऽसत्त्वेन ) अल्पदेशवृत्तित्वाद् वह्न्यभावस्तदपेक्षया व्याप्यः। एवं सर्वत्रोहनीयमित्याशयः। उक्तार्थेऽभियुक्तोक्तिं प्रमाणयितुमाह—तदुक्तमिति। यस्मादुक्तप्रकारोऽस्ति, तस्मादुक्तमित्यर्थः।

हीति वाक्यालङ्कारे। तयोः—भावप्रतियोगिकयोः। विपरीत इति—व्या-

---

वहाँ वहाँ अग्नि है, जैसे महानसमें' ऐसी अन्वय व्याप्ति भी है, और 'जहाँ जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ वहाँ धूम भी नहीं है, जैसे जलाशयमें' ऐसी व्यतिरेकव्याप्ति भी है। क्योंकि धूम और अग्नि की महानसमें सत्ता और जलाशयमें असत्ता है। यहाँ एक नोट विषय समझना चाहिये कि-अन्वयव्याप्तिमें जो व्याप्य होता है, उसका अभाव व्यतिरेकव्याप्तिमें व्यापक होता है; और अन्वयव्याप्तिमें जो व्यापक होता है, उसका अभाव व्यतिरेकव्याप्तिमें व्याप्य होता है। क्योंकि-जो अधिक देशमें रहता है या बड़ा होता है, उसका अभाव अल्पदेशमें रहता है या छोटा होता है। और जो अल्पदेशमें रहता है या छोटा होता है, उसका अभाव अधिक देशमें रहता है या बड़ा होता है। जैसे-अन्वयव्याप्तिमें धूम व्याप्य होता है और वह्नि व्यापक होता है। अतः व्यतिरेकव्याप्तिमें वह्न्यभाव व्याप्य होता है और धूमाभाव व्यापक होता है। इसलिये किसीने कहा है कि—व्याप्येत्यादि।

इसका अर्थ यह है कि-जिन दो भावोंमें जैसा व्याप्यव्यापकभाव होता है, उन

अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते ।
साध्याभावोऽन्यथा व्याप्यो व्यापकः साधनात्ययः ॥
व्याप्यस्य वचनं पूर्वं व्यापकस्य ततः परम् ।
एवं परीक्षिता व्याप्तिः स्फुटीभवति तत्त्वतः ॥

( कु. श्लो. वा. १२१-१२३ )

तदेवं धूमवत्त्वे हेतावन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिरस्ति । यत्तु वाक्ये केवलमन्वयव्याप्तेरेव प्रदर्शनम्, तदेकेनापि चरितार्थत्वात्;

---

प्यव्यापकभाव इत्यनुपज्यते । प्रथमश्लोकोक्तं स्पष्टयति—**अन्वये** इति । अन्वयव्याप्ताविरयर्थः । **साध्यमिति**—तथेत्यादिः । **अन्यथा**—व्यतिरेकव्याप्तौ । **व्यापक इति**—तथेत्यादिः । **साधनात्ययः**—साधनाभाव । **व्याप्यस्येति**—तत्रेत्यादि । **व्यापकस्येति**—तथेत्यादिः । वचनमिति शेषः । **ततः**—व्याप्यवचनात् । **तत्त्वत इति**—इतीति शेषः ।

प्रकृतमुपसंहरति—**तदेवमिति** । तस्मादुक्तप्रकारेणेत्यर्थः । तत्रेति शेषः । एवमग्रेऽपि । **व्याप्तिरिति**—वह्निनिरूपितेत्यादिः । ननु धूमे वह्निनिरूपितान्वयव्यतिरेकव्याप्त्यो सत्त्वे प्रदर्शितपञ्चावयववाक्यप्रयोगे तत्र तन्निरूपितान्वयव्याप्तिमात्रप्रदर्शनं कथमित्यत आह—**यत्त्विति** । अत्रत्यदित्यस्य प्रदर्शनमित्यनेनान्वयः । **वाक्ये**—प्रदर्शितपञ्चावयववाक्यप्रयोगे । **अन्वयेति**—धूमनिष्ठवह्निनिरूपिताया इत्यादि । नन्वेकेन कृतार्थतासम्भवे विनिगमनाविरहात्तत्र तन्निष्ठतन्निरूपितव्यतिरे-

---

दो भावोंके दो अभावोंमें उसके विपरीत व्याप्यव्यापकभाव होता है । जैसे-अन्वयव्याप्तिमें हेतु व्याप्य और साध्य व्यापक होता है, तथा व्यतिरेकव्याप्तिमें साध्याभाव व्याप्य और हेत्वभाव व्यापक होता है । इनमें व्याप्यको पहले तथा व्यापकको पीछे कहना चाहिये, क्योंकि इस तरहसे परीक्षित व्याप्ति वस्तुतः स्पष्ट होती है ।

प्रश्न—जब (पर्वतमें वह्निके अनुमापक) धूम हेतुमें अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति दोनों हैं, तब वहाँ 'यो यो धूमवान्' इत्यादि वाक्यसे केवल अन्वयव्याप्तिका ही प्रदर्शन क्यों है ?

उत्तर—वहाँ व्यतिरेकव्याप्तिके अभावसे केवल अन्वयव्याप्तिका प्रदर्शन नहीं किया गया है, अपितु एकके प्रदर्शनसे ही निर्वाह हो जाता है इसीलिये वहाँ केवल अन्वयव्याप्तिका ही प्रदर्शन है ।

तत्राप्यन्वयव्याप्तेरवक्रत्वात्प्रदर्शनम् । ऋजुमार्गेण सिध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनायोगात् । न तु व्यतिरेकव्याप्तेरभावात् । तदेवं धूमवत्त्वं हेतुरन्वयव्यतिरेकी । एवमन्येऽप्यनित्यत्वादौ साध्ये कृतकत्वादयो हेतवोऽन्वयव्यतिरेकिणो द्रष्टव्याः । ( यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटवत् । यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वम् । यत्रानित्यत्वाभावस्तत्र कृतकत्वाभावः । यथा गगने ) ।

कश्चिद्धेतुः केवलव्यतिरेकी । तद्यथा—सात्मकत्वे साध्ये प्राणा-

---

कव्याप्तिरेव कुतो न दर्शितेत्यत आह—तत्रापीति । अन्वयव्यतिरेकव्याप्त्योर्मध्येऽपीत्यर्थः । अन्वयस्य—अन्वयव्याप्तेः । तत्रोपपत्तिमाह—ऋजुमार्गेणेति । अनेन-यत्रर्जुमार्गेण नेष्टसिद्धिः तत्रैव वक्रमार्गस्याश्रयणीयता सूचिता । अत एव क्वचिद् व्यतिरेकव्याप्तिप्रदर्शनमपि युक्तमेवेत्याशयः । वक्रेण—वक्रमार्गेण । उपसंहृतं निगमयति—तदेवमिति । उक्तप्रकारमन्यत्राप्यतिदिशति—एवमिति । तदुदाहरति—यथेति । अनित्यत्वमिति—यथा घटे इति शेषः । गगने इति—इत्यादिप्रयोग इति शेषः ।

एवं पक्षसत्त्वादिपञ्चरूपोपपन्नमन्वयव्यतिरेकिणं हेतुं प्रदर्श्य, पक्षसत्त्व-विपक्षासत्त्वाबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वात्मकचतूरूपोपपन्नं केवलव्यतिरेकिणं तं निरूपयति—कश्चिद्धेतुरिति । तमुदाहरति—तद्यथेति । अत्र पञ्चावयववाक्यं दर्शयति—

---

प्रश्न—जब एकके प्रदर्शनसे ही निर्वाह हो जाता है, तब वहाँ विनिगमनाविरह ( तुल्ययुक्ति ) से व्यतिरेकव्याप्तिका ही प्रदर्शन क्यों न किया ?

उत्तर—अन्वयव्याप्तिको सीधा और व्यतिरेकव्याप्तिको टेढ़ा होनेके कारण वहाँ अन्वयव्याप्तिका ही प्रदर्शन किया, क्योंकि सीधे मार्गसे सिद्ध होनेवाले कार्यका टेढ़े मार्गसे साधन करना ठीक नहीं है ।

एवम—इस तरह शब्दादिमें अनित्यत्वादिके साधक जन्यत्वादि हेतुओंको भी अन्वयव्यतिरेकी समझना चाहिये । जैसे-'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह जन्य है, जैसे घड़ा' इस स्थलमें जन्यत्वहेतु अन्वयव्यतिरेकी है । क्योंकि इसमें 'जहाँ जहाँ जन्यत्व है वहाँ वहाँ अनित्यत्व है, जैसे घड़ामें' ऐसी अन्वयव्याप्ति और 'जहाँ जहाँ अनित्यत्वाभाव है वहाँ वहाँ जन्यत्वाभाव है, जैसे आकाशमें' ऐसी व्यतिरेकव्याप्ति दोनों हैं ।

कश्चिद्—जिस हेतुमें ( पक्षसे अतिरिक्तमें साध्य और हेतुके नहीं रहनेसे

दिमत्त्वं हेतुः । यथा जीवच्छरीरं सात्मकं, प्राणादिमत्त्वात् । यत् सात्मकं न भवति, तत् प्राणादिमन्न भवति यथा घटः । न चेदं जीवच्छरीरं तथा । तस्मान्न तथेति । अत्र हि जीवच्छरीरस्य सात्मकत्वं साध्यं, प्राणादिमत्त्वं हेतुः । स च केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्याप्तेरभावात् । तथाहि यत् प्राणादिमत्तत् सात्मकं यथामुक इति दृष्टान्तो नास्ति । जीवच्छरीरं सर्वं पक्ष एव । लक्षणमपि केवलव्यतिरेकी हेतुः । यथा पृथिवीलक्षणं गन्धवत्त्वम् । विवादपदं पृथिवीति व्यवहर्तव्यम्,

---

यथेति । शरीरमेवात्मेति वादिनं चार्वाकम्प्रति देहातिरिक्तमात्मानं साधयितुमुपस्थापिते प्रकृतानुमाने शरीरमात्रस्य पक्षीकरणे मृतशरीरे प्राणादिमत्त्वाभावात् प्रकृतहेतुर्भागासिद्धः स्यादित्यत आह—**जीवदिति । आदिना**—'प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानी'ति कणादसूत्रोक्तानामपानादीना परिग्रहः । **तथा**—प्राणादिमत्त्वाभाववत् । **तस्मात्**—प्राणादिमत्त्वाभावाभावात् । **न तथा**—न सात्मकत्वाभाववत् । प्रकृते साध्यसाधनविभागं करोति—**अत्रेति । हीति**—तत्रेत्यादिः । **स च**—( तत्र ) प्राणादिमत्त्वं हेतुश्च । कुत इत्यत आह—**अन्वयेति** । तत्र सात्मकत्वनिरूपिताया इत्यादिः । तदुपपादयति—**तथाहीति । दृष्टान्तः**—अन्वयदृष्टान्त । कुत इत्यत आह—**जीवच्छरीरमिति** । यत इत्यादि । प्रसङ्गादाह—**लक्षणमपीति** । तदुदाहरति—**यथेति । गन्धवत्त्वम्**—गन्धसमानाधिकरण-द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम् । अन्यथा

---

अन्वयव्याप्तिका ज्ञान न हो ) केवल व्यतिरेकव्याप्तिका ज्ञान हो वह केवल व्यतिरेकी होता है । जैसे-'जीवितोंके शरीर सात्मक ( आत्मसहित ) हैं, क्योंकि वे प्राणादिमान् हैं जो जो सात्मक नहीं होता वह वह प्राणादिमान् नहीं होता है जैसे घड़ा, ये जीवितोंके शरीर प्राणादिमान् नहीं हैं—यह बात नहीं है—अर्थात् वे अवश्य प्राणादिमान् हैं, अत एव ये सात्मक नहीं हैं-यह बात भी नहीं है-अर्थात् वे अवश्य सात्मक हैं' । यहाँ-जीवितोंके शरीरमें सात्मकत्वका साधक प्राणादिमत्त्व हेतु केवलव्यतिरेकी है । क्योंकि उसमें 'जो जो प्राणादिमान् है वह वह सात्मक है जैसे अमुक व्यक्ति' ऐसी अन्वय व्याप्ति नहीं है । क्योंकि यहां सारे जीवितोंके शरीर पक्ष हैं और उन्हींमें सात्मकत्वादि है । किन्तु उक्तरूप-व्यतिरेक व्याप्ति ही है । एवं जब लक्ष्यरूप पक्षमें लक्षणरूप हेतुसे लक्ष्येतरभेद या लक्ष्यवाचकपद प्रयोगविषयत्वका साधन करते हैं, तब लक्षणरूप हेतु भी केवल व्यतिरेकी होता है । जैसे-

गन्धवत्त्वात् । यन्न पृथिवीति व्यवह्रियते तन्न गन्धवत्, यथापः । प्रमाणलक्षणं वा । यथा प्रमाकरणत्वम् । तथाहि—प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमिति व्यवहर्त्तव्यम्, प्रमाकरणत्वात् । यत् प्रमाणमिति न व्यवह्रियते तन्न प्रमाकरणं, यथा प्रत्यक्षाभासादि । न पुनस्तथेदं, तस्मान्न तथेति । न पुनरत्र यत् प्रमाकरणं तत् प्रमाणमिति व्यवहर्त्तव्यं यथामुक इत्यन्वयदृष्टान्तोऽस्ति, प्रमाणमात्रस्य पक्षीकृतत्वात् । अत्र च व्यवहारः साध्यो,

---

'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठतीति नियमेनोत्पत्तिकालीनघटादौ तदव्याप्तिप्रसङ्गात् । विवादपदं—पृथिवी भवति न वेति विवादास्पदम् । पृथिवीति व्यवहर्त्तव्यमिति—इदम 'इतरेभ्यो भिद्यते' इत्यस्याप्युपलक्षणम् । व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणार्थ इत्यभियुक्तवचनात् । तथा च 'पृथिवीति व्यवह्रियते' इत्यपि 'इतरेभ्यो भिद्यते' इत्यस्योपलक्षणम् । प्रकृते परमाण्वादिभूगोलकान्तपृथिव्या पक्षीकृतत्वात् सपक्षाभावः । आप इति—इत्यनुमानप्रयोगेण केवलव्यतिरेकीति शेषः । तदुदाहरणान्तरमाह—प्रमाणलक्षणं वेति । करणत्वमिति—केवलव्यतिरेकीति शेषः । तस्य केवलव्यतिरेकित्वमुपपादयति—तथाहीति । आदिना अनुमानोपमानशब्दाना परिग्रहः । अत्रापि निर्दिष्टसाध्यादेः पूर्ववत् साध्यान्तराद्युपलक्षणता । उक्तयुक्तेः । दृष्टान्तः—अन्वयदृष्टान्तः । कुत इत्यत आह—प्रमाणमात्रस्येति । व्यवहारः—प्रमाणव्यवहारः । कुत इत्यत आह—तस्येति । प्रमाणत्वस्य साध्य-

---

"पृथिवी पृथिवीपदव्यवहार विषय है, क्योंकि गन्धवाली है, जो जो पृथिवीपदव्यवहार विषय नहीं है वह वह गन्धवाला नहीं है जैसे जल" यहां गन्ध हेतु केवलव्यतिरेकी है । क्योंकि उसमें-'जो जो गन्धवाला है वह वह पृथिवीपदव्यवहारविषय है जैसे अमुक' ऐसी अन्वय व्याप्ति नहीं है । क्योंकि—यहां सारी पृथिवी पक्ष है, और उसीमें पृथिवीपदव्यवहारविषयतादि है, न कि उससे अतिरिक्तमें भी । तथा पक्षसे अन्यमें हेतु और साध्यके रहने पर ही अन्य अन्वयव्याप्ति होती है । इसलिये उक्तरूप व्यतिरेकव्याप्ति ही है । एव-'प्रमाण ( प्रत्यक्षादि ) प्रमाणपदव्यवहार विषय है, क्योंकि वह प्रमाकरण है, जो जो प्रमाणपदव्यवहार विषय नहीं है वह वह प्रमाकरण नहीं है जैसे प्रत्यक्षाभासादि' यहाँ प्रमाकरणत्व हेतु केवलव्यतिरेकी है । क्योंकि—उसमें-'जो जो प्रमाकरण है वह वह प्रमाणपदव्यवहारविषय है जैसे अमुक' ऐसी अन्वयव्याप्ति नहीं है । क्योंकि—यहां सारे प्रमाण पक्ष हैं, और उन्हींमें प्रमाणपदव्यवहारविषयतादि है । अतः उक्तरूप व्यतिरेकव्याप्ति ही है ।'

न तु प्रमाणत्वं, तस्य प्रमाकरणत्वाद्धेतोरभेदेन साध्याभेददोषप्रसङ्गात्। तदेवं केवलव्यतिरेकिणो दर्शिताः।

कश्चिदन्यो हेतुः केवलान्वयी। यथा शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्। यत् प्रमेयं तदभिधेय यथा घटः। तथा चायं तस्मात्तथेति। अत्र शब्दस्य अभिधेयत्वम् साध्यम्। प्रमेयत्वं हेतुः। स च केवलान्वय्येव। यदभिधेयं न भवति, तत्प्रमेयमपि न भवति यथामुक इति, व्यतिरेक-दृष्टान्ताभावात्। सर्वत्र हि प्रामाणिक एवार्थो दृष्टान्तः। स च प्रमेय-

---

स्येत्यर्थः। **साध्याभेददोषेति**—यत् साधनमर्हति तत् साध्यम् भवति, यच्च साधनं भवति, तत् सिद्धं सदेव साध्यं साधयितुं क्षमते। तथा च सिद्धत्वसाध्यत्वयोरेकदैकत्रावस्थातुमशक्यत्वाद् हेतोः साध्यावैशिष्ट्यं दोष इत्याशयः। प्रकृतमुपसंहरति—**तदेवमिति**। यतस्तथोपपादितं तस्मादुक्तप्रकारेणेत्यर्थः।

एवं तादृशचतूरूपोपपन्नं केवलव्यतिरेकिहेतुं निरूप्य पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वाबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वात्मकचतूरूपोपपन्नं केवलान्वयिहेतुं प्रदर्शयति—**कश्चिदन्य इति**। केवलान्वयित्वञ्च प्रतियोगिव्यधिकरणवृत्तिमदत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वम्। तत्र कपिसंयोगाभावेऽव्याप्तिवारणाय प्रतियोगिव्यधिकरणपदम्। तथा गगनाभावेऽव्याप्तिवारणाय वृत्तिमत्पदम्। तमनुमानप्रयोगप्रदर्शनेनोदाहरति—**यथेति**। प्रकृते साध्यसाधनविभागं करोति—**अत्रेति**। **स च**—( तत्र ) प्रमेयत्वं हेतुश्च। **एवे**-नान्वयव्यतिरेकि केवलव्यतिरेकिव्यवच्छेदः। कुत इत्यत आह-**यदभिधेयमिति**। ननु यन्नाभिधेयं तन्न प्रमेयं यथा गगनकुसुममिति व्यतिरेकदृष्टान्तसत्त्वे कथमुच्यते तदभाव इत्यत आह—**सर्वत्रेति**। **हि**—यतः। **एवेन**ाप्रामाणिकव्यावृत्तिः। **स च**—प्रामाणिकार्थश्च। गगनकुसुमस्याप्रामाणिकत्वाद् दृष्टान्तता न संभवतीत्या-

---

कश्चिद्—जिस हेतुमें ( साध्य और हेतु दोनोंके या केवल साध्यके या केवल हेतुके अभावोंकी अप्रसिद्धिसे व्यतिरेक व्याप्तिका ज्ञान न हो ) केवल अन्वय व्याप्तिका ज्ञान हो उसे केवलान्वयी कहते है। जैसे-'शब्द अभिधेय है, क्योंकि वह प्रमेय है, जो जो प्रमेय होता हैं वह वह अभिधेय होता है जैसे घड़ा, शब्द भी प्रमेय है, अतः अभिधेय है' यहाँ शब्दमें अभिधेयत्वका साधक प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयी है। क्योंकि उसमें-'जो जो अभिधेय नहीं है वह वह प्रमेय नहीं है जैसे असुक' ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति नहीं है। क्योंकि-संसारके सभी विषयोंके अभि-

ऽभिधेयश्चेति ।

एतेषां च अन्वयव्यतिरेकि-केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकिहेतूनां त्रयाणां मध्ये यो हेतुरन्वयव्यतिरेकी, स पञ्चरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते । न त्वेकेनापि रूपेण हीनः । तानि पञ्चरूपाणि तु पक्षधर्मत्वं, सपक्षे सत्त्वं, विपक्षाद्व्यावृत्तिः, अबाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिपक्षत्वं चेति । एतानि तु पञ्चरूपाणि धूमवत्त्वादौ अन्वयव्यतिरेकिणि हेतौ विद्यन्ते । तथाहि, धूमवत्त्वं पक्षस्य पर्वतस्य धर्मः; पर्वते तस्य विद्यमानत्वात् । एवं सपक्षे सत्त्वं, सपक्षे महानसे सद् विद्यत इत्यर्थः । एवं विपक्षान्महाह्रदाद् व्यावृत्तिस्तत्र नास्तीत्यर्थः ।

---

शयः । इति हेतुनिरूपणसमाप्तौ ॥

'पञ्चरूपोपपन्नाल्लिङ्गादि'ति प्रागुक्ते जिज्ञासितानि पञ्चरूपाणि निरूपयितुं प्रवक्रं रचयति—एतेषामिति । एवञ्च्यवच्छेद्यमाह—न त्विति । तानि पञ्चरूपाणि दर्शयति—तानीति । एभि पञ्चरूपं क्रमशः हेत्वाभासपञ्चकम् । ( असिद्धत्वं, विरुद्धत्वम्, अनैकान्तिकत्वम्, बाधितत्वम्, सत्प्रतिपक्षितत्वञ्च ) निराकारि । उदाहरणाय तेषां पञ्चरूपाणां सत्त्वं वह्निसाध्यकधूमहेतौ दर्शयति—एतानीति । धूमवत्त्वादावित्ति—यत्र वह्न्यादि साध्यता, तत्रेत्यादि । तेषां तत्र सत्त्वं क्रमेणोपपादयति—तथाहीति । धूमवत्त्वमिति—हेतुरिति शेषः । पक्षस्य—सन्दिग्ध ( वह्निरूप ) साध्यवत । कुत इत्यत आह—पर्वते इति । तस्य—धूमस्य । तथा च तत्र पक्षधर्मत्वमुपपन्नमित्याशयः । एवम्—यथा तत्र पक्षधर्मत्वन्तथा, एवमग्रेऽपि । सपक्षे—निश्चित ( वह्न्यात्मक ) साध्यवति ( महानसे ) । सत्त्वमिति—धूमहेतोरिति शेष । सदिति—धूमवत्त्वमित्यादिः । विपक्षात्—निश्चित

---

धेय ( कथनयोग्य ) और प्रमेय ( ईश्वरीय प्रमाविषय ) होनेके कारण अभिधेयत्व और प्रमेयत्वके अभावोंकी अप्रसिद्धि है । इसलिये उक्तरूप अन्वयव्याप्ति ही है ।

एतेषाम्—इन तीनों ( अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी ) हेतुओंके मध्यमें अन्वयव्यतिरेकी हेतु-"पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व" इन पांच रूपोंसे युक्त होकर ही सद्धेतु होता है और अपने साध्यका साधन करता है । अर्थात् वह इन पाँच रूपोंमें से एक रूपके भी न रहने पर असद्धेतु होकर स्वसाध्यका साधन नहीं कर सकता है । जैसे-

एवमबाधितविषयं च धूमवत्त्वम् । तथाहि धूमवत्त्वस्य हेतोर्विषयः साध्यो धर्मस्तच्चाग्निमत्त्वं तत् केनापि प्रमाणेन न बाधितं न खण्डितमित्यर्थः । एवमसत्प्रतिपक्षत्वमसन् प्रतिपक्षो यस्येत्यसत्प्रतिपक्षं धूमवत्त्वं हेतुः । तथाहि साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते । स च धूमवत्त्वे हेतौ नास्त्येवानुपलम्भात् । तदेवं पञ्चरूपाणि धूमवत्त्वे हेतौ विद्यन्ते, तेनैतद् धूमवत्त्वस्य गमकम् साधकम् ।

अग्नेः पक्षधर्मत्वं हेतोः पक्षधर्मताबलात् सिध्यति । तथाहि अनु-

---

( वह्निरूप ) साध्याभाववतः । व्यावृत्तिरिति—धूमहेतोरिति शेषः । तत्रेति—महाह्रदे इत्यर्थः । स इति शेषः । धूमवत्त्वम्—वह्निसाध्यकधूमसाधनम् । तस्य तत्त्वमुपपादयति—तथाहीति । साध्यधर्मः—साध्यरूपो धर्मः । तच्चेति—साध्यरूपो धर्मश्चेत्यर्थः । पर्वतस्येति शेषः । तत्—पर्वतस्य वह्निमत्त्वम् । असत्प्रतिपक्षत्वमिति—धूमहेतोरिति शेषः । तस्य तत्त्वमुपपादयति—तथाहीति । स च—वह्न्यभावसाधकहेत्वन्तररूपप्रतिपक्षश्च । धूमवत्त्वे—वह्निसाध्यकधूमे । कुत इत्यत आह—अनुपलम्भादिति—योग्येत्यादि । प्रकृतमुपसंहरति—तदेवमिति । फलितमाह—तेनेति । गम्लृ गतावित्यस्माद्धातोर्निष्पन्नस्य गमकपदस्य प्रापकार्थकताभ्रमवारणाय तद्विवृणोति—साधकमिति ।

ननु पक्षे धूमहेतुना पक्षसम्बन्धित्वविशिष्टवह्निः साध्यते वह्निसामान्यं वा ? नाद्यः धूमस्य पक्षसम्बन्धित्वविशिष्टवह्निना क्वचिदप्यन्वयादर्शनेन तत्र तन्निरूपितव्याप्तेः दुर्ग्रहत्वात् । न द्वितीयः, धूमसामान्यनिष्ठवह्निसामान्यनिरूपितव्याप्तिज्ञानादेव तत्र धूमदर्शने सिद्धस्य वह्निसामान्यस्य पुनस्तेन साधने सिद्धसाधनरूपदूषणापातात् । उक्तञ्च-विशेषेऽनुगमाभावात्, सामान्ये सिद्धसाधनात् । तद्द्वयानुपपन्नत्वादनुमानकथा कुतः । इति, एतन्निराकर्तुमाह—अग्नेरिति । तादृशव्याप्तिज्ञानात् पक्षे धूमदर्शने

---

अग्निका अनुमापक धूम हेतु-पर्वतमें रहनेके कारण पक्षसत्त्वसे, महानसमें रहनेके कारण सपक्षसत्त्वसे, जलाशयमें न रहनेके कारण विपक्षासत्त्वसे, पक्षमें अपने विषय ( साध्य ) अग्निके अभावका प्रमाणान्तरसे निश्चय न रहनेके कारण अबाधितविषयत्वसे, और अपने साध्य अग्निके अभावका साधक हेत्वन्तरके पक्षमें न रहनेके कारण असत्प्रतिपक्षत्वसे, युक्त है । अतः वह सद्धेतु है तथा ( पर्वतमें ) अग्निका साधन करता है ।

प्रश्न—धूम हेतु-अग्नि सामान्यका साधन करता है, या पर्वतवृत्ति अग्निका

मानस्य द्वे अङ्गे, व्याप्तिः पक्षधर्मता च। तत्र व्याप्त्या साध्यसामान्यस्य सिद्धिः। पक्षधर्मताबलात्तु साध्यस्य पक्षसम्बन्धित्वं विशेषः सिध्यति। पर्वतधर्मेण धूमवत्त्वेन वह्निरपि पर्वतसम्बद्ध एवानुमीयते। अन्यथा साध्यसामान्यस्य व्याप्तिग्रहादेव सिद्धेः कृतमनुमानेन।

यस्त्वन्योऽप्यन्वयव्यतिरेकी हेतुः, स सर्वः पञ्चरूपोपपन्न एव सद्-हेतुः। अन्यथा हेत्वाभासोऽहेतुरिति यावत्।

---

सिद्धव्याप्तिसामान्यस्येत्यर्थः। तदुपपादयति—तथाहीति। तत्र—तयोः। व्याप्त्येति—हेतुसामान्यनिष्ठसाध्यसामान्यनिरूपितव्याप्तिज्ञानेनेत्यर्थः। पक्षे हेतुदर्शने इति शेषः। पक्षधर्मतेति—हेतोरित्यादि। पर्वतधर्मेणेति—धूमसामान्यनिष्ठवह्निसामान्यनिरूपितव्याप्तौ गृहीतायां दृष्टेनेत्यादिः। अन्यथा—हेतोः पक्षधर्मताबलेन साध्ये विशेषसिद्ध्यस्वीकारे। अस्य पक्षे हेतुदर्शने इति शेषः। व्याप्तीति—हेतुसामान्यनिष्ठसाध्यसामान्यनिरूपितेत्यादिः। तथा च न 'विशेषे' इत्यादिकारिकोक्तो दोष इत्याशयः।

वह्निसाध्यकधूमहेतोः पञ्चरूपवत्त्वोपपादनस्य सकलान्वयव्यतिरेकिसद्धेतोस्तदुपपादनोपलक्षणतायाः सूचनायाह—यस्त्वन्य इति। अनित्यत्वादिसाध्यककृतकत्वादिरित्यर्थः। अपिना वह्निसाध्यकधूमस्य संग्रहः। वह्निसाध्यकधूम इव अनित्यत्वादिसाध्यककृतकत्वादिरपि स्वसद्धेतुत्वाय पञ्चरूपोपपन्नतामपेक्षते इति भावः। अन्यथा—पञ्चरूपोपपन्नत्वाभावे। अस्य हेतुरिति शेषः। अहेतुः—असद्धेतुः।

---

इनमें प्रथमपक्ष इसलिये ठीक नहीं कि—उसमें सिद्ध साधन दोष आ जाता है, क्योंकि—अग्निसामान्य सिद्ध ही है। और द्वितीय पक्ष इसलिये युक्त नहीं कि—धूममें पर्वतवृत्तिवह्निनिरूपित व्याप्तिका ज्ञान नहीं है, क्योंकि—पर्वतवृत्ति अग्निके साथ धूमका सहचार अन्यत्र कहीं नहीं देखा गया है। ऐसी स्थितिमें प्रकृतानुमिति की उपपत्ति कैसे होगी?

उत्तर—अनुमानके दो अङ्ग हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता। इनमें—हेतुसामान्यनिष्ठ साध्यसामान्यनिरूपित व्याप्तिके ज्ञानसे साध्यसामान्यकी सिद्धि होती है। और हेतुनिष्ठ पक्षधर्मताके बलसे साध्यमें पक्षसम्बन्धित्वरूप विशेषकी सिद्धि होती है। जैसे—पर्वतवृत्ति धूमसे वह्नि भी पर्वतवृत्ति ही अनुमित होता है, अन्यथा धूमसामान्यनिष्ठ वह्निसामान्यनिरूपित व्याप्तिके ज्ञानसे ही वह्निसामान्यकी सिद्धि हो जानेके कारण अनुमान व्यर्थ होजायगा। ऐसी स्थितिमें प्रकृतानुमितिकी उपपत्ति होनेमें कोई बाधा नहीं है।

केवलान्वयी चतूरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयति। तस्य हि विपक्षाद् व्यावृत्तिर्नास्ति विपक्षाभावात्।

केवलव्यतिरेकी च चतूरूपोपपन्न एव। तस्य हि सपक्षे सत्त्वं

---

अयमाशयः, यदि हेतुः पक्षधर्मत्वेन हीनस्तर्हि सोऽसिद्धो भवति, एवं यदि स सपक्षसत्त्वेन हीनस्तर्हि स पक्षविपक्षयोर्वर्त्तमानो विरुद्धो भवति, तथा यदि तस्य विपक्षव्यावृत्तिरहितता तर्हि तस्य पक्षादित्रयवृत्तित्वादनैकान्तिकता भवति, एवं यदि स बाधितविषयः तर्हि स कालात्ययापदिष्टो भवति, तथा यदि तस्य सत्प्रतिपक्षितता तर्हि तस्य प्रकरणसमता भवति। अत एव तादृशहेतुः हेतुवदाभासमानतया हेत्वाभास इत्याख्यायते'। इति।

अन्वयव्यतिरेकिसद्धेतुतः केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिसद्धेत्वो॰ वैलक्षण्यं क्रमेणोपपादयितुमाह—**केवलान्वयीति**। सद्धेतुरिति शेषः। कुत इत्यत आह—**तस्येति**। केवलान्वयिसद्धेतोरित्यर्थः। **हि**—यतः। कुतस्तस्य सा नास्तीत्यत आह—**विपक्षाभावादिति**।

केवलान्वयिसाध्यस्य सर्वत्र सत्त्वेन तादृशसाध्याभाववद्वस्तुनोऽभावादित्यर्थः। **केवलव्यतिरेकीति**। सद्धेतुरिति शेषः। **एवेति**—स्वसाध्यं साधयतीति शेषः। कुत इत्यत आह—**तस्येति**। केवलव्यतिरेकिसद्धेतोरित्यर्थः। **हि**—यतः। कुतस्त-

---

एवं केवलान्वयी हेतु विपक्षासत्त्वके अतिरिक्त उक्त चारों रूपोंसे युक्त होकर ही सद्धेतु होता है, और स्वसाध्यका साधन करता है। क्योंकि-साध्याभावकी अप्रसिद्धिके कारण विपक्षके न रहनेसे केवलान्वयी हेतुका विपक्षमें असत्त्व नहीं बन सकता है। जैसे-अभिधेयत्व का साधक प्रमेयत्व हेतु-सबको अभिधेय तथा प्रमेय होनेके कारण पक्षसत्त्व और सपक्षसत्त्वसे, कहीं अपने साध्यके अभावका निश्चायक प्रमाणान्तरके न रहनेके कारण अबाधितविषयत्वसे, और पक्षमें अपने साध्यके अभावका साधक हेत्वन्तरके न रहनेके कारण असत्प्रतिपक्षत्वसे युक्त होकर ही सद्धतु होता है, तथा शब्दमें अभिधेयत्वका साधन करता है।

एवं केवल व्यतिरेकी हेतु सपक्षसत्त्वके अतिरिक्त उक्त चार रूपोंसे युक्त होकर ही सद्धेतु होता है, तथा स्वसाध्यका साधन करता है। क्योंकि-पक्षसे अतिरिक्तमें साध्यके न रहनेके कारण सपक्षके न रहनेसे केवल व्यतिरेकी हेतुका सपक्षमें सत्त्व नहीं हो सकता है। जैसे-पृथिवीतरभेदका साधक गन्ध हेतु-पृथिवीमात्रमें रहनेके कारण पक्षसत्त्वसे, जलादिमें न रहनेके कारण विपक्षासत्त्वसे, पक्षमें अपने

नास्ति सपक्षाभावात् ।

के पुनः पक्ष–सपक्ष–विपक्षाः । उच्यन्ते । संदिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः । यथा धूमानुमाने पर्वतः पक्षः । सपक्षस्तु निश्चितसा-

---

स्य तन्नास्तीत्यत आह—सपक्षाभावादिति । केवलव्यतिरेकिसाध्यस्य क्वचिदप्य-निर्णयेन निर्णीततादृशसाध्यवद्वस्तुनोऽसत्त्वादित्यर्थः ।

पक्षादिस्वरूपजिज्ञासया पृच्छति—के इति । किंस्वरूपा इत्यर्थः । पुनरिति वाक्यालङ्कारे । लक्षणोदाहरणाभ्यां क्रमशः तान्निरूपयितुं प्रतिजानीते—उच्यन्ते इति । यथाप्रतिज्ञं तान्निरूपयति—सन्दिग्धेति । सन्दिग्धश्चासौ साध्य० सन्दिग्ध साध्यः, स धर्मो यस्य स तादृश इति व्युत्पत्तिः । 'धर्मादनिच् केवलात्' इति पा० सूत्रेण धर्मशब्दान्तादनिच् । एवमग्रेऽपि । सन्दिग्धपदानुपादाने सपक्षे पक्षलक्षणाति-व्याप्तिः स्यादित्यतस्तत्र सन्दिग्धपदमुपात्तम् । अत्राग्रे च धर्मिपदोपादानं पक्षादीनां प्रमाणसिद्धताद्योतनाय, अन्यथा सर्वत्र प्रमाणरहितवचनमात्रसम्भवेऽयं हेतुरयं हेत्वाभास इति विभागो नोपपद्येत । वस्तुतस्तु साध्यसंशयः सिषाधयिषामात्रं वा न पक्षता, विनाऽपि साध्यसंशयं सिषाधयिषां वा घनगर्जनश्रवणेन गगनं मेघवत् घनग-र्जनादित्यनुमितेर्जननात् । नापि सिद्ध्यभावमात्रं पक्षता, सिद्धिसत्त्वे सिषाधयिषायां सत्यामनुमित्यनुपपत्तेः । किन्तु सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः पक्षता, तत्र वैशिष्ट्यञ्च एककालावच्छिन्नैकात्मवृत्तित्वसम्बन्धेन । तथा च यत्र सिद्धिसिषाधयिषे सिद्ध्यभावसिषाधयिषे वा सिद्ध्यभावसिषाधयिषाभावौ वा स्तस्तत्र क्रमेण विशेषणा-भावोभयाभावविशेष्याभावप्रयुक्तविशिष्टाभावसत्त्वेन पक्षतायाः सत्त्वान्न काचनानुपप-त्तिरिति बोध्यम् । धूमानुमाने—धूमेन ( वह्नेः ) अनुमाने । एवमग्रेऽपि । सपक्ष-लक्षणे निश्चितपदानुपादाने पक्षे तदतिव्याप्तिः स्यादित्यतस्तत्राह—निश्चितेति ।

---

साध्यके अभावका प्रमाणान्तरसे निश्चय न रहनेके कारण अबाधितविषयत्वसे और पक्षमें अपने साध्यके अभावका साधक हेत्वन्तरके न रहनेके कारण असत्प्रतिपक्षत्वसे युक्त होकर ही सद्धेतु होता है, तथा पृथिवीमें स्वसाध्यका साधन करता है।

प्रश्न—पक्ष, सपक्ष और विपक्ष कौन हैं ?

उत्तर—जिसमें साध्यका संशय हो उसे पक्ष कहते हैं। जैसे-पर्वतमें धूमसे अग्निकी अनुमितिके स्थलमें पर्वत पक्ष होता है, क्योंकि उसमें अग्निका संशय है। एवं-जिसमें साध्यका निश्चय हो वह सपक्ष होता है। जैसे-उसी स्थलमें

ध्यधर्मो धर्मी । यथा महानसो धूमानुमाने । विपक्षस्तु निश्चितसाध्याभाववान् धर्मी । यथा तत्रैव महाह्रद इति ।

तदेवमन्वयव्यतिरेकि–केवलान्वयि–केवलव्यतिरेकिणो दर्शिताः । अतोऽन्ये हेत्वाभासाः । ते च असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-प्रकरण-

---

**महानस इति**—सपक्ष इति शेषः । विपक्षलक्षणे निश्चितपदानुपादाने आरोपितसाध्याभाववति तदतिव्याप्तिः स्यादित्यतस्तत्राह—**निश्चितेति** । अत्र लक्षणे साध्याभावः व्याप्यवृत्तित्वेनापि विशेषणीयः, अन्यथा वृक्षः संयोगी द्रव्यत्वादित्यत्र वृक्षे विपक्षताऽऽपद्येत । **तत्रैव**—धूमेन (वह्नेः) अनुमाने एव । **महाह्रद इति**—विपक्ष इति शेषः ।

एतावता ग्रन्थेनोपपादितमुपसंहरति—**तदेवमिति** । **दर्शिता इति**—सद्धेतव इत्यादिः । प्रसङ्गाद्धेत्वाभासान् निरूपयितुमुपक्रमते—**अत इति** । अन्वयव्यतिरेक्यादिरूपात् सद्धेतुत्रयादित्यर्थः । **अन्ये**—( गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वादित्यादौ ) अरविन्दत्वादयः । **हेत्वाभासाः**—अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितनिश्चयनिष्ठयद्रूपावच्छिन्नविषयता प्रकृतानुमितिनिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतावच्छेदिका ( एकज्ञानविषयप्रकृतहेतुतावच्छेदकत्वसम्बन्धेन ) तद्रूपाश्रयवन्तः । तत्रावच्छेदकता अनतिरिक्तवृत्तित्वरूपा, तेन हेतुदोषैकदेशमादाय हेतोर्न दुष्टता । अनुमितिपदञ्च अनुमितितत्करणान्यतरपरम्, अत एव सव्यभिचारे नाव्याप्तिः । तान् विभजते—**ते चेति** । हेत्वाभासाश्चेत्यर्थः । वात्या असिद्धाख्यम् एकमेव हेत्वाभासं मन्यन्ते, भट्टाश्च असिद्धविरुद्धसव्यभिचाराख्यं त्रयमेव हेत्वाभासम् अभ्युप-

---

महानस, सपक्ष होता है क्योंकि उसमें अग्निका निश्चय है । एवं-जिसमें साध्यके अभावका निश्चय हो उसे विपक्ष कहते हैं । जैसे-उसी स्थलमें महाह्रद, विपक्ष होता है क्योंकि-उसमें अग्निके अभावका निश्चय है ।

इस तरह-दिखाये गये 'अन्वयव्यतिरेकी केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी हेतु' सत् ( अच्छे ) हेतु हैं । और इनसे अन्य हेतु हेत्वाभास ( बुरे हेतु ) हैं । हेतुओंकी सत्ता ( अच्छापन ) के लिये-सामान्यतः-व्याप्ति, पक्षधर्मता, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व; तथा विशेषतः-कहीं सपक्षसत्त्व भी, कहीं विपक्षासत्त्व भी और कहीं ये दोनों भी अपेक्षित हैं और इनमें ,आंशिक भी विघटन होने पर हेतुओं में असत्ता ( बुरापन ) आ जाती है । इस लिये हेत्वाभास-'असिद्ध, विरुद्ध,

क्ष-कालात्ययापदिष्टभेदात् पञ्चैव ।

१. तत्र लिङ्गत्वेनानिश्चितो हेतुः असिद्धः । स चासिद्धस्त्रिविध आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धो, व्याप्यत्वासिद्धश्चेति । आश्रयासिद्धो यथा—गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् , सरोजारविन्दवत् । अत्र गगनारविन्दमाश्रयः, स च नास्त्येव । स्वरूपासिद्धो यथा—शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वात् , घटवत् । अत्र चाक्षुषत्वं हेतुः, स च शब्दे नास्त्येव,

---

शब्दान्ति, अतो हेत्वाभासस्य तत्तद्विशेषलक्षणकथनमित्याह—पञ्चेति ।

अथ असिद्धादिपञ्चविधहेत्वाभासानां क्रमेण लक्षणान्युदाहरणानि च निरूपयन् यथाक्रमं तेषां भेदान्, तथा भेदानां लक्षणान्युदाहरणानि च निरूपयितुमारभते—तत्रेति । असिद्धादिपञ्चविधहेत्वाभासानां मध्ये इत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । तत्र यथाक्रमं प्रथममसिद्धस्य लक्षणमाह—लिङ्गत्वेनेति । व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मत्वेनेत्यर्थः । अत एव हेतौ व्याप्त्यभावे व्याप्यत्वासिद्धिः, पक्षाभावे आश्रयासिद्धिः, तथा हेतौ पक्षधर्मत्वस्याभावे स्वरूपासिद्धिः । उक्तं उदयनाचार्येण—व्याप्तस्य पक्षधर्मतप्रतीतिः सिद्धिस्तदभावोऽसिद्धिरिति । ननु स कतिविध इत्यत आह—स चेति । ननु तस्य के त्रयः प्रकारा इत्यत आह—आश्रयेति । आश्रयेणासिद्ध इति, असिद्ध आश्रयो यस्येति वा व्युत्पत्तिः । द्वितीयपक्षे 'वाहिताग्न्यादिषु' इति पा० सूत्रेण निष्ठान्तस्य परनिपातः । एवमग्रेऽपि । इतिः तद्भेदसमाप्तौ । क्रमेण त्रयाणामसिद्धाना-मुदाहरणान्याह—आश्रयेति । सरोजारविन्दवदिति—इदमरविन्दत्वहेतुरिति शेषः । कुत इत्यत आह—अत्रेति । स च इत्यादि । घटवदिति—इत्यत्र चाक्षुषत्वहेतुरिति शेषः । कुत इत्यत आह—अत्रेति । स च इत्यादि । ननु कुतस्तत्र

---

अनैकान्तिक, प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट के भेद से पांच प्रकार के हैं ।

१—तत्र—इनमें-पक्ष या पक्षवृत्तित्व या व्याप्ति की अनुपपत्ति से अनुपपन्नसाधकताक जो हेतु, उसे असिद्ध कहते हैं और वह तीन प्रकार का है, जैसे-आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध । इनमें-पक्ष के अभाव से अनिश्चितसाधकताक जो हेतु, वह आश्रयासिद्ध है। जैसे-'गगनकमल सुगन्धवाला है, क्योंकि इसमें कमलत्व है, जैसे सरोवर का कमल' यहां कमलत्व हेतु आश्रयासिद्ध है, क्यों कि इसके आश्रयभूत (पक्ष) गगनकमल का सर्वथा अभाव ही है। पक्ष-पक्ष में न रहने से अनुपपन्नसाधकताक जो हेतु, उसे स्वरूपासिद्ध कहते हैं। जैसे-'शब्द अनित्य है,

तस्य श्रावणत्वात्। व्याप्यत्वासिद्धस्तु द्विविधः। एको व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावमात्रात्। अपरस्तूपाधिसद्भावात्। तत्र प्रथमो यथा—शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्। यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरपटलं, तथा च शब्दादिरिति। न च सत्त्व-क्षणिकत्वयोर्व्याप्तिग्राहकं प्रमाणमस्ति। सोपाधिकतया सत्त्वस्य व्याप्यत्वासिद्धौ उच्यमानायां क्षणिकत्वमन्यप्रयुक्तमित्यभ्युपगतं स्यात्।

---

तन्नास्तीत्यत आह—तस्येति। शब्दस्येत्यर्थः। क्रमागतं तृतीयमसिद्धमुदाहर्तुं प्रथमं तं विभजते—व्याप्यत्वेति। कुत इत्यत आह—एक इति। यत इत्यादिः। स इति शेषः। अपर इति—स इति शेषः। तयोः प्रथममुदाहरति—तत्रेति। प्रथमः—व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावप्रयुक्तव्याप्यत्वासिद्धः। शब्दादिरिति—तस्मात्तथेत्यत्र सत्त्वहेतुरिति शेषः। वस्तुतस्तु उपनयोदाहरणाख्यावयवद्वयाभ्युपगन्तृसौगतमतेन समुपस्थापितेऽनुमानप्रयोगे अवयवद्वयोपन्यास एव युक्तः। अत्र क्षणिकत्वञ्च द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्, एकक्षणोत्पत्तिस्थितिमत्त्वं वा॥ कुत इत्यत आह—न चेति। न हि ( यतः ) इत्यर्थः। ग्राहकमिति—तयोः सहचारदर्शनरूपमिति शेषः। ननु क्षणिकत्वसाधनायोपन्यस्तस्य सत्त्वहेतोरुपाधिसत्त्वादेव व्याप्यत्वासिद्धता कुतो नोच्यते इत्यत आह—सोपाधिकतयेति। सत्त्वस्य—क्षणिकत्वसाध्यकसत्त्वहेतोः। क्षणिकत्वमिति—न सत्त्वप्रयुक्तमपि त्विति शेषः। इतीति—अभ्युपगम्यमाने क्वचित्क्षणिकत्वमिति शेषः। स्यादिति—तच्च नेष्टम्, एकक्षणमात्रस्थायित्वरूपक्षणिकत्वस्य सौगतसम्मतस्य क्वाप्यदर्शनादिति शेषः। तथा च सत्त्वक्षणिकत्वयोर्व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावादेव क्षणिकत्वसाध्यकसत्त्वहेतोर्व्याप्यत्वासिद्धतोक्तिर्युक्तेत्याशयः।

---

क्यों कि उसमें चाक्षुषत्व है, जैसे घडा, यहां चाक्षुषत्व हेतु स्वरूपासिद्ध है, क्यों कि श्रावण होने के कारण शब्द ( पक्ष ) में उसका अभाव ही है। एवं–व्याप्ति की अनुपपत्ति से अनिश्चितसाधकताक जो हेतु, वह व्याप्यत्वासिद्ध है और वह दो प्रकार का है, जैसे–व्याप्ति ग्राहक प्रमाणाभाव प्रयुक्त और उपाधिसत्त्व प्रयुक्त। इनमें—'शब्द क्षणिक है, क्यों कि उसमें सत्ता है, जो जो सत् है वह वह क्षणिक है जैसे मेघमाला, यहां सत्त्व हेतु, व्याप्तिग्राहक प्रमाणाभाव प्रयुक्त व्याप्यत्वासिद्ध है। क्यों कि क्षणिकत्वके साथ सत्त्व की व्याप्ति का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। यहां सत्त्व हेतु को यदि उपाधि सत्त्व प्रयुक्त व्याप्यत्वासिद्ध कहा जायगा, तो बौद्धसि-

द्वितीयो यथा—क्रत्वन्तरवर्तिनी हिंसाऽधर्मसाधनं हिंसात्वात् , क्रतुबाह्यहिंसावत् । अत्र ह्यधर्मसाधनत्वे हिंसात्वं न प्रयोजकं, किं तु निषिद्धत्वमेव । प्रयोजकमुपाधिरिति यावत् । तथाहि साध्यव्यापकत्वे सति, साधनाव्यापक उपाधिः इत्युपाधिलक्षणम् । तच्चास्ति निषिद्धत्वे । निषिद्धत्वं हि साध्यस्याऽधर्मसाधनत्वस्य व्यापकम् । यतो यत्र यत्राऽधर्मसाधनत्वं, तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वमपीति । एवं साधनं हिंसात्वं न व्याप्नोति निषिद्धत्वम् । न हि यत्र यत्र हिंसात्वं, तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्व, यज्ञीयपशुहिंसाया निषिद्धत्वाभावात् । तदेवं

---

द्वितीयमुदाहरति—द्वितीय इति । उपाधिसत्त्वप्रयुक्तव्याप्यत्वासिद्ध इत्यर्थः । हिंसावदिति—इति 'अहिंसा परमो धर्मस्त्वधर्म· प्राणिनां वधः' इति वदता जैनेनोपस्थापितेऽनुमानप्रयोगे हिंसात्वहेतुरिति शेष· । कुत इत्यत आह—अत्रेति । हि—यत । ननु किमुपाधिलक्षणम् , कथञ्च तत् प्रकृते समन्वेतीति जिज्ञासायामुपपादयति—तथाहीति । अत्र साध्यपदं, साधनपदञ्च साध्यत्वाभिमतपरम् , तथा साधनत्वाभिमतपरम् , उपाधिस्थाने वस्तुत· साध्यत्वस्य साधनत्वस्य चासम्भवात् । तच्च—उपाधिलक्षणञ्च । कुत इत्यत आह—निषिद्धत्वमिति । हि—यतः । ननु कुत तत् तस्य व्यापकमित्यत आह—यत इति । एवं निषिद्धत्वस्य साध्यव्यापकतां प्रदर्श्य साधनाव्यापकतां दर्शयति—एवमिति । यथा साध्यमधर्मसाधनत्वं व्याप्नोति निषिद्धत्वमित्यादिरिति कथित । कुत इत्यत आह—न हीति । न यत

---

मत द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वरूप क्षणिकत्व को कहीं मानना होगा, अन्यथा वह उपाधि प्रयुक्त कहीं नहीं हो सकेगा । एव-'यज्ञ के अन्दर होने वाली हिंसा पाप साधन है, क्यों कि उसमें हिंसात्व है, जैसे यज्ञ के बाहर होने वाली हिंसा, यहां हिंसात्व हेतु उपाधि सत्त्व प्रयुक्त व्याप्यत्वासिद्ध है क्यों कि-पापसाधनत्व का प्रयोजक शास्त्र निषिद्धत्व ही है, न कि हिंसात्व । अतः शास्त्र निषिद्धत्व प्रयुक्त पापसाधनत्व के साथ व्याप्त्युपजीवी हिंसात्व, सोपाधिताप्रयुक्त व्याप्यत्वासिद्ध है । जो साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक हो उसे उपाधि कहते हैं । प्रकृत में-शास्त्र निषिद्धत्व, पापसाधनत्व का व्यापक है, क्यों कि जहां जहां पापसाधनत्व है वहां वहां शास्त्रनिषिद्धत्व है जैसे असत्य भाषण में । एवं-वह हिंसात्वका अव्यापक है, क्यों कि-जहां जहां हिंसात्व है वहां वहां शास्त्रनिषिद्धत्व नहीं है जैसे यज्ञीय पशुहिंसा में । अतः वह उपाधि है ।

निषिद्धत्वस्योपाधेः सद्भावात् अन्यप्रयुक्तव्याप्त्युपजीवि हिंसात्वं व्याप्यत्वासिद्धमेव ।

२. साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः । स यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादात्मवत् । अत्र कृतकत्वं हि साध्यनित्यत्वविपरीतानित्यत्वेन व्याप्तम् । यत्कृतकं तदनित्यमेव, न नित्यमित्यतो विरुद्धं कृतकत्वमिति ।

३. सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः । स द्विविधः । साधारणानैकान्तिकोऽसाधारणानैकान्तिकश्चेति । तत्र पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः साधारणः । स यथा—शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्, व्योमवत् । अत्र हि प्रमे-

---

इत्यर्थः । हिंसाया इति—सत्यपि हिंसात्वे इति शेषः । प्रकृतमुपसंहरति—तदेवमिति । अन्येति—निषिद्धत्वेत्यर्थः । व्याप्तीति—साध्यनिरूपितेत्यादिः । हिंसात्वमिति—अधर्मसाधनत्वेनाभिमतमित्यादिः ।

क्रमागत विरुद्धं लक्षयति—साध्यविपर्ययेति । साध्याभावेत्यर्थः । तमुदाहरति—स इति । विरुद्ध इत्यर्थः । आत्मवदिति—इत्यत्र कृतकत्वरूपो हेतुरिति शेषः । कुत इत्यत आह—अत्रेति । हि—यतः । व्याप्तमिति—अर्थादिति शेषः । एवव्यवच्छेद्यमाह—न नित्यमिति । विरुद्धमिति—नित्यत्वसाधनायोपन्यस्तमिति शेषः । इतिः सलक्षणोदाहरणविरुद्धनिरूपणसमाप्तौ ।

क्रमागतमनैकान्तिकं लक्षयति—स व्यभिचार इति । हेतुरिति शेषः । तं विभजते-स इति । अनैकान्तिक इत्यर्थः । तस्य प्रकारद्वयमाह—साधारणेति । इतिः तद्भेदोल्लेखसमाप्तौ । तत्र साधारणानैकान्तिकं लक्षयति—तत्रेति । तयोर्मध्ये इत्यर्थः । वृत्तिरिति—हेतुरिति शेषः । साधारणः—साधारणानैकान्तिकः । तमुदाहरति—स इति । साधारणानैकान्तिक इत्यर्थः । व्योमवदिति-

---

२—एवं—साध्यके अभावसे निरूपित व्याप्तिवाला जो हेतु, वह विरुद्ध है। जैसे-'शब्द नित्य है, क्यों कि वह जन्यत्ववान् है, जैसे आत्मा' यहां जन्यत्व हेतु विरुद्ध है, क्यों कि-वह 'जो जो जन्य है वह वह अनित्य है जैसे घड़ा' इस तरह नित्यत्वरूपसाध्य के अभाव ( अनित्यत्व ) से निरूपित व्याप्ति वाला है।

३—एवं—सव्यभिचार जो हेतु, वह अनैकान्तिक है और वह दो प्रकार का है, जैसे-साधारणानैकान्तिक और असाधारणानैकान्तिक । इनमें-पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में वृत्ति जो हेतु, वह साधारणानैकान्तिक है जैसे-'शब्द नित्य है, क्यों कि

यत्वं हेतुस्तच्च नित्यानित्यवृत्ति। सपक्षाद् विपक्षाद् व्यावृत्तो यः पक्ष एव वर्तते, सोऽसाधारणानैकान्तिकः। स यथा—भूर्नित्या गन्धवत्त्वात्, गन्धवत्त्वं हि सपक्षान्नित्याद्विपक्षाच्चानित्याद् व्यावृत्त भूमात्रवृत्ति।

४. प्रकरणसमस्तु स एव यस्य हेतोः साध्यविपरीतसाधकं हेत्व-

---

इत्यत्र प्रमेयत्वं हेतुरिति शेषः। कुत इत्यत आह—अत्रेति। हि—यतः। असाधारणानैकान्तिकं लक्षयति—सपक्षादिति। तथेति शेषः। य इति—हेतुरिति शेषः। तमुदाहरति—स इति। असाधारणानैकान्तिक इत्यर्थः। गन्धवत्त्वादिति—इत्यत्र गन्धवत्त्वं हेतुरिति शेषः। कुत इत्यत आह—गन्धवत्त्वमिति। अत्रेत्यादिः। हि—यतः। ननु साध्याभाववद्वृत्तित्वरूपव्यभिचारस्य साधारणानैकान्तिके हेतौ सत्त्वेऽपि असाधारणानैकान्तिकहेतावसत्त्वेन तस्य कथं सव्यभिचारतेति चेन्न, साध्याभाववद्वृत्तित्वस्येव साध्यवद्वृत्तित्वस्यापि व्यभिचारत्वात्। उक्तञ्च 'यथा हेतोरुभयत्र वृत्तिर्व्यभिचारस्तथोभयतो व्यावृत्तिरपी'ति।

क्रमप्राप्तं सत्प्रतिपक्षापरपर्यायं प्रकरणसमं लक्षयति—प्रकरणसम इति। प्रतिज्ञातार्थविपरीतार्थज्ञापकहेतुमान् हेतुः प्रकरणसम इत्यर्थः। केचित्तु समानबलोपस्थितिप्रतिरुद्धकार्यलिङ्गत्वं सत्प्रतिपक्षत्वमित्यभिप्रयन्ति। रत्नकोशकृतस्तु तदनुमितिं प्रति तदभावव्याप्यवत्ताज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वे मानाभावात् सत्प्रतिपक्षस्थले क्लृप्ततत्तदभावानुमितिसामग्रीभ्यामेव तत्तदभावकोटिकसंशयाकारानुमितिरुत्पद्यते, तथा च सत्प्रतिपक्षस्य दूषकताबीजं संशयजनकत्वं, न त्वनुमितिप्रतिबन्धकतेति वदन्ति, तन्न युक्तम्, तदभावव्याप्यवत्ताज्ञाने सति तदुपनीतभानविशेषशाब्दबोधादेरनुदयात् लौकि-

---

वह प्रमेय है, जैसे आकाश' यहां प्रमेयत्व हेतु सर्वत्र ( पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में ) रहने के कारण साधारणानैकान्तिक है। एवं—केवल पक्षमें रहने वाला तथा सपक्ष और विपक्ष में नहीं रहनेवाला जो हेतु, वह असाधारणानैकान्तिक है। जैसे—'पृथ्वी नित्य है, क्यों कि वह गन्धवाली है, जो जो नित्य नहीं है वह वह गन्धवाला नहीं है जैसे जल' यहां गन्ध हेतु—सपक्ष नित्य आकाशादि तथा विपक्ष अनित्य जलादि में नहीं है और पक्ष भूत पृथिवीमात्र में है, अतः वह असाधारणानैकान्तिक है। हेतुका विपक्षमें रहने के समान सपक्ष में न रहना भी व्यभिचार है, अतः ये दोनों अनैकान्तिक के भेद उपपन्न हुए।

४—एवं—यदि पक्षमें प्रकृत साध्यके अभाव की सिद्धि के लिये अप्रकृत हेतु प्रतिपक्षीरूपसे उपस्थित हो, तो प्रकृत हेतु, प्रकरणसम अर्थात् सत्प्रतिपक्ष होता है।

न्तरं विद्यते । स यथा—शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मरहितत्वात् । शब्दो नित्योऽनित्यधर्मरहितत्वादिति । अयमेव हि सत्प्रतिपक्ष इति चोच्यते ।

५. पक्षे प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः कालात्ययापदिष्ट इति चोच्यते । यथाग्निरनुष्णः कृतकत्वाज्जलवत् । अत्र

---

कसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यतज्ज्ञानमात्रं प्रति तदभावव्याप्यवत्ताज्ञानस्य प्रतिबन्धकतायाः लाघवेनाङ्गीकरणीयत्वात् सत्प्रतिपक्षस्थले कस्मिन्नपि परामर्शेऽप्रामाण्यज्ञानात्पूर्वं साध्यव्याप्यपरामर्शेन साध्यविपरीतानुमितेः, साध्यविपरीतव्याप्यपरामर्शेन साध्यानुमितेश्च प्रतिबन्धकतयावश्यम्भावात् ॥ तमुदाहरति—**स** इति । प्रकरणसम इत्यर्थः । **नित्यधर्मरहितत्वात्**—नित्यत्वज्ञापको यो धर्मोऽकारणकत्वादि तद्रहितत्वात् । **अनित्यधर्मरहितत्वात्**—अनित्यत्वज्ञापको यो धर्मो ध्वंसप्रतियोगित्वादि तद्रहितत्वात् । **इतीति**—उभयत्र प्रयुक्तो हेतुरिति शेषः । ननु यदि स प्रकरणसमः, तर्हि सत्प्रतिपक्षः क इत्यत आह—**अयमेवेति** । प्रकरणसमपदवाच्य एवेत्यर्थः । हीति वाक्यालङ्कारे । चेन प्रकरणसम इतीति संगृह्यते । य एव प्राचीनैः प्रकरणसमशब्देनोच्यते, स एव नवीनैः सत्प्रतिपक्षशब्देनोच्यते इत्याशयः ।

अवशिष्टं कालात्ययापदिष्टं लक्षयति—**पक्षे इति** । प्रमाणान्तरेण ( अनुमानभिन्नप्रमाणेन ) अवधृतः ( निश्चितः ) साध्याभावो यस्य स इति व्युत्पत्तिः । **बाधितविषय इति**—बाधितः ( प्रमाणान्तरेणाभावप्रतियोगितया निश्चितः ) विषयः ( पक्षे साध्याख्यविषयः ) यस्य स इत्यर्थः । इतीति शेषः । साध्यस्य साधनज्ञानजन्यज्ञानविषयत्वात् हेतुविषयतोपचर्यते । **कालात्ययापदिष्ट इति**—कालस्य ( हेतूपन्यासकालस्य ) अत्यये ( अपगमे ) अपदिष्टः ( निर्दिष्टः ) इत्यर्थः । तमुदाहरति—**यथेति** । **जलवदिति**—इत्यत्र कृतकत्वहेतुः कालात्ययापदिष्ट इति

---

जैसे-'शब्द अनित्य है, क्यों कि वह नित्यत्वबोधकधर्मरहित है, जैसे घड़ा' यहां यदि 'शब्द नित्य है, क्यों कि वह अनित्यत्वज्ञापकधर्म रहित है, जैसे आकाश' ऐसा कहा जाय तो नित्यत्वबोधकधर्मरहितत्व हेतु, सत्प्रतिपक्ष होगा ।

५—एवं—'पक्षमें जिस हेतुके साध्यका अभाव प्रमाणान्तरसे निश्चित हो, उसे बाधितविषय या कालात्ययापदिष्ट कहते हैं । जैसे-'अग्नि अनुष्ण है, क्योंकि वह जन्य है, जैसे जल' यहां-अग्निमें जन्यत्व हेतुके साध्य अनुष्णत्वका अभाव त्वगि-

हि कृतकत्वस्य हेतोः साध्यमनुष्णत्वं तदभावः प्रत्यक्षेणैवावधारितः । स्पार्शनप्रत्यक्षेणैवोष्णत्वोपलम्भात् । इति व्याख्यातमनुमानम् ।

## उपमानम्

८. अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानम् उपमानम् । यथा गवयमजानन्नपि नागरिको यथा गौस्तथा गवय इति

---

शेषः । कुत इत्यत आह—**अत्रेति** । **हि**—यतः । **तदभावः**—अनुष्णत्वाभावः उष्णत्वरूपः । **प्रत्यक्षेणेति**—त्वाचप्रत्यक्षेणेत्यर्थः । अवधारितः इत्यादिः । कुत इत्यत आह—**स्पार्शनेति** । अभावज्ञानस्य प्रति प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वादुष्णत्वज्ञानमन्तराऽनुष्णत्वज्ञानासम्भवात् कृतकत्वानुष्णत्वयोः व्याप्तिग्रहणं न सम्भवतीति प्रथमं क्वचिदवधारणीयमुष्णत्वं त्वाचप्रत्यक्षेणावधार्यते । तेजसोऽनुष्णत्वावधारणासम्भवात् । तथा चोष्णत्वग्राहिणा उपजीव्यत्वाद्बलवता त्वाचप्रत्यक्षेण बाधितमिदमनुमानमित्याशयः । **अनुमानमिति**—त्रिविधमित्यादिः । 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टञ्चे'ति न्यायसूत्रेण त्रिविधानुमानस्य प्रक्रान्तत्वात् ।

एवं त्रिप्रकारमनुमानं निरूप्येदानीं क्रमेणागतमुपमानं निरूपयति—**अतिदेशेति** । अतिदिश्यते प्रतिपाद्यते साधर्म्यादिकमनेनेत्यतिदेशः । स चासौ वाक्यमिति विग्रहे कर्मधारयसमासः । तस्य 'यथा गौस्तथा गवय' इत्याकारकस्य योऽर्थः तस्य स्मरणेन सहकृतं यद् गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानं तदुपमानमित्यर्थः । नन्वत्र पुंनपुंसकलिङ्गयोः कथं समानाधिकरणसमास इति चेन्न, पक्षादयवाक्यमित्यादाविवात्रापि तदुपपत्तेः । तदुपपादयति—**यथेति** । ननु गवयं जानतो जिज्ञासाया अभावादतिदेशवाक्यप्रयोगो न युक्त इत्यत आह—**गवयमिति** । अपेः नागरिक इत्यनेनान्वयः । अतिदेशवाक्यस्य दर्शयति—**यथेति** । नागरिकापेक्षयाऽऽरण्यकस्य गवयज्ञानसम्भव-

---

न्द्रियसे ही निश्चित है, क्यों कि वहां उसीसे उष्णता का ग्रहण है, अतः जन्यत्व हेतु बाधितविषय है । इस तरह अनुमान प्रमाण का निरूपण किया । अब क्रम प्राप्त उपमान प्रमाण का निरूपण करते हैं—

८—अतिदेश—प्रत्यक्ष और अनुमिति के समान 'नाम और नामी में होनेवाले नामनामिभाव सम्बन्ध की निश्चयात्मक प्रतीतिरूप' उपमिति भी एक स्वतन्त्र प्रमा है । और उसका करण जो-अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृत सादृश्य-वैलक्षण्या-न्यतरविशिष्ट वस्तुज्ञान, वह एक स्वतन्त्र उपमान प्रमाण है । क्योंकि—नामनामि-

वाक्यं कुतश्चिदारण्यकपुरुषाच्छ्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्टं पिण्डं पश्यति, तदा तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानं उपमानम् उपमितिकरणत्वात् । गोसादृश्यविशिष्ट-

---

म्भावनाऽधिकाऽस्तीत्यत आह—आरण्यकेति । अश्रुतवाक्यस्य वाक्यार्थस्मरणं न सम्भवतीत्यत आह—श्रुत्वेति । नगरस्थस्य तादृशपिण्डदर्शनं न सम्भवतीत्यत आह—वनं गत इति । तदेत्यस्य वक्ष्यमाणत्वादाह—यदेति । नगरे गामवलोक्य वनं गतस्य कस्यचित् यद् गोसादृश्यविशिष्टपिण्डानुभवनं तस्योपमानतानिराकरणायाह–तद्वाक्यार्थेति । यत्किञ्चित्पिण्डज्ञानस्योपमानताव्यवच्छेदायावोचदाह च—गोसादृश्यविशिष्टेति । तादृशपिण्डज्ञानस्योपमानत्वे युक्तिमाह—उपमितीति । उपमितिस्वरूपकथनायाह—गोसादृश्यविशिष्टेति । तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतेत्यादिः । अतिदेशवाक्यानुभूतगोसादृश्यस्याधुना पुरःस्थितपिण्डे प्रत्य-

---

भावसम्बन्धप्रमा को प्रत्यक्ष इसलिये नहीं कह सकते कि–प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष मात्रसे होता है, और यह–अतिदेशवाक्यार्थस्मरण की भी अपेक्षा रखता है। एवम्–इसको अनुमिति इसलिये नहीं कह सकते कि–प्रकृतमें कोई अनुमापक हेतु उपस्थित नहीं है। यदि 'नामी में सादृश्यसे नामनामि भावसम्बन्ध की अनुमिति होगी' ऐसा कहें तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि–सादृश्य उभयगत होनेके कारण वहां भी है जहां नामनामिभावसम्बन्ध नहीं है, अतः वह हेतु व्यभिचारी है। अर्थात् जब सादृश्यमें विवक्षित नामनामिभावसम्बन्ध का अव्यभिचरित साहचर्यरूप व्याप्ति ही नहीं है, तब वह उसका अनुमापक कैसे हो सकता? सबसे मुख्य बात यह है कि–किसी भी ( व्यवसाय ) ज्ञान के स्वरूप ( यह प्रत्यक्ष है या अनुमिति है ) का निश्चय, उसके परवर्त्ती ( अनुव्यवसाय ) साक्षात्कारसे होता है। इस लिये नामनामिभावसम्बन्ध प्रतीतिके बाद होनेवाली 'मुझे उपमिति हुई' इस प्रमासे निश्चय होता है कि वह प्रतीति उपमिति है, न कि अनुमिति। क्यों कि—यदि वह अनुमिति होती, तो उसके बाद 'मुझे अनुमिति हुई' ऐसा अनुव्यवसाय होता, किन्तु वह नहीं होता है अतः मानना होगा कि उपमिति भी एक स्वतन्त्र प्रमा है और उसका करण भूत उपमान भी एक स्वतन्त्र प्रमाण है। वह उपमिति दो प्रकार की होती है, जैसे–साधर्म्योपमिति और वैधर्म्योपमिति। उनमें–जो उपमिति, सादृश्यनिश्चयसे होती है उसे साधर्म्योपमिति कहते हैं। जैसे–गवयको नहीं जाननेवाला कोई नागरिक व्यक्ति उसको जाननेवाले किसी जङ्गली आदमीसे 'गोके समान गवय होता है' ऐसा सुननेके बाद वन जाकर 'गोके समान इत्यादि' वाक्य

पिण्डज्ञानानन्तरमयमसौ गवयशब्दवाच्यः पिण्ड इति संज्ञा—संज्ञिसंबन्धप्रतीतिरुपमितिः। सैव फलम्। इदं तु प्रत्यक्षानुमानासाध्यप्रमासाधकत्वात् प्रमाणान्तरमुपमानमस्ति। इति व्याख्यातमुपमानम्।

---

भिद्यमानत्वादाह—अयमसाविति। इति—इत्याकारिका। सैवेति—तादृशोपमितिरेवेत्यर्थः। तादृशोपमानस्येति शेषः। तादृशोपमिति न प्रत्यक्षफलम्, अतिदेशवाक्यश्रवणतदर्थस्मरणसहितेन्द्रियसन्निकर्षापेक्षोपमितेः इन्द्रियसन्निकर्षमात्रापेक्षप्रत्यक्षफलत्वासम्भवात, अन्यथा अनाकर्णितातिदेशवाक्यस्यापि तादृशोपमितिप्रसङ्गात्। न चानुमानफलम्, कस्यचिदनुमापकहेतोस्तत्रानुपस्थानात्, क्वचित् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धेन व्याप्तिज्ञानाभावाच्च। नापि शब्दफलम्, तथा सति अननुभूततादृशपिण्डस्यापि तादृशोपमितिप्रसङ्गात्। उक्तञ्च 'सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह। प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदु' ॥' इति। अत एवाह—इदमिति। इदमुपमानन्तु प्रमाणान्तरं (प्रत्यक्षानुमानशब्दभिन्नप्रमाणम्) अस्ति, (कुत इत्याकाङ्क्षाया हेतुमाह—) प्रत्यक्षेति, इत्यन्वय' उपमिति' द्विविधा, साधर्म्योपमितिवैधर्म्योपमिति—भेदात्। तत्र साधर्म्यज्ञानजन्यसाधर्म्योपमितेरुदाहरणस्य मूलोक्तत्वाद्वैधर्म्यज्ञानजन्यवैधर्म्योपमितेरुदाहरणमुच्यते, तथा हि कीदृगुष्ट्र इति प्रष्टुः अतिदीर्घग्रीवत्व—प्रलम्बचञ्चलोष्ठत्व—कठोरतरकण्टकाशित्व—कुत्सितावयवसन्निवेशत्वादिपश्वन्तरवैधर्म्यवानुष्ट्र इति श्रुत्वा तादृशपश्वन्तरवैधर्म्यवत्पिण्डं पश्यतः, अयमसौ उष्ट्रपदवाच्यः पिण्ड इत्याकारिका योपमिति जायते सा वैधर्म्योपमितिः। तथा चोपमानमपि द्विविधं, साधर्म्योपमानवैधर्म्योपमानभेदादित्यवधेयम् ॥ तथा च न्यायसूत्रम् 'प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानमि'ति ॥

---

के अर्थका स्मरण करता हुआ जभी गो साहृश्य विशिष्ट पिण्ड को देखता है, तभी उसे 'यही गवय है' ऐसी जो उपमिति होती है, वह साधर्म्योपमिति है। एवं—जो उपमिति वैलक्षण्यनिश्चयसे होती है उसे वैधर्म्योपमिति कहते हैं। जैसे—ऊँट को नहीं जानने वाला कोई व्यक्ति उसको जाननेवाले किसी व्यक्तिसे 'ऊँट की आकृति अन्य सभी पशुओंसे विलक्षण होती है, उसकी गर्दन खूब लम्बी होती है और वह काटे को भी प्रेमसे खाता है' इत्यादि सुननेके बाद मारवाड़ जाकर श्रुत वाक्यके अर्थ को स्मरण करता हुआ जभी ऊँट को अन्य पशुओं से विलक्षण देखता है, तभी उसे 'यही ऊँट है' ऐसी जो उपमिति होती है, वह वैधर्म्योपमिति है। और प्रथम स्थलमें तादृश वाक्यार्थ स्मरण सहकृत गो सादृश्य विशिष्ट पिण्डज्ञान तथा द्वितीय

शब्दः ।

६. आप्तवाक्यं शब्दः । आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः । वाक्यं त्वाकाङ्क्षायोग्यतासंनिधिमतां पदानां समूहः । अत एव 'गौरश्वः

एवं सप्रपञ्चमुपमानं निरूप्यावशिष्टं शब्दं निरूपयति—आप्तवाक्यमिति । तत्र भ्रान्तविप्रलम्भकयोर्वाक्यस्य शब्दतानिरासायोक्तमाप्तपदम् । तथा "आप्तोपदेशः शब्दः" इति न्यायसूत्रघटकोपदेशपदस्य उपदिश्यतेऽनेनेति करणव्युत्पत्तिनिष्पन्नत्वाद् वाक्यपरतामभिप्रेत्योक्तं वाक्यपदम् । आप्तं लक्षयति—आप्तस्त्विति । अत्र तु शब्दो भ्रान्तविप्रलम्भकयोराप्तत्वव्यावृत्त्यर्थः । अर्थे यथाभूतत्वञ्च अबाधितत्वम्, तथा च भ्रान्तस्य यथार्थदर्शित्वाभावात् तदुक्तवाक्यार्थस्य बाधितत्वेनाबाधितत्वाभावात्, एवं यथार्थदर्शिनोऽपि विप्रलम्भकस्य यथार्थवाचित्वाभावात् तदुक्तवाक्यार्थस्य बाधितत्वेनाबाधितत्वाभावाद् भ्रान्तविप्रलम्भकयोराप्तत्वासम्भवान्न तयोर्वाक्यस्य शब्दप्रमाणता आपद्यते इत्याशयः । वाक्यं लक्षयति—वाक्यन्त्विति । अत्र तुशब्द आकाक्षादिरहितपदसमूहस्य वाक्यत्वनिवृत्त्यर्थः । तत्र समभिव्याहृतपदस्मारितपदार्थविषयिणी प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा आकांक्षा । एवं परस्परान्वयसामर्थ्यं योग्यता । तथाऽन्वयप्रतियोग्युपस्थापकानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः । आकाक्षादित्रयवता पदाना समूहो वाक्यमित्यत्र तेषा त्रयाणा प्रत्येकं व्यावर्त्यं क्रमशो दर्शयति—अत एवेति । येषा पदाना समूहो वाक्यं, तेषु पदेषु

स्थलमें तादृश वाक्यार्थ स्मरण सहकृत पश्चन्तर वैलक्षण्य विशिष्ट पिण्डज्ञान, उपमान प्रमाण है । इस तरह उपमान प्रमाण का निरूपण किया, अब शेष शब्द प्रमाणका निरूपण करते हैं—

७—आप्त—प्रत्यक्ष, अनुमिति और उपमिति के समान शाब्दबोध भी एक स्वतन्त्र प्रमा है । क्योंकि शब्द श्रवणके बाद होनेके कारण वह, उक्त प्रमाओंमें अन्तर्भूत नहीं हो सकता । ( उसके होने की प्रक्रिया यह है कि–शब्द और अर्थमें रहनेवाले सम्बन्ध ( शक्ति या लक्षणा ) के ज्ञाता, शब्द श्रवणके बाद तत्तत्पदोंसे तत्तत्पदार्थों का स्मरण करते हैं, अनन्तर उन्हें सब पदार्थों का सम्बद्ध रूपसे बोध ( शाब्दबोध ) होता है ) अतः उसका करण भूत शब्द भी एक स्वतन्त्र प्रमाण है । और आप्तके वाक्य को शब्द कहते हैं । यहाँ–यथाभूत विषयके उपदेश करनेवाले आप्त हैं । और परस्पर आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधिवाले पदोंका समूह वाक्य है । क्यों कि–जहां वाक्यके अन्तर्गत पदोंमें परस्पर अपेक्षारूप आकांक्षा समझी

पुरुषो हस्ती'ति पदानि न वाक्यम्। परस्पराकाङ्क्षाविरहात्। 'अग्निना सिञ्चेदि'ति न वाक्यं योग्यताविरहात्। न ह्यग्निसेकयोः परस्परान्वययोग्यताऽस्ति। तथाहि—अग्निनेति तृतीयया सेकरूपं कार्यं प्रति, करणत्वमग्नेः प्रतिपादितम्। न चाऽग्निः सेके करणीभवितुं योग्यः। तेन कार्यकारणभावलक्षणसम्बन्धेऽग्निसेकयोरयोग्यत्वादनोऽग्निना सिञ्चेदिति न वाक्यम्। एवमेकैकशः प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चरितानि 'गामानय' इत्यादिपदानि न वाक्यम्। सत्यामपि परस्पराकाङ्क्षायां, सत्यामपि परस्परा-

---

आकाङ्क्षादित्रयवत्तायाः विवक्षणादेवेत्यर्थः। कुत इत्यत आह—परस्परेति। अग्निनेति-तथेत्यादिः। इति—इत्यादिपदानि। कुत इत्यत आह—योग्यतेति। ननु कुतस्तत्र योग्यताविरह इत्यत आह—नेति। हि—यतः। तदुपपादयति—तथाहीति। इति—इत्यन्वयः। तृतीयया—'कर्तृकरणयोस्तृतीये'ति पाणिनीयसूत्रेण करणार्थे विहितया तृतीयया। तेन—येनाग्नेः सेके करणीभवितुं योग्यता नास्ति तेन। इति—इत्यादिपदानि। कुत इत्यत आह—सत्या-

---

जाती है, वहां ही शाब्द बोध होता है। अत एव-यदि वक्ता एक साँससे बोलता है कि 'गाय घोड़ा आदमी हाथी' तो श्रोता को इस वाक्यसे शाब्दबोध नहीं होता है। क्यों कि—श्रोता को 'गाय' इस पदसे 'घोड़ा' इस पदकी कोई अपेक्षा नहीं मालूम होती है और यदि वक्ता बोलता है कि 'गाय आती है' तथा 'घोड़ा जाता है' तो श्रोता को इस वाक्यसे शाब्दबोध होता है। क्यों कि-श्रोता को 'आती है' इस क्रियापदसे 'गाय' -इस कारक पदकी अपेक्षा मालूम होती है। इसी प्रकार 'घोड़ा जाता है' इत्यादि वाक्यके स्थलमें भी समझना चाहिये। एवं-जहां वाक्यके अन्तर्गत पदोंके अर्थोंमें परस्पर अन्वित होने की योग्यता समझी जाती है, वहां ही शाब्दबोध होता है। अत एव-यदि वक्ता बोलता है कि—'यह अग्निसे सींच रहा है' तो श्रोताको इस वाक्यसे शाब्दबोध नहीं होता है क्यों कि इसको सिञ्चनमें अग्निसे अन्वित होनेकी योग्यता नहीं प्रतीत होती है। परन्तु यदि वक्ता बोलता है कि 'यह जलसे सींच रहा है' तो श्रोता को इस वाक्य से शाब्द-बोध होता है क्योंकि इसको सिञ्चनमें जल से अन्वित होने की योग्यता प्रतीत होती है। एवं-जहां वाक्यके अन्तर्गत पदोंमें परस्पर का सान्निध्य प्रतीत होता है, वहां ही शाब्दबोध होता है। अत एव यदि वक्ता 'रमेश' कहनेके एक पहर बाद 'आता है' यह कहता है, तो श्रोता को इस वाक्यसे शाब्दबोध नहीं होता है

न्वययोग्यतायां परस्परसांनिध्याभावात् । यानि तु साकाङ्क्षाणि योग्यतावन्ति संनिहितानि पदानि, तान्येव वाक्यम् । यथा 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि । यथा च 'नदीतीरे पञ्च फलानि सन्ति' इति । यथा च तान्येव 'गामानय' इत्यादिपदान्यविलम्बितोच्चरितानि ।

---

मपीति । एवन्तत्राकाङ्क्षादित्रयवत्तायाः साकल्ये समुपपादिते फलितमाह—यानीति । अत्र तुशब्द निराकाङ्क्षायोग्यासन्निहितपदसमूहस्य वाक्यत्वव्यवच्छेदार्थः । वाक्यं द्विविध, वैदिकलौकिकभेदात् । तत्र वैदिकमुदाहरति—यथेति । अनेन ( ज्योतिष्टोमेनेत्यादिवाक्येन ) स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमयागेन स्वर्गं भावयेदिति प्रतीतेरस्य परस्पराकाङ्क्षावदन्वययोग्यार्थप्रतिपादकसन्निहितपदसमूहत्वाद् वाक्यता । लौकिकमुदाहरति—यथा चेति । फलानि सन्तीत्युक्ते कतीत्याकाङ्क्षाया पञ्चेति । ततः क्व तानि सन्तीत्याकाङ्क्षाया तीरे इति । ततः कस्याः ( तीरे ) इत्याकाङ्क्षाया नद्या इति । एवमस्यापि परस्पराकाङ्क्षावदन्वयोग्यार्थप्रतिपादकसन्निहितपदसमूहत्वाद् वाक्यता । परस्पराकाङ्क्षाया· परस्परान्वययोग्यतायाश्च वादककृत्यसाध्यत्वात् गौरश्व पुरुषो हस्तीति, अग्निना सिञ्चेदिति च पदसमूह· कदाचिदपि वाक्यता न लभते, किन्त्वविलम्बेनोच्चारणस्य तत्कृतिसाध्यत्वात् गामानयेत्यादिपदसमूह· कदाचिद् वाक्यतामपि प्रतिपद्यते इत्याशयेन लौकिकवाक्योदाहरणान्तरमाह—यथा चेति । तानि—यानि आकाङ्क्षायोग्यतावन्त्यपि विलम्बेनोच्चरितत्वाद् वाक्यता न लभन्ते तानि । उच्चरितानीति—वाक्यता प्रतिपद्यन्ते इति शेषः ।

---

क्यों कि उसको 'रमेश' इस पदमें 'आता है' इस पदका सान्निध्य नही मालूम पड़ता है । परन्तु यदि वक्ता 'रमेश' कहनेके बाद तुरत 'आता है' यह कहता है, तो श्रोताको इस वाक्यसे शाब्द बोध होता है क्यों कि उसको 'रमेश' इस पदमें 'आता है' इस पदका सान्निध्य प्रतीत होता है । इसलिये-परस्पर आकांक्षा या योग्यता या सन्निधिसे रहित पदोंके समूह वाक्य नहीं कहलाते हैं । जैसे—'गाय घोडा आदमी हाथी' तथा 'यह अग्निसे सींच रहा है' और ( एक पहरके बाद में उच्चरित पदोंके समूह ) 'गाम्, आनय' इत्यादि । अर्थात्-परस्पर साकाङ्क्ष, योग्यतावान् और सन्निहित पदोंके समूह ही वाक्य कहे जाते हैं । जैसे-'कल्याण चाहने वाला ईश्वर का भजन करे' तथा 'नदीतीरमें पाच फल हैं' और ( अव्यवहित काल में उच्चरित पदोंके समूह ) 'रमेश आता है' इत्यादि ।

नन्वत्रापि न पदानि साकाङ्क्षाणि किन्त्वर्थाः फलादीनामाधेयानां तीराद्याधाराकाङ्क्षितत्वात् । न च विचार्यमाणेऽर्था अपि साकाङ्क्षाः । आकाङ्क्षाया इच्छात्मकत्वेन चेतनधर्मत्वात् ।

सत्यम् । अर्थास्तावत् स्वपदश्रोतर्यन्योन्यविषयाकाङ्क्षाजनकत्वेन साकाङ्क्षा इत्युच्यन्ते । तद्द्वारेण तत्प्रतिपादकानि पदान्यपि साकाङ्क्षाणीत्युपचर्यन्ते । यद्वा पदान्येवार्थान् प्रतिपाद्याऽर्थान्तरविषयाकाङ्क्षाजन-

---

अत्रापि—नदीतीरे पञ्च फलानीत्यादिवाक्येष्वपि । तर्हि कानि साकांक्षाणीत्यत आह—किन्त्वर्था इति । साकांक्षा इति शेषः । कुत इत्यत आह—फलादीनामिति । कुत इत्यत आह—आकांक्षाया इति । चेतनधर्मत्वादिति—अर्थानाञ्चाचेतनत्वादिति शेषः ।

अर्थानामाकांक्षाधारत्वेन साकांक्षत्वाभावेऽप्याकांक्षाजनकत्वेन साकांक्षता सम्भवतीत्याशयेन परिहरति—सत्यमिति । स्वपदेति—स्वप्रतिपादकपदेत्यर्थः । अन्योऽन्येति—अन्योऽन्यं विषयाणां ( श्रुतपदप्रतिपाद्यार्थानां ) या आकांक्षा तस्याः जनकत्वेनेत्यर्थः । नन्वेवमर्थानां साकांक्षत्वेऽपि पदानां कथं साकांक्षतेत्यत आह—तद्द्वारेणेति । साकांक्षार्थप्रतिपादनद्वारेणेत्यर्थः । तत्प्रतिपादकानि—साकांक्षार्थप्रतिपादकानि । तथा च साकांक्षार्थप्रतिपादकत्वेन पदानां लाक्षणिकं साकांक्षत्वमित्याशयः । अर्थानामाकांक्षाजनकत्वेन मुख्यं साकांक्षत्वम् पदानाञ्च साकांक्षार्थप्रतिपादकत्वेन लाक्षणिकं तदिति प्रागुपपाद्याधुना आत्मन एवाकांक्षाधारत्वेन मुख्यं साकांक्षत्वम्, तच्च अर्थानामिव पदानामपि आकांक्षाजनकत्वेन लाक्षणिकं तदित्याशयेनाह—यद्वेति । एतेनाकांक्षाधारत्वमन्तरेणाऽर्थानां मुख्यं साकांक्षत्वं न सम्भवतीति पूर्वकल्पेऽपरितोषोऽपि सूचितः । पदानि—ज्ञातपदानि । प्रति-

---

ननु—यहां भी पद साकांक्ष नहीं हैं, किन्तु अर्थ साकांक्ष हैं, क्यों कि फलादि आधेयको तीरादि आधारसे आकांक्षा है। वस्तुत· विचार करने पर तो अर्थ भी साकांक्ष नहीं प्रतीत होते हैं क्यों कि—आकांक्षा इच्छारूप होनेके कारण चेतन आत्मामें ही रह सकती है, न कि जड़ अर्थमें ।

उत्तर—अर्थ स्ववाचक पदोंके श्रोतामें पदान्तर विषयक आकांक्षाके जनक होनेके कारण साकांक्ष कहे जाते हैं, और उनके द्वारा उनके प्रतिपादक पद भी लक्षणासे साकांक्ष कहे जाते हैं। अथवा पद ही अर्थों का प्रतिपादन करके अर्थान्तर विषयक आकांक्षाके जनक होनेके कारण लक्षणासे साकांक्ष कहे जाते हैं। इस तरह साकांक्ष

कानीत्युपचारात् साकाङ्क्षाणि । एवमर्थाः साकाङ्क्षाः परस्परान्वययोग्याः, तद्द्वारेण पदान्यपि परस्परान्वययोग्यानीत्युच्यन्ते ।

संनिहितत्वं तु पदानामेकेनैव पुंसा अविलम्बेनोच्चरितत्वम् । तच्च साक्षादेव पदेषु संभवति, नाऽर्थद्वारा । तेनाऽयमर्थः संपन्नः । अर्थप्रतिपादनद्वारा श्रोतुः पदान्तरविषयामर्थान्तरविषयां वा आकाङ्क्षां जनयतां प्रतीयमानपरस्परान्वययोग्यार्थप्रतिपादकानां संनिहितानां पदानां समूहो वाक्यम् ।

---

पाद्य—समुपस्थाप्य । एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिनं स्मारयतीति नियमेन पद॰ ज्ञाने सति अर्थस्मृतिरुपपन्नैवेति भाव॰ । इति—इति हेतोः । नन्वुक्तरीत्या पदानां साकाक्षत्वेऽपि तेषां परस्परान्वययोग्यतायाः कथमुपपत्तिरित्यत आह—एवमिति । पदानि यथोपचारात्साकांक्षाण्युच्यन्ते, तथोपचारात् परस्परान्वययोग्यान्यप्यु- च्यन्ते इति भावः । स्वभावत इति शेषः । तद्द्वारेण—परस्परान्वययोग्यार्थ- प्रतिपादनद्वारा ।

ननु पदाना सन्निहितत्वमपि किं साकांक्षत्वादिवदौपचारिकमथवा मुख्यमिति जिज्ञासायां सन्निहितत्वन्तु तेषां मुख्यमेवेत्युपपादयितुं प्राक् सन्निहितत्वपदार्थ- माह—सन्निहितत्वमिति । तुः—पूर्ववैलक्षण्यद्योतक॰ । तच्च—तादृशं सन्नि॰ हितत्वञ्च । उच्चारणस्य पदधर्मत्वादिति भावः । साक्षात्—मुख्यम् । एवव्यव- च्छेद्यमाह—नार्थेति । फलितमाह—तेनेति । येन पदानामाकाक्षादित्रयवत्तो- पपादिता तेनेत्यर्थः । अयमित्यनेन निर्देश्यमाह—अर्थेति ।

---

अर्थ परस्परान्वयके योग्य है, और उनके द्वारा उनके प्रतिपादक पद भी लक्षणासे परस्पर अन्वयके योग्य कहे जाते हैं । एवम्–एक ही व्यक्तिसे अव्यवहित क्षणोंमें जो पदों का उच्चारण वही पदों की सन्निधि है, इस लिये पद साक्षात् ही सन्निहित होते हैं, न कि अर्थ द्वारा ।

इससे फलित यह हुआ कि—अर्थ प्रतिपादनके द्वारा श्रोतामें पदान्तर विषयक या अर्थान्तर विषयक आकांक्षाको उत्पन्न करते हुए, ज्ञायमान–परस्परान्वययोग्यता वाले अर्थोंका प्रतिपादन करनेवाले, सन्निहित पदोंका समूह, वाक्य है ।

पदं च वर्णसमूहः । समूहश्चात्रैकज्ञानविषयीभावः । एवं च वर्णानां क्रमवतामाशुतरविनाशित्वेनैकदाऽनेकवर्णानुभवासंभवात् । पूर्वपूर्ववर्णाननुभूय अन्त्यवर्णश्रवणकाले पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृ-

---

ननु तादृशानां पदानां समूहो वाक्यमित्युक्तं, तत्र पदं किमित्यत आह—पदश्चेति । ननु वाक्यपदलक्षणयोः प्रयुक्तस्य समूहपदस्यार्थः क इत्यत आह—समूहश्चेति । वर्णानां तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वेन तेषां पदानाञ्च बहूनामेकत्र देशे सहावस्थानासंभवाद् वास्तवसमूहासम्भवेन बौद्ध एव समूहः सम्भवतीत्याशयेनाह—एकज्ञानेति । नन्वत्रैकज्ञानविषयीभावो नामैकं पदमिति ज्ञानविषयत्वम् एकं वाक्यमिति ज्ञानविषयत्वं वा, किन्तु तदपि न सम्भवति, वर्णानामाशुतरविनाशित्वेन बहुवर्णात्मकपदस्य बहुपदात्मकवाक्यस्य वा लौकिकश्रावणप्रत्यक्षासम्भवादित्यत आह—एवञ्चेति । एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण च पदप्रतीतिर्जन्यते इत्यन्वयः । वर्णसाम्यादापतत्स्यमानायाः सर इत्यादिपदे· रस इत्याद्यर्थानां प्रमाया वारणायाह—क्रमवतामिति । क्रमो नामानुपूर्वी, तद्वतामित्यर्थः । आनुपूर्वी च नरेति पदे नकारोच्चारणकालिकप्रागभावप्रतियोगित्वं रस्य, रेफोच्चारणकालिकध्वंसप्रतियोगित्वं नकारस्येतिरूपा । यद्यपि तस्या अतीन्द्रियकालघटितत्वात् सहसा प्रत्यक्षविषयता न सम्भवति, तथापि सोपनीता सती श्रावणप्रत्यक्षे भासत एव । एवञ्च शक्तेः कार्योन्नेयत्वाद्यथा येभ्यः कार्यं दृश्यते, तथा तेषां शक्तिः कल्प्यते इति न काचनानुपपत्तिरित्याशयः । एकदानेकवर्णानुभवासम्भवे हेतुमाह—आशुतरेति । एतेन यदि वर्णानां नित्यत्वं स्यात्तर्हि बहूनां तेषां युगपदनुभवः सम्भवेदिति सूचितम् । अनुभवमन्तरा संस्कारो न सम्भवतीत्यत आह—पूर्वपूर्ववर्णानिति । ननु सत एवान्त्यवर्णस्य ग्रहणं कथं स्यादित्यत आह—अन्त्यवर्णश्रवणेति । एतेनानुद्बुद्ध-

---

प्रश्न—और वर्णों का समूह पद है। वर्ण तृतीयक्षण-विनाशी है, अर्थात् प्रथम वर्ण द्वितीय वर्णसे नष्ट हो जाता है, इसलिये वर्णों का समूह नहीं बन सकता है, ऐसी स्थितिमें वर्णोंके समूह को पद, तथा पदोंके समूह को वाक्य कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर—यहां समूह पदार्थ-'यह एक पद है' या 'यह एक वाक्य है' एतादृश ज्ञानविषयता है, जो कि-जैसे वर्त्तमान देवदत्तदर्शनसे उद्बुद्ध, अतीत देवदत्तदर्शनसे जनित-संस्कारसे सहकृत चक्षुरिन्द्रियसे जायमान 'यह वही देवदत्त है' एतादृश प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष, असत् अतीतावस्था तथा सत् विद्यमानावस्थासे विशिष्ट देवदत्त को विषय करता है, वैसे-चरम वर्ण सम्बन्धसे उद्बुद्ध, पूर्वपूर्ववर्णानुभवसे जनित

तेन अन्त्यवर्णसंबन्धेन पदव्युत्पादनसमयग्रहानुगृहीतेन श्रोत्रेणैकदैव सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते सहकारिदाढर्यात प्रत्यभिज्ञानवत् । प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षे ह्यतीताऽपि पूर्वावस्था स्फुरत्येव । ततः पूर्वपू-

---

संस्कारस्याकिञ्चित्करत्वात् तदुद्बोधकसत्ताऽपि सूचिता । ननु इन्द्रियस्यासद्ग्राहकत्वासम्भवात् श्रोत्रजन्यप्रतीतावसद्वर्णावगाहनं कथं सम्पत्स्यते इत्यत आह—**पूर्वपूर्ववर्णेति** । ननु इन्द्रियस्यासम्बद्धग्राहकत्वासम्भवात् श्रावणप्रतीत्या सन्नप्यसम्बद्धोऽन्त्यवर्णः कथमवगाहिष्यते इत्यत आह—**अन्त्यवर्णसम्बन्धेनेति** । अन्त्यवर्णसम्बन्धवतेत्यर्थः । ननु तादृशसंस्कारसहकृतेनान्त्यवर्णसम्बद्धश्रोत्रेण सदसदनेकवर्णप्रतीतिरुत्पद्यताम्, किन्तु पदप्रतीतिः कथमुत्पत्स्यते इत्यत आह—**पदव्युत्पादनेति** । व्युत्पादनपदार्थमाह—**समयग्रहेति** । समयः सङ्केतः । तथा च गौतमादिकर्तृकेन 'विभक्त्यन्तं पदम्' इत्यादिना यः पदशक्तिग्रहस्तदनुगृहीतेनेत्यर्थः । वस्तुतस्तु तादृशशक्तिग्रहणस्य तदानीमसत्त्वाद् ग्रहान्तेन तादृशशक्तिग्रहजन्यसंस्कारः, तज्जन्या स्मृतिर्वोपलक्ष्यते इति भावः । **सदसदिति**—चरमवर्णः सन्, प्राञ्चो वर्णा असन्त इति भावः । ननु पूर्वपूर्ववर्णानुभवजसंस्कारसहकृतेनान्त्यवर्णसम्बद्धेन पदशब्दशक्तिग्रहजसंस्कारजस्मृत्यनुगृहीतेन श्रोत्रेण युगपत् सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते इति यदुक्तं, तन्न सङ्गच्छते, संस्कारा हि यद्विषयकानुभवजन्या भवन्ति, तद्विषयकस्मृतिमात्रोत्पादने समर्था भवन्ति, न तु कार्यान्तरकरणे इति शङ्कायामाह—**सहकारिदाढर्यात् प्रत्यभिज्ञानवदिति** । येन चैत्रमासे सुम्बय्या दृष्टो देवदत्तः कार्त्तिकमासे काश्यां यदाऽवलोक्यते, तदा तेन सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञायते । तत् पूर्वापरकालदेशावच्छिन्नैकवस्तुग्राहि प्रत्यभिज्ञानं तत्तारूपेणासन्तं कालं देशञ्च एवमिदन्तारूपेण सन्तं कालं देशञ्च विषयीकरोति । यथा संस्कारसहकृतं चक्षुरिन्द्रियं स्मृतिव्यतिरिक्तं तादृशं प्रत्यभिज्ञानं जनयति, तथा तादृशसंस्कारसहकृतं तादृशं श्रोत्रेन्द्रियं स्मृतिव्यतिरिक्तां तादृशीं पदप्रतीतिं जनयिष्यतीति न काचनानुपपत्तिः । उक्तञ्च न्यायनिपुणेन—'यद्यपि स्मृतिहेतुत्वं संस्कारस्य व्यवस्थितम् । कार्यान्तरेऽपि सामर्थ्यं तस्य न प्रतिहन्यते ॥' इति । **प्रत्य-**

---

संस्कारसे सहकृत तथा पदशक्तिस्मरणसे अनुगृहीत श्रोत्रेन्द्रियसे जायमान 'यह एक पद है' एतादृशज्ञान सत् तथा असत् अनेक वर्णों को विषय करता है और इसी तरह–चरम पद–सम्पर्कसे उद्बुद्ध, पूर्वपूर्व पदानुभवसे जनितसंस्कारसे सहकृत

र्वपदानुभवजनितसंस्कारसहकृतेनान्त्यपदविषयेण श्रोत्रेन्द्रियेण पदार्थप्रत्ययानुगृहीतेनानेकपदावगाहिनी वाक्यप्रतीतिः क्रियते ।

---

क्रियत इति—अत्र वाक्यप्रत्ययमित्यस्य कर्मत्वम् । हि—यतः । अवगतेति—अवगता पूर्वस्यार्थस्यान्वयः । [illegible] पदावस्थायाः समुच्चयः । एवं पदप्रतीतिमुपपाद्य वाक्यप्रतीतिमुपपादयति—एवमिति । एतत् पदप्रतीत्यनन्तरमित्यर्थः । अन्त्यपदविषयेणेति—अन्त्यपदं विषयो यस्येति व्युत्पत्तिः । अन्त्यपदसम्बन्धेनेत्यर्थः । इत्थं पदार्थज्ञानं [illegible] पदेन [illegible] तस्य [illegible] पदार्थज्ञानं कारणमित्याशयेनाह—पदार्थप्रत्ययानुगृहीतेनेति । ननु बहुष्वनेकार्थेषु पदेष्वर्थः [illegible] 'अन्त्यपदविषयेण श्रोत्रेन्द्रियेण' [illegible] न सम्भवतीति चेन्न, [illegible] इत्यलम् [illegible] ।

---

तथा वाक्यबुद्धि स्मरण और पदार्थज्ञानसे अनुगृहीत श्रोत्रेन्द्रियसे उत्पन्न 'यह एक वाक्य है' इत्याकारक ज्ञान रूप तथा समस्त अनेक पदों को विषय करता है इसलिये—विद्यमान तथा अविद्यमान अनेक वर्ण और पदोंमें उपपन्न होती है। ऐसी स्थितिमें वर्णोंके समूह को पद तथा पदोंके समूह को वाक्य कहना उचित ही है।

नव्य—अनेकार्थक शब्द प्रयोगस्थलमें तात्पर्य (वक्ता की इच्छा) के ज्ञान को भी शाब्दबोधके प्रति कारण मानते हैं। इसलिये—भोजन कालमें 'सैन्धव' शब्द के प्रयोगसे 'सैंधा नमक' समझा जाता है, और गमन समयमें उसके प्रयोगसे 'सिन्धु देश का घोड़ा' समझा जाता है। पद दो प्रकारके होते हैं, जैसे—शक्त और लाक्षणिक। इनमें शक्त पद—चार प्रकारके होते हैं जैसे—रूढ, यौगिक, योगरूढ और यौगिकरूढ। इनमें—अवयवार्थकी अपेक्षा न करके जिस पदकी शक्ति किसी दूसरे अर्थ में हो, उसे रूढ कहते हैं। जैसे—गो, मण्डप आदि पद। क्यों कि—अवयवार्थ 'गमनकर्तृत्व' आदिकी अपेक्षा न करके गो आदि पदों की शक्ति गाय आदिमें है। एवं—जिस पदके अवयवों की शक्ति अवयवार्थ में ही है, वह यौगिक पद है। जैसे—पाचक, पाठक आदि पद। क्यों कि—पाचक आदि पदोंके अवयव 'पच्' धातु और 'ण्वुल्' प्रत्यय आदिकी शक्ति—पाक करनेवाला आदिमें है। एवं—अवयवार्थकी अपेक्षा करके जिस पदकी शक्ति किसी अन्य अर्थ में हो, उसे योगरूढ कहते हैं। जैसे पङ्कज आदि पद। क्यों कि—अवयवार्थ 'पङ्कजनिकर्तृत्व' की अपेक्षा करके पङ्कज पदकी शक्ति कमलमें है। एवं—जिस पदके अवयवों की शक्ति अवयवार्थमें स्वतन्त्र हो, और कहीं

अवयवार्थ की अपेक्षा न करके उस पद की शक्ति अन्यमें ही स्वतन्त्र हो, वह यौगिकरूढ है। जैसे-उद्भिद् आदि पद। क्यों कि-उद्भित् पदके अवयव 'उत् पूर्वक भिद्' धातु और 'क्विप्' प्रत्ययकी शक्ति ( भूमि का ) उद्भेदन कर होनेवालों ( वृक्ष, लता आदियों ) में है, और अवयवार्थ—'उद्भेदनकर्तृत्व' की अपेक्षा न करके उस पद की शक्ति यज्ञ में है।

शाब्दबोध दो प्रकारके होते हैं, जैसे-शक्यार्थबोध और लक्ष्यार्थबोध। इनमें—अर्थमें पदकी शक्तिके ज्ञानसे उसके अर्थका स्मरण होकर जो शाब्दबोध होता है, वह शक्यार्थबोध है। तथा-अर्थमें पदकी लक्षणाके ज्ञानसे उसके अर्थ का स्मरण होकर जो शाब्दबोध होता है, वह लक्ष्यार्थबोध है। इस तरह-अर्थमें पदके सम्बन्ध दो प्रकार के सिद्ध हुए। जिनमें-एक है 'शक्ति' और अपर है 'लक्षणा'। उनमें-शक्ति ( वाचकतारूपा ) एक प्रकार की होती है। और लक्षणा ( प्रकृत शब्दके वाच्य-अर्थका जो प्रकृत अर्थमें सम्बन्ध, वह ) दो प्रकार की होती है, जैसे-अलक्षितलक्षणा और लक्षितलक्षणा। इनमें-अलक्षितलक्षणा तीन प्रकार की होती है, जैसे—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा। इनमें-जिस सम्बन्धके ज्ञानसे लक्षक पदसे वाच्यार्थसे भिन्न ही लक्ष्यार्थका बोध हो वह सम्बन्ध जहल्लक्षणा है। जैसे-'गङ्गा में मंदिर है' एतादृश वाक्यके प्रयोगस्थलमें-स्ववाच्य प्रवाह संयोग सम्बन्धके ज्ञानसे गङ्गा पदसे प्रवाहसे भिन्न ही तीरका बोध होता है, अतः यहाँ तादृश संयोग सम्बन्ध जहल्लक्षणा है। एवं-जिस सम्बन्धके ज्ञानसे लक्षक पदसे-वाच्यार्थ और उससे भिन्न अर्थ दोनों का लक्ष्यार्थ रूपसे बोध हो वह सम्बन्ध अजहल्लक्षणा है। जैसे-'कौएसे दही को बचाओ' एतादृशवाक्य प्रयोगके स्थलमें-स्ववाच्यकाकसादृश्य सम्बन्धके ज्ञानसे कौआ पदसे-कौआ और बिल्ली, कुत्ता आदियों का बोध होता है, अतः यहाँ तादृश सादृश्य सम्बन्ध है अजहल्लक्षणा। यहां सादृश्य, दध्युपघातकत्व-रूपसे समझना चाहिये। एवं-जिस सम्बन्धके ज्ञानसे लक्षक पदसे वाच्यार्थके भाग का ही लक्ष्यार्थरूपसे बोध हो वह सम्बन्ध है जहदजहल्लक्षणा। जैसे-'तत्त्वमसि, इस महावाक्यके प्रयोगस्थलमें स्ववाच्यांशता सम्बन्धके ज्ञानसे तत् तथा त्वम् पदसे चेतनमात्र का बोध होता है, अतःयहां तादृश 'अंशता' सम्बन्ध है जहदजहल्लक्षणा। एवं-जिस परम्परा सम्बन्धके ज्ञानसे लक्षक पदसे लक्ष्यार्थ का बोध हो वह परम्परा सम्बन्ध है लक्षित लक्षणा। जैसे-'द्विरेफ मधु पीता है' एतादृश वाक्यके प्रयोगस्थल में-स्ववाच्य-रेफद्वयघटित ( भ्रमर ) पद-वाच्यता स्वरूप परम्परा सम्बन्धके ज्ञानसे द्विरेफ पदसे भ्रमर जन्तुका बोध होता है, अतः यहाँ तादृश परम्परा सम्बन्ध है लक्षितलक्षणा। इस तरह लक्षक पद भी चार प्रकारके होते हैं। जैसे—जहल्लक्षक, अजहल्लक्षक, जहदजहल्लक्षक और लक्षितलक्षक।

शक्तिज्ञानके कारण चार प्रकारके हैं, जैसे-उपमान, आप्तवाक्य, व्यवहार और

तदिदं वाक्यमाप्तपुरुषेण प्रयुक्तं सच्छब्दनामकं प्रमाणम् । फलं त्वस्य वाक्यार्थज्ञानम् । तच्चैतच्छब्दलक्षणं प्रमाणं लोके वेदे च समानम् । लोके त्वयं विशेषो यः कश्चिदेवाप्तो भवति, न सर्वः । अतः

---

प्रकृतमुपसंहरति—तदिदमिति । यतो वर्णसमूहः पदमित्याद्युपपादितं तस्मादित्यर्थः । इदम्—पदसमूहरूपम् । प्रयुक्तम्—प्रयुज्यमानम् । कारणस्य फलवत्त्वनियमादस्य फलमाह—फलमिति । अस्य—शब्दप्रमाणस्य । पदार्थस्मृतिरूपव्यापारवतः पदज्ञानरूपकरणस्य वाक्यार्थज्ञानं फलमित्याशयः । एतेन वाक्यार्थज्ञाने पदार्था एव करणं तथा पदार्थप्रतिपादने पदानामुपयोग इति वदन्तः परास्ताः । वैदिकवाक्यमात्रस्य शब्दप्रमाणत्वमभ्युपेत्य लौकिकवाक्यमनुमानप्रमाणेऽन्तर्भावयतां मतं निरसितुं वेद इव लोकेऽपि योग्यतादिमत्पदसमूहरूपवाक्यादेव वाक्यार्थप्रतिपत्त्युपपत्तेः लौकिकवाक्यस्य वैदिकवाक्यसमानतया शब्दतया नानुमानेऽन्तर्भावो युक्त इत्यभिप्रेत्याह—तच्चेति । उक्तरीत्योपपादितमित्यर्थः । शब्दलक्षणम्—शब्दरूपम् । शब्दप्रमाणलक्षणस्याप्तवाक्यत्वस्य वैदिकवाक्य इव लौकिकवाक्येऽपि सत्त्वात् तत्रापि शब्दत्वेनैव प्रमाणता न त्वनुमानत्वेनेत्याशयः । न लोकवेदयोः सर्वथा साम्यमपि त्वांशिकमेवेत्याशयेनाह—लोके त्विति । तत्र विशेषमाह—यः

---

प्रसिद्ध पदों का सान्निध्य । इनमें-उपमानसे जैसे शक्तिज्ञान होता है वह उपमान-निरूपणके समयमें बतला चुके हैं । आप्तवाक्यसे वह शक्तिज्ञान होता है, जो गुरुके वाक्यसे शिष्यको पद-शक्तिका ज्ञान होता है । व्यवहारसे वह शक्तिज्ञान होता है, जो माता आदिके व्यवहारसे बच्चा आदिको पद-शक्तिका ज्ञान होता है । और प्रसिद्धपदोंके सान्निध्यसे वह शक्ति ज्ञान होता है, जो-'आम पर पिक कूजते हैं' एतादृश वाक्य प्रयोगस्थलमें-'आम पर' और 'कूजते हैं' इन प्रसिद्ध पदोंके सान्निध्य से कोकिलमें पिक शब्दकी शक्तिका ज्ञान होता है । व्याकरणसे धातु और प्रत्यय आदियोंकी, कोषसे स्वरादिशब्दोंकी, 'सूर्य' शब्दके कहनेसे 'भानु' शब्दकी और अन्यत्र प्रयुक्त वाक्यसे अन्यत्र प्रयुक्त पदकी शक्तियोंके जो ज्ञान होते हैं, उन सबका आप्तवाक्यसे होनेवाले पद-शक्तिज्ञानोंमें अन्तर्भाव है । एवं लक्षणाज्ञानका कारण वक्ताके तात्पर्यकी अनुपपत्तिका ज्ञान है, जो कि एक प्रकारका ही है ।

तदिदम्—इसलिये यह (पदसमूह रूप) वाक्य आप्तव्यक्तिसे प्रयुक्त होता हुआ शब्द नामक प्रमाण है । और इसका फल शाब्दबोध है । यद्यपि शब्दप्रमाण लोक और वेद इन दोनोंमें समान है, तथापि इन दोनोंमें शब्द प्रमाणके सम्बन्धमें भेद यह है कि-लोकमें सब आप्त नहीं होते अर्थात् कोई विरले ही व्यक्ति आप्त होते हैं,

चिदेव लौकिकं वाक्यं प्रमाणं यदाप्तवक्तृकम् । वेदे तु परमाप्तश्रीमहेश्वरेण कृतं सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं सर्वस्यैवाप्तवाक्यत्वात् ।

वर्णितानि चत्वारि प्रमाणानि । एतेभ्योऽन्यन्न प्रमाणं प्रमाणस्य सतोऽत्रैवान्तर्भावात् ।

---

**कश्चिदिति ।** लोके इत्यनुषज्यते । भ्रान्तविप्रलम्भकयोरपि सर्वान्तर्गतत्वादेवकारव्यवच्छेद्यमाह—**न सर्वं इति ।** फलितमाह—**अत इति ।** लोके भ्रान्तविप्रलम्भकयोर्बहुत्वेन यस्य कस्यचिदेवाप्तत्वादित्यर्थः । भ्रान्तविप्रलम्भकवाक्यव्यावर्त्तनायाह—**एवेति ।** ननु किन्तल्लौकिकं वाक्यं यत्प्रमाणं भवतीत्यत आह—**यदिति ।** न लोक इव वेदेऽपि किञ्चिदेव वाक्यं प्रमाणमपि तु सर्वमित्याशयेनाह—**वेदे त्विति ।** अथ वाक्यगताप्रामाण्यप्रयोजकाना वक्तृगतं भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवादीनामेकमनेकं वा लोकान्तर्गतव्यक्तिषु क्वचित्कदाचित्सम्भवति, कदाचिन्न च सम्भवति । अत एव लौकिकव्यक्तेः कदाचिदाप्तता भवति, कदाचिन्न च भवति । महेश्वरे तु तेषामेकमपि कदाचिदपि न सम्भवति, अतएव तत्र नित्याऽऽप्तता राजते इति सूचनायाप्तता विशिनष्टि—परमेति । कुत इत्यत आह—**सर्वस्यैवेति ।** वेदान्तर्गतं किञ्चिदपि वाक्यं प्रामाण्येन वञ्चितं मा भूदिति सूचनायात्र पूर्वत्र चैवः प्रयुक्तः ।

एतावता प्रबन्धेन 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' इति सूत्रोक्तं प्रत्यक्षादि प्रमाणचतुष्टयं व्याख्यातमित्युपसंहरति—**वर्णितानीति ।** एवमित्यादिः । ननु तत्तत्तन्त्रकाराभ्युगतम् अर्थापत्त्यनुपलब्ध्यादिप्रमाणं गौतमेन कुतो न सूत्रितमथवा भवतैव कुतो नोपपादितमित्यत आह—**एतेभ्य इति ।** प्रत्यक्षादि प्रमाणचतुष्टयत इत्यर्थः । कुत इत्यत आह—**प्रमाणस्येति ।** **अत्रैव**—प्रत्यक्षादिप्रमाण-

---

इसलिये लोकमें सभी वाक्य प्रमाण नहीं होते अर्थात् जो वाक्य आप्तोच्चरित होते हैं वे ही प्रमाण माने जाते हैं। किन्तु वेदमें जितने वाक्य है, वे सब प्रमाण हैं, क्यों कि परमाप्त भगवान्‌से उच्चरित होनेके कारण वे सब आप्तवाक्य है। इस तरह चार (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) प्रमाणों का निरूपण किया। क्यों कि–जो प्रमाण है, उसका इन्हीं चार प्रमाणोंमें अन्तर्भाव है, इसलिये इन चार प्रमाणोंसे अतिरिक्त कोई भी प्रमाण नहीं है। यद्यपि–इन चार प्रमाणोंसे अतिरिक्त रूपमें–मीमांसक अर्थापत्तिको, वेदान्ती अनुपलब्धिको, पौराणिक सम्भव और ऐतिह्यको तथा आलङ्कारिक चेष्टा को प्रमाण मानते हैं तथापि नैयायिक इन चार प्रमाणोंमें ही उन

## अर्थापत्तिः

१०. नन्वर्थापत्तिरपि पृथक् प्रमाणमस्ति । अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः । तथाहि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दृष्टे श्रुते वा रात्रिभोजनं कल्प्यते । दिवा

---

चतुष्टय एव । यद्यद्धर्मावच्छिन्नेन प्रमा क्रियते, तत्तद्धर्मावच्छिन्नस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणचतुष्टयेऽन्तर्भावात्ततोऽतिरिक्तं किञ्चिदपि प्रमाणतां नार्हतीत्याशयः ।

अथ प्रत्यक्षादिषु यथायथमर्थापत्त्यादीनामन्तर्भावमुपपादयितुम् तमसहमानो मीमांसकः शङ्कते—नन्विति । पृथगिति—प्रत्यक्षादिप्रमाणत इत्यादिः । अर्थापत्तिशब्दोऽर्थस्यापत्तिः ( कल्पना ) इति षष्ठीसमासेनोपपादककल्पनारूपप्रमायां वर्त्तते, तथाऽर्थस्यापत्तिः ( कल्पना ) यस्मादिति व्यधिकरणबहुव्रीहिसमासेनोपपाद्य- वर्त्तते इति फलकरणयोरुभयोरर्थापत्तिपदप्रयोगः । न च व्यधिकरण- साध्याभाववदवृत्तिहेतुरित्यादावगत्या तस्याङ्गीकारात् । एवञ्चार्थापत्ति- प्रमाणमिति तत्प्रमाणलक्षणपरकतत्प्रमाया अनिरूपणेऽर्थापत्तिप्र- न सम्भवतीति प्रथमन्तत्प्रमा निरूपयति—अनुपपद्यमानेति । अनुपपद्यमानार्थदर्शनं । उपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनार्थापत्तिः ( प्रमा ) भावः । येन विना यदनुपपन्नं तेनोपपादकेन तदुपपाद्यम् । यथा रात्रिभोजनेन विना दिवाऽभुञ्जानत्वसमानाधिकरणपीनत्वमनुपपन्नमिति रात्रिभोजनरूपोपपादकेन एवपीनत्वमुपपाद्यम् । तथा च तादृशपीनत्वज्ञानेन रात्रिभोजनं कल्पनीयमित्यार्थापत्तिप्रमाणं निरूपयति—तथाहीति । कुत इत्यत आह—दिवाऽभुञ्जा-

---

प्रमाणोंका अन्तर्भाव करते हैं, जिन पाँच प्रमाणोंमें—दो प्रमाणों ( अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ) का अन्तर्भाव क्रमशः अनुमान और प्रत्यक्ष अनुमान और शब्दमें ग्रन्थकार दिखा रहे हैं, और तीन प्रमाणों ( सम्भव, ऐतिह्य और चेष्टा ) का अन्तर्भाव क्रमशः अनुमान और शब्दमें हम दिखायेंगे ।

ननु—अनुपपद्यमान वस्तुके देखनेसे जो उसके उपपादकीभूत वस्त्वन्तर की कल्पना होती है वह अर्थापत्ति प्रमा है । और उसका करण—अनुपपद्यमान ( उपपाद्य ) वस्तुका ज्ञान, वह अर्थापत्ति प्रमाण है । जैसे—यदि किसीने देखा या सुना कि—'देवदत्त मोटा है, किन्तु वह दिनमें नहीं खाता' तो उसने कल्पना करता है कि—'देवदत्त रातमें खाता है' क्योंकि—रातमें खाये विना दिनमें नहीं खानेवालेका मोटापन नहीं हो सकता । यहां रात्रि भोजनकी कल्पना, अर्थापत्ति प्रमा है, और उसका करण—दिन

अभुञ्जानस्य पीनत्वं रात्रिभोजनमन्तरेण नोपपद्यतेऽतः पीनत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिरेव रात्रिभोजने प्रमाणम् । तच्च प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं रात्रिभोजनस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात् ।

नैतत् । रात्रिभोजनस्यानुमानविषयत्वात् । तथाहि, अयं देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवा अभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात् । यस्तु न रात्रौ भुङ्क्ते नासौ दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनो यथा दिवा रात्रावभुञ्जानोऽपीनो,

नस्येति । फलितमाह—पीनत्वान्यथेति । एवञ्च दिवाऽभुञ्जानत्वविशिष्टेत्यादिः । तत्र वैशिष्ट्यञ्च सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन । अर्थापत्तेः प्रत्यक्षादिप्रमाणतः पृथक्प्रमाणतां व्यवस्थापयति—तच्चेति । अर्थापत्तिप्रमाणञ्चेत्यर्थः । कुत इत्यत आह—रात्रीति । यत्र दिवाऽभुञ्जानत्वसमानाधिकरणपीनत्वन्तत्र रात्रिभोजनमिति व्याप्तेः (योगिनि व्यभिचारेणासत्त्वात्) दुर्ग्रहात्, तादृशपीनत्वानुपपत्तेः सामानाधिकरण्यस्य रात्रिभोजनेऽसत्त्वेन तयोर्व्याप्तेरसम्भवाच्चार्थापत्तिप्रमाणस्यानुमानेऽप्यन्तर्भावो न सम्भवतीति तस्य प्रत्यक्षोपमानशब्देष्वन्तर्भावचर्चाऽपि गगनकुसुमायमानैवेति भावः ॥

नैयायिकोऽर्थापत्तिमनुमानमानेऽन्तर्भावयन् तस्याः पृथक् प्रमाणता खण्डयति—नैतदिति । कुत इत्यत आह—रात्रिभोजनस्येति । दिवाऽभुञ्जानत्वसमानाधिकरणपीनत्वोपपादकस्येति भावः । अनुमानेति—व्यतिरेकव्यनुमानेत्यर्थः । पञ्चावयवानुमानवाक्यं प्रयुञ्जानः तस्य तादृशानुमानविषयत्वमुपपादयति—तथाहीति । तत्र प्रतिज्ञां निर्दिशति—अयमिति । हेतुं निर्दिशति—दिवेति । अत्र योगिनिव्यभिचारवारणाय योगिभिन्नत्वे सतीति निवेश्यमिति केचिद्वदन्ति । तथा साध्याभा-

भोजन रहित-मोटापनका ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण है। वह प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भिन्न है, क्योंकि-रात्रिभोजन प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अविषय है। इसलिये अर्थापत्ति प्रमाको एक स्वतन्त्र प्रमा माननी चाहिये, और उसके करणभूत अर्थापत्ति प्रमाणको एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिये।

उत्तर—किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि वहां-'शिवेश रातमें खाता है, क्यों कि वह दिनमें नहीं खाता हुआ मोटा है, जो रातमें नहीं खाता वह दिनमे नहीं खाता हुआ मोटा नहीं होता है जैसे दिन और रात दोनोंमें नहीं खानेवाला दुर्बल [गणेश, शिवेश दिनमें नहीं खाता हुआ मोटा नहीं है यह बात नहीं है अर्थात् वह दिनमें नहीं खाता हुआ भी मोटा ही है, इसलिये वह रातमें नहीं खाता है यह बात भी नहीं है

न चायं तथा, तस्मान्न तथेति । केवलव्यतिरेक्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य प्रतीयमानत्वात् किमर्थमर्थापत्तिः पृथक्त्वेन कल्पनीया ।

अभावः

११. ननु अभावाख्यमपि पृथक् प्रमाणमस्ति । तच्चाभावग्रहणा-

---

व्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूपव्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमुपजीव्य जायमानो रात्रिभोजित्वाभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगि(योगिभेदविशिष्ट)दिवाऽभुञ्जानत्वसमानाधिकरणपीनत्ववानयमिति परामर्शोऽनुमितिं जनयति । व्यापकत्वञ्च स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वमिति बोध्यम् । उदाहरणं दर्शयति—यस्त्विति । उपनयमाचष्टे—न चायमिति । निगमनं प्रयुङ्क्ते—तस्मान्नेति । केवलेति—पञ्चावयवेनेत्यादिः । रात्रिभोजनमन्तरेण दिवाऽभुञ्जानत्वसमानाधिकरणपीनत्वमनुपपद्यमानं रात्रिभोजनं कल्पयतीति वदता मीमांसकेन भवतैव तादृशपीनत्वरात्रिभोजनयोः व्यतिरेकव्याप्तिमुपजीव्य प्रवर्त्यमानाया अर्थापत्तेः व्यतिरेक्यनुमानेऽन्तर्भावसरणिः दर्शितेत्याशयः । किमर्थमर्थापत्तिरिति—पृथक्प्रमाणत्वेनेति शेषः । क्लृप्तेनोपपत्तावक्लृप्तकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति भावः ॥

अथाभावग्राहकमनुपलब्धिनामकं प्रत्यक्षादिप्रमाणेभ्यः पृथक् षष्ठं प्रमाणमस्तीति प्रवदन्तो वेदान्तिनः प्रत्यवतिष्ठन्ते—नन्विति । अभावाख्यम्—अनुपलब्धिनामकम् । अपिनाऽन्यप्रमाणसमुच्चयः । पृथगिति—प्रत्यक्षादिप्रमाणेभ्य इत्यादिः । घटादितदभावप्रमयोर्वैलक्षण्यानुभवेन तयोः करणवैजात्यस्य दुर्वारत्वात्, रूपरसगन्धस्पर्शशब्दादिरहितस्याभावस्यैन्द्रियकत्वासम्भवात्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिकरणज्ञानादिजनकत्वेनोपक्षीणत्वादभावज्ञानम्प्रत्यन्यथासिद्धत्वाच्च इन्द्रियमभावं ज्ञापयितुं न शक्नोतीत्युभयोर्भावाभ्याम् ( भवता नैयायिकेन, वेदान्तिना मया च ) तत्प्रमायाः करणतयाऽनुपलब्धिरेवाङ्गीकार्येत्याशयेनाह—तच्चेति । अनुपलब्धि-

---

अर्थात् वह रातमें अवश्य खाता है' इस तरह केवल व्यतिरेकी अनुमानसे ही रात्रि भोजनकी अनुमिति हो जाती है। ऐसी स्थितिमें अर्थापत्ति प्रमा अनुमिति प्रमामें अन्तर्भूत हुई, और अर्थापत्ति प्रमाण अनुमान प्रमाणमें अन्तर्भूत हुआ। इसलिये अर्थापत्ति प्रमाको एक स्वतन्त्र प्रमा, तथा अर्थापत्ति प्रमाणको एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना जरूरी नहीं है।

ननु—जिसकी अनुपलब्धिसे जो उसके अभावका ज्ञान होता है वह आनुपलब्धिक

याङ्गीकरणीयम्; तथाहि घटाद्यनुपलब्ध्या घटाद्यभावो निश्चीयते । अनुपलब्धिश्चोपलब्धेरभाव इत्यभावप्रमाणेन घटाद्यभावो गृह्यते ।

---

नामकत्वेत्यर्थः । करणत्वेनेति शेषः । नचाभावप्रमाकरणत्वस्येन्द्रिये, तत्सहकारित्वस्य चानुपलब्धावभ्युपगमेन निर्वाहः शङ्क्यः, तथा सत्यभावेन्द्रिययोः सन्निकर्षस्याधिकस्यावश्यकल्पनीयतया गौरवात् । मन्मते तु तदकल्पनेनैव निर्वाहाल्लाघवमिति भावः । तदुपपादयति—**तथाहीति । अनुपलब्ध्या**—योग्यानुपलब्ध्या । ननु केयं योग्यानुपलब्धिः ? किं योग्यस्य ( प्रतियोगिनः ) अनुपलब्धिरथवा योग्ये ( अधिकरणे प्रतियोगिनः ) अनुपलब्धिः ? तत्र नाद्यः, तथा सति स्तम्भादौ पिशाचादिभेदस्याप्रत्यक्षत्वापत्तेः । नापि चरमः, तथा सत्यात्मनि धर्माधर्माद्यभावस्यापि प्रत्यक्षतापत्तेरिति चेन्न, योग्या चासावनुपलब्धिरिति कर्मधारयाश्रयणेन सामञ्जस्यात् । तत्र योग्यता च प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा । योऽभावो गृह्यते, तस्य यः प्रतियोगी, तस्य सत्त्वप्रसञ्जनेन प्रसञ्जित॰ ( आपादितः ) प्रतियोगी ( उपलब्ध्यात्मकः ) यस्या अनुपलब्धेस्तस्यास्तत्त्वं योग्यत्वमित्यर्थः । ननु किमर्थं योग्यतयाऽनुपलब्धिं विशिनष्टीति चेन्न, अन्धकारे घटाद्यनुपलब्धिसत्त्वेऽपि तदभावानिश्चयेन योग्यानुपलब्धेरेवाभावग्राहकत्वात् ॥ ननु काऽसावनुपलब्धिरित्यत आह—**अनुपलब्धिश्चेति । उपलब्धेः**—साक्षात्कारस्य । उपपादितन्तदुपसंहरति—**अभावप्रमाणेनेति ।** योग्यानुपलब्धिरूपप्रमाणेनेत्यर्थः ।

अत्र घटो नास्तीत्यादौ योग्यानुपलब्धिसहकृतप्रत्यक्षप्रमाणेनैव घटाभावादिग्रहणोपपत्तेस्तदर्थमनुपलब्धिनामकं क्लृप्तप्रमाणेभ्यः पृथक् प्रमाणं नाभ्युपगन्तव्यमि-

---

प्रमा है और उसका जो करण, वह अनुपलब्धि प्रमाण है। जैसे—जब कोई किसी घरमें घड़ाको नहीं देखता है, तब वह 'यदि इस घरमें घड़ा होता तो मै उसे यहाँ देखता, जिस लिये मैं उसे यहाँ नहीं देख रहा हूँ, इसलिये इस घरमें घड़ा नहीं है' इस तरह वहाँ घटके अभावका ज्ञान करता है। यहाँ घटके अभावका ज्ञान, आनुपलब्धिक प्रमा है, और उसका करण, घटकी अनुपलब्धि ही अनुपलब्धि प्रमाण है। वह प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भिन्न है, क्योंकि अभाव प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका अविषय है। अतः आनुपलब्धिक प्रमाको भी एक स्वतन्त्र प्रमा तथा अनुपलब्धि प्रमाण को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिये।

नैतत् । यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यदित्यादितर्कसहकारिणा अनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवाभावग्रहणात् ।

नन्विन्द्रियाणि संबद्धार्थग्राहकाणि । तथाहीन्द्रियाणि वस्तु प्राप्य

---

त्वाशयेन नैयायिको वेदान्त्युक्तं खण्डयति—नैतदिति । तत्र वक्ष्यमाणदर्शः अनु इति, तत्रानुपलब्धौ योग्यता दर्शित इत्यभिप्रायेण तादृशं तर्कं निर्दिशति—यद्यत्रेति । स्पष्टालोकादिमत्येवाधिकरणे एतादृशतर्कप्रयोगो भवतीत्याशयः । 'लिङ्निमित्ते लृङ्क्रियातिपत्तौ' इति सूत्रविहितलृङ्निष्पन्नं प्रयुङ्क्ते—अभविष्यदिति । आदिना—'यतो नोपलभ्यते, अतो नास्त्यत्र घटः' इति तर्कोऽपमाणो ग्राह्यः । तर्कः सहकारी यस्य तेनेति व्युत्पत्तिनिष्पन्नं प्रयुङ्क्ते—तर्कसहकारिणेति । प्रत्यक्षेण—इन्द्रियेण । भवन्मते इन्द्रियजन्यघटादिज्ञान—इदानीमस्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानयोः प्रमाणवैलक्षण्येऽप्येकजातीयस्य दर्शनात् घटादितदभावज्ञानयोर्वैलक्षण्येऽपि प्रमाणैकजात्यस्य सम्भवात्, रूपादिरहितस्य रूपादेरैन्द्रियकत्वदर्शनेन तादृशस्याभावस्याप्यैन्द्रियकत्वसम्भवात्, अधिकरणज्ञानस्यावान्तरव्यापाररूपतया तेनेन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरुपक्षीणतया असम्भवाच्चेन्द्रियमभावप्रमायाः करणं सम्भवतीति भावः ।

नन्विन्द्रियाभावयोः सम्बन्धाभावादभावस्येन्द्रियग्राह्यता न सम्भवतीत्यगत्या तस्यानुपलब्धिगम्यत्वमेवाभ्युपगन्तव्यमित्यभिप्रायेणेन्द्रियाणां सम्बद्धार्थग्राहकत्वं वदाह—नन्विति । तदुपपादयति—तथाहीति । नचात्र स्मृतिकरणे मनसि

---

उत्तर—किन्तु यह युक्त नहीं है, क्योंकि—यहाँ 'यदि इस घर में घड़ा होता·····' इत्यादि रीति से अनुपलब्धि-सहकृत इन्द्रिय से ही अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। यहाँ अनुपलब्धि पद से योग्यानुपलब्धि समझनी चाहिये, क्योंकि—जहाँ जिसके रहने पर इन्द्रिय से उसका ज्ञान हो सकता है, वहीं उसके प्रत्यक्ष न होने पर इन्द्रियों से उसके अभाव का ज्ञान होता है। अतः अनुपलब्धि अभाव ज्ञापक इन्द्रिय की ही सहकारिणी होती है, न कि—अतीन्द्रिय वस्तु के अभावों की अनुमिति या शाब्दबोध के करण भूत अनुमान या शब्द की। ऐसी स्थिति में—आनुपलब्धिक प्रमा का प्रत्यक्ष या अनुमिति या शाब्द प्रमा में अन्तर्भाव हो जाने के कारण—उसको एक स्वतन्त्र प्रमा तथा अनुपलब्धि को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानने की जरूरत नहीं है।

ननु—आलोक के समान ज्ञानकरण होने के कारण इन्द्रियाँ स्वसम्बद्ध विषयों

प्रकाशकारीणि ज्ञानकरणत्वादालोकवत्। यद्वा चक्षुःश्रोत्रे वस्तु प्राप्य प्रकाशकारिणी बहिरिन्द्रियत्वात् त्वगादिवत्। त्वगादीनां तु प्राप्य प्रकाशकारित्वमुभयवादिसिद्धमेव, न चेन्द्रियाभावयोः संबन्धोऽस्ति। संयोगसमवायौ हि संबन्धौ न च तौ तयोः स्तः। द्रव्ययोरेव संयोग इति

---

स्मर्यमाणार्थेन सम्बन्धाभावाद् व्यभिचार इति वाच्यम्, संस्कारद्वारा मनसोऽपि तेन सम्बन्धात्, संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिरिति पक्षे मनसः स्मृतिकरणत्वस्यैवानभ्युपगमाच्च। अथ त्वग्घ्राणरसनादीनां प्राप्तार्थप्रकाशकतायामविवादात्, चक्षुपा काचस्फटिकाद्यन्तरितार्थानामप्युपलब्ध्या तस्य, अयं शब्द· प्राच्योऽयं शब्दः प्रतीच्य इत्यादिदिग्विशेषव्यवहारानुपपत्त्या शब्दस्य श्रोत्रदेशमागन्तुमशक्तया श्रोत्रस्य च प्राप्तवस्तुप्रकाशकता न सम्भवतीति शङ्कासम्भवादाह—यद्वेति। स्मृतिम्प्रति मनः करणमिति पक्षे संस्कारघटितप्रत्यासत्त्यनभ्युपगमे तत्र व्यभिचारवारणायाह—बहिरिति। काचादीनां तेजोगतिप्रतिघातकत्वाभावात् सर्वत्र चाक्षुषस्थले चक्षुषो रश्मिद्वाराऽर्थेन सम्बन्धात्, शब्दो वीचीतरङ्गन्यायेन श्रोत्रमागच्छेदिति तस्य चार्थेन सम्बन्धात् चक्षुःश्रोत्रयोः प्राप्तार्थप्रकाशकता समुपपद्यते। नचैवं तत्र तादृशदिग्विशेषव्यवहारानुपपत्ति', तथाऽभ्युपगमेऽपि दिग्विशेषानुसन्धानवतस्तदुपपत्तेः, तदनुसन्धानाभाववतः कुत्रत्योऽयं शब्द इति सन्देहदर्शनाच्च। न च प्रासादोपरि स्थितेनाधस्ताज्जायमानः शब्दो वीचीतरङ्गन्यायेन नोपलभ्येतेति वाच्यम्, तेनापि कदम्बमुकुलन्यायेन तादृशस्यापि शब्दस्योपलब्धेः। चक्षुःश्रोत्रयोरप्राप्तार्थप्रकाशकत्वे ताभ्यां सर्वार्थोपलम्भः स्यादिति विपक्षबाधकतर्कोऽपि बोध्यः॥ अत्र दृष्टान्तस्य साध्यविकलतां निराकरोति—त्वगादीनामिति। नन्वेवमिन्द्रियाणा प्राप्तवस्तुप्रकाशकत्वे समुपपन्ने इन्द्रियं सम्बद्धमभावं ग्राहयेदित्यत आह—नचेन्द्रियेति। कुत इत्यत आह—संयोगेति। प्रसिद्धाविमावेव सम्बन्धौ भवन्मते इति भावः। हि—यतः। तौ—संयोगसमवायौ। तयोः—इन्द्रियाभावयोः। तदुपपादयति—द्रव्ययोरिति। तत्र न तावदिन्द्रियाभावयो' संयोगः सम्भवतीत्यादिः।

---

की ही ज्ञापिकायें होती है, ऐसी स्थिति में (अनुपलब्धि सहकृत) इन्द्रियों से अभावों का ज्ञान तभी हो सकता है, जब कि इन्द्रियों के साथ अभावों के सम्बन्ध हों। किन्तु-इन्द्रिय और अभावों में परस्पर सम्बन्ध ही नहीं हैं क्योंकि-(मुख्य) सम्बन्ध दो है-संयोग और समवाय। इनमें-संयोग द्रव्यों में ही, और समवाय

नियमाद् , अभावस्य च द्रव्यत्वाभावात् । अयुतसिद्धत्वाभावान्न समवायोऽपि । विशेषणविशेष्यभावश्च संबन्ध एव न संभवति, भिन्नोभयाश्रितैकत्वाभावात् । संबन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नो भवत्युभयसंबन्ध्याश्रितश्चैकश्च । यथा भेरीदण्डयोः संयोगः । स हि भेरीदण्डाभ्यां भिन्नस्तदुभयाश्रितश्चैकश्च न च विशेषणविशेष्यभावस्तथा । तथाहि दण्डपुरुषयोर्विशेषणविशेष्यभावो न ताभ्यां भिद्यते । न हि दण्डस्य विशेषणत्वमर्थान्तरं, नापि पुरुषस्य विशेष्यत्वमर्थान्तरमपि तु स्वरूपमेव । अभावस्यापि विशेषणत्वात् विशेष्यत्वाच्च । न चाऽभावे कस्यचित् पदा-

---

अयुतेति—अभावेन्द्रिययोरित्यादि । न—न च । नन्वेवमपि तयोः विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध उपपद्येतेत्यत आह—विशेषणेति । इन्द्रियाभावयोर्विशेषणविशेष्यभावः सम्भवति, किन्तु तस्य सम्बन्धत्वमेव न सम्भवतीत्याशयः । च—तु । कुत इत्यत आह—भिन्नोभयेति । उभयसम्बन्धिभिन्नत्वस्योभयसम्बन्ध्याश्रितत्वस्यैकत्वस्य चाभावादित्यर्थः । कुतस्तदभावात्तस्य न सम्बन्धत्वमित्यत आह—सम्बन्ध इति । हि—यतः । एवं सम्बन्धलक्षणमभिधाय तदुदाहरति—यथेति । तदुपपादयति—स हीति । तदुभयेति—भेरीदण्डोभयेत्यर्थः । तथा—तादृशलक्षणलक्षित । तदुपपादयति—तथाहीति । दण्डी पुरुष इत्यत्रेति शेष । ताभ्याम्—दण्डपुरुषाभ्याम् । अर्थान्तरमिति—(दण्डात्) पृथग् वस्त्वित्यर्थः । अर्थान्तरमिति—पुरुषादित्यादि । स्वरूपमेवेति—दण्डनिष्ठविशेषणत्वं दण्डस्वरूपम्, पुरुषनिष्ठविशेष्यत्वञ्च पुरुषस्वरूपम्, नातिरिक्तरूपमित्यर्थः । कुत इत्यत आह—अभावस्येति—घटाभाववान् पटाभाव इत्यत्रेत्यादिः । यतः घटा-

---

अयुतसिद्धों में ही परस्पर होते हैं। अभाव न तो द्रव्य ही है और न अयुतसिद्ध ही है। अतः इन्द्रिय के साथ अभाव का संयोग या समवाय नहीं हो सकता है। तब रही बात—अभाव में इन्द्रियों के विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध होने की, किन्तु विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध ही नहीं है क्योंकि—सम्बन्ध—दोनों सम्बन्धियों में आश्रित और एक होता है। जैसे—भेरी और दण्ड का संयोग—भेरी और दण्ड से भिन्न, भेरी और दण्ड में आश्रित तथा एक है, किन्तु—विशेषण विशेष्य भाव दोनों सम्बन्धियों से भिन्न नहीं है। क्योंकि—'घटाभाववाला पटाभाव है' यहाँ—घटाभावनिष्ठ विशेषणता घटाभावस्वरूप ही है, और पटाभावनिष्ठ—विशेष्यता पटाभाव स्वरूप ही है, क्योंकि—अभाव में द्रव्य, गुणाद्यन्यतम के न रहने के कारण तत्तन्निष्ठ विशेषणता तथा विशेष्यता अर्थान्तर स्वरूप नहीं हो सकती।

र्थस्य द्रव्याद्यन्यतमस्य संभवः । तस्मादभावस्य स्वोपरक्तबुद्धिजनकत्वं यत् स्वरूपं तदेव विशेषणत्वं, न तु तदर्थान्तरम् । एवं व्याप्यव्यापकत्वकारणत्वादयोऽप्यूह्याः । स्वप्रतिबद्धबुद्धिजनकत्वं स्वरूपमेव हि व्यापकत्वमग्न्यादीनाम् । कारणत्वमपि कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकिस्वरूपमेव हि तन्त्वादीनां, न त्वर्थान्तरमभावस्यापि व्यापकत्वात् कारणत्वाच्च, न ह्यभावे सामान्यादिसंभवः । तदेवं विशेषणविशेष्यभावो न

भावनिष्ठविशेषणत्वं घटाभावस्वरूपमेव, एवं पटाभावनिष्ठविशेष्यत्वं पटाभावस्वरूपमेव, न त्वतिरिक्तरूपमित्यर्थः । नन्वभावस्यापि विशेषणत्वं विशेष्यत्वञ्च ततोऽर्थान्तरमेव भवेदित्यत आह—**न चाभाव इति** । आदिना गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां परिग्रहः । यद्यभावस्य विशेषणत्वं विशेष्यत्वञ्च ततोऽर्थान्तरं स्यात्तर्हि तत् द्रव्यादीनामन्यतममेव स्यात्, किन्त्वेतन्न सम्भवति, अभावस्य भावाधिकरणत्वासम्भवेन तत्र तदन्यतमासम्भवात् । प्रकृतमुपसंहरति—**तस्मादिति** । यस्मादभावस्य विशेषणत्वं विशेष्यत्वञ्च ततोऽर्थान्तरं न सम्भवति, तस्मादित्यर्थः । **स्वोपरक्तेति**—स्वविशिष्टेत्यर्थः । **विशेषणत्वमिति**—तस्येत्यादिः । **तदिति**—विशेषणत्वमित्यर्थः । तस्मादिति शेषः । एवमभावस्य यत् स्वविशेष्यकप्रतीतिजनकत्वं स्वरूपं तदेव तस्य विशेष्यत्वं न तु तत्ततोऽर्थान्तरमिति बोध्यम् । नन्वेवं व्याप्यव्यापकभावादयोऽपि सम्बन्धा न स्युरित्यत्रेष्टापत्त्या परिहरति—**एवमिति** । **व्यापकत्वकारणत्वादयः**—व्याप्यव्यापकभावकार्यकारणभावादयः । ऊहप्रकारमाह—**स्वप्रतिबद्धेति** । स्वव्याप्येत्यर्थः । एवं स्वव्यापकप्रतीतिजनकत्वं स्वरूपमेव व्याप्यत्वं धूमादीनामिति भावः । **कारणत्वमिति**—एवमित्यादिः । **व्यतिरेकीति**—व्यतिरेकित्वेत्यर्थः । भावप्रधाननिर्देशात् । **अर्थान्तरमिति**—तत इत्यादि । एवं कारणतानिरूपकत्वं स्वरूपमेव कार्यत्वं पटादीनां न तु तस्मादर्थान्तरमिति बोध्यम् । व्यापकत्वादेः व्यापकादिस्वरूपतोऽर्थान्तरत्वाभावे युक्तिमाह—**अभावस्यापीति** । ह्रदो धूमाभाववान् वह्न्यभावादित्यत्र धूमाभावस्य व्यापकत्वात्, कार्यम्प्रति प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वाच्चेत्यर्थः । एवन्तत्र वह्न्यभावस्य व्याप्यत्वात्, ध्वंसस्य कार्यत्वाच्चेति भावः । ननु गोत्वादीनामिव व्यापकत्वादीनामपि

एवं-विशेषण विशेष्यभाव दोनों सम्बन्धियों-में आश्रित भी नहीं है । क्योंकि-विशेषण में विशेषणता ही रहती है, न कि विशेष्यता भी; और विशेष्य में विशेष्यता ही

विशेषणविशेष्यस्वरूपाभ्यां भिन्नौ, नाप्युभयाश्रितो विशेषणे विशेषणभावमात्रस्य सत्त्वात् विशेष्यभावस्याऽभावाद् विशेष्ये च विशेष्यभावमात्रस्य सद्भावात् विशेषणभावस्याभावात्। नाप्येको विशेषणं च विशेष्यं च तयोर्भाव इति द्वन्द्वात्परः श्रूयमाणो भावशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। तथा च विशेषणभावो विशेष्यभावश्चेत्युपपन्नं द्वावेतावेकश्च संबन्धः। तस्माद्विशेषणविशेष्यभावो न संबन्धः। एवं व्याप्यव्यापकभावादयोऽपि। संबन्धशब्दप्रयोगस्तूभयनि-

---

त्यादिरूपतयाभिलप्यत आह—न ह्यभाव इति। एवं विशेषणविशेष्यभावस्योपपादितमर्थान्तरत्वाभावमुपसंहरति—तदेवमिति। तस्य विशेषणविशेष्यस्वरूपाभ्यामर्थान्तरत्वाभाववद् उभयाश्रितत्वाभावोऽपीत्याह—नापीति। कुत इत्यत आह—विशेषण इति। यतो विशेषणत्वमात्रं विशेषणनिष्ठं न तु विशेष्यत्वम्, एवं विशेष्यत्वमात्र विशेष्यनिष्ठं न तु विशेषणत्वमत इति भावः। तस्य तदुभयवदेकत्वाभावोऽपीत्याह—नाप्येक इति। विशेषणविशेष्यभाव इति शेष.। कुत इत्यत आह—विशेषणश्चेति। यत इत्यादिः। तयोर्भाव इति—इति विशेषणविशेष्य इत्यादिः। विशेषणविशेष्यभाव इति शेष। इतीति—रीत्या निष्पन्ने विशेषणविशेष्यभावशब्दे इति शेषः। प्रत्येकमिति—विशेषणशब्दे विशेष्यशब्दे चेत्यर्थः। द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते इति न्यायादिति भावः। एतावितिधर्माविति शेष'। उक्तरीत्या साधितं तस्य सम्बन्धत्वाभावमुपसंहरति—तस्मादिति। अपीति—न सम्बन्धा इति शेषः। नन्वेवं तत्र सम्बन्धपदव्यपदेशः कथमुपपद्यते इत्यत आह—सम्बन्धशब्देति। विशेषणविशेष्यभावादिष्वित्यादिः। उभयेति—यथा संयोग इत्युक्ते कयोरित्याकाङ्क्षा तथा विशेषणविशेष्यभाव इत्युक्ते, अत उभयेन निरूपणीयत्वरूपं सम्बन्धसाधर्म्यन्तत्र, तेनेत्याशय.। पर्यवसितमाह—

---

रहती है, न कि विशेषणता भी। एवं-विशेषण विशेष्यभाव एक भी नहीं है क्योंकि- द्वन्द्व 'विशेषण-विशेष्य' के अन्त में श्रूयमाण भाव शब्द का प्रत्येक में अन्वय होने के कारण विशेषण विशेष्यभाव शब्द के अर्थ दो होते हैं-विशेषणभाव अर्थात् विशेषणता और विशेष्यभाव अर्थात् विशेष्यता। इसलिये विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध ही नहीं है। ऐसी स्थिति में स्वासम्बद्ध अभाव का ( अनुपलब्धि सहकृत ) इन्द्रिय से ज्ञान नहीं हो सकता है।

रूपणीयत्वसाधर्म्येणोपचारात् । तथा चासंबद्धस्याभावस्येन्द्रियेण ग्रहणं न संभवति ।

सत्यम् । 'भावावच्छिन्नत्वाद्व्याप्तेर्भावं प्रकाशयदिन्द्रियं प्राप्तमेव प्रकाशयति, न त्वभावमपि । अभावं प्रकाशयदिन्द्रियं विशेषणविशेष्य-भावमुखेनैव' इति सिद्धान्तः । असंबद्धाभावग्रहेऽतिप्रसङ्गदोषस्तु विशेषणतयैव निरस्तः समश्च परमते ।

---

**तथा चेति** । इन्द्रियाभावयोः सम्बन्धाभावादिति शेषः । **सम्भवतीति**—इति तत्प्रमाकरणतयाऽनुपलब्धिरूपं षष्ठप्रमाणमभ्युपगन्तव्यमिति शेषः ॥

नैयायिकः परिहरति—**सत्यमिति** । एतदर्धाङ्गीकारे । यद्यदिन्द्रियं तत्तत्सम्बद्धमेव प्रकाशयतीति व्याप्तिरभ्युपेयते, किन्त्वस्या भावमात्रविषयकताऽङ्गीक्रियते, न त्वभावविषयताऽपि, अत एवासम्बद्धस्याप्यभावस्येन्द्रियकतोपपद्यते इत्याशयः । कुत इत्यत आह—**भावावच्छिन्नत्वाद्व्याप्तेरिति** । यद्यदिन्द्रियमित्यादिरूपाया व्याप्तेर्भावमात्रविषयकत्वेन सङ्कोचनादित्यर्थः । तदेव स्पष्टयति—**भावमिति** । **न त्वभावमपीति**—प्रकाशयदिन्द्रियं प्राप्तमेव प्रकाशयतीति शेषः । ननु तर्ह्यभावं प्रकाशयदिन्द्रियं कथन्तम्प्रकाशयतीत्यत आह—**अभावमिति** । **मुखेनैवेति**—तं प्रकाशयतीति शेषः । नन्विन्द्रियस्यासम्बद्धाभावग्राहकत्वे तस्य वृक्षादिव्यवहिताभावग्राहकता प्रसज्येतेत्यत आह—**असम्बद्धेति** । इन्द्रियेणेत्यादिः । **अतिप्रसङ्गेति**—तेन वृक्षादिव्यवहिताभावग्रहणप्रसङ्गरूप इत्यादिः । **विशेषणतयैव**—इन्द्रियस्याभावेन सह संयुक्तविशेषणता संयुक्तविशेष्यतादिरूपसन्निकर्षस्वीकारेणैव । यत्रेन्द्रियस्याभावेन तादृशसन्निकर्षः सम्भवति, तत्रैव तेन तद्ग्रहणमिति स्वीकारात् किञ्चिद्व्यवहिताभावेन तस्य तादृशसन्निकर्षासत्त्वात् तस्य तेन ग्रहणं नापद्यते इति भावः । ननु दण्डी पुरुषः, नीलो घट इत्यादौ दण्डादेर्विशेषणत्वं संयोगसमवायाद्यात्मकसम्बन्धान्तरपूर्वकं दृश्यते, प्रकृते चेन्द्रियस्याभावेन सह संयोगः समवायो वा सम्बन्धो न सम्भवतीति स्वप्रयोजकसम्बन्धासत्त्वात्तत्र तादृशविशेषणतादिरपि न सम्भवतीति तत्र तादृशविशेषणत्वादिनाऽतिप्रसङ्गवारणं कथमित्याशङ्कायामनुपलब्धि-

---

उत्तर—'जब इन्द्रिय से भाव का ज्ञान होता है, तब स्वसम्बद्ध का ही' ऐसा नियम रहने के कारण इन्द्रिय से विशेषण विशेष्यभाव सन्निकर्ष के द्वारा अभाव के ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं है ।

**यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः ।**
**नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥**

---

प्रमाणेनाभावः कस्यचिद् विशेषणत्वेनैव ग्राह्य इत्यनुपलब्धिप्रमाणवादिनोऽप्येत-तुल्यमित्याशयेनाह—समश्चेति ।

उभयोः—वादिप्रतिवादिनोः । वा—च । एकः—वादिप्रतिवाद्यन्यतरः । यथा धनवान् देवदत्त इत्यादौ स्वप्रयोजकसंयोगसमवायादिसम्बन्धाभावेऽपि धनस्य विशेषणत्वं देवदत्तस्य च विशेष्यत्वमुपपद्यते, तथा प्रकृते इन्द्रियस्याभावेन सह तादृशसम्बन्धाभावेऽपि तत्र संयुक्तविशेषणत्वाद्युपपद्येतेति योग्यानुपलब्ध्याऽभावस्य प्रत्यक्षगम्यत्वात्, प्रत्यक्षाविषयाणामभावानां कस्यचिदनुमानगम्यत्वात्, कस्यचिच्च शब्दगम्यत्वात् क्लृप्तप्रत्यक्षादिप्रमाणैरेवाभावप्रमायाः सर्वत्रोपपन्नत्वात् तत्प्रमायाः करणत्वेनानुपलब्धिर्नाङ्गीकार्येत्याशयः ॥

अथ पृथक् प्रमाणत्वेन पौराणिकैरभ्युपगतयोः सम्भवैतिह्ययोः, आलङ्कारिकैरभ्युपगतायाश्चेष्टायाश्च तन्निराकरणं सुकरमिति मूलकृतोपेक्षितमपि तदत्र दर्श्यते । तथाहि—सम्भवो द्विविधः, सम्भावनारूपो निश्चितरूपश्च । तत्राद्यः अस्मिन् राजनीतिविज्ञत्वं सम्भवतीत्यादिरूपोऽप्रमाणमेव । द्वितीयस्तु द्रोणः खार्यां सम्भवतीत्यादिरूपः, खारी द्रोणेन व्याप्तेति व्याप्तिपूर्वकत्वादनुमानेऽन्तर्भूतः । एवम् ( अनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यम् ) ऐतिह्यमपि द्विविधं, अनाप्तोक्तमाप्तोक्तञ्च । तत्राद्यं तत्र वटे यक्षस्तिष्ठतीत्यादिरूपमप्रमाणमेव । द्वितीयन्तु तद्रूपं शब्देऽन्तर्भवति । एवं चेष्टाऽनुमानेऽन्तर्भवतीति चत्वार्येव प्रमाणानीति पर्यवसितम् ॥

---

प्रश्न—जब 'दण्डवाला देवदत्त है' तथा 'रूपवाला घड़ा है' इत्यादि स्थलों में दण्डादि में विशेषणता और देवदत्तादि में विशेष्यता संयोग या समवाय सम्बन्ध पूर्वक है, तब अभाव के साथ किसी का संयोग या समवाय सम्बन्ध के न रहने से 'घटाभाववाला घर है' या 'घर में घटाभाव है' इत्यादि स्थलों में अभाव में विशेषणता या विशेष्यता कैसे होगी ?

उत्तर—जैसे धन के साथ रमेश का संयोग या समवाय सम्बन्ध के न रहने पर भी ( स्वत्व सम्बन्ध के रहने से ) 'धनवाला रमेश है' इत्यादि स्थलों में धनादि में विशेषणता तथा रमेशादि में विशेष्यता होती है, वैसे अभाव के साथ किसी का स्वरूप सम्बन्ध के रहने से उक्त स्थलों में अभाव में विशेषणता या विशेष्यता होगी ।

प्रामाण्यवादः ।

१२ इदमिदानीं निरूप्यते । जलादिज्ञाने जाते तस्य प्रामाण्यम-

एवं प्रमाणानि निरूप्य तज्जन्यज्ञानगतप्रमात्वादिविषये परमतं प्रतिक्षिप्य स्वमतं बोधयितुं प्रतिजानीते—इदमिति। प्रमात्वं स्वतोऽप्रमात्वन्तु परत इति

प्रश्न—प्रत्यक्षादि प्रमा के समान साम्भविक प्रमा को भी एक स्वतन्त्र प्रमा और उसके करण सम्भव को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिये ? क्योंकि–जब कोई यह समझता है कि 'ये हजार रुपये हैं' तब वह अनायास यह समझता है कि 'इनके अन्दर सौ रुपये जरूर हैं'। यहाँ सौ संख्या का निश्चय, साम्भविक प्रमा है, और उसका करण सम्भव है। एवम्–ऐतिह्यिक प्रमा को भी एक स्वतन्त्र प्रमा और उसके करण भूत ऐतिह्यको भी एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिये ? क्योंकि–'इस वृक्ष पर यक्ष रहता है' इस परम्परा प्राप्त–प्रवाद से लोगों को जो यह निश्चय होता है कि 'इस पेड़ पर यक्ष वसता है' वह ऐतिह्यिक प्रमा है, और उसका करण ऐतिह्य है ? एवम्–चैष्टिक प्रमा को भी एक स्वतन्त्र प्रमा और उसके करण चेष्टा को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिये। क्योंकि–चेष्टा ( इशारा ) से जो लोगों को निश्चय होता है, वह चैष्टिक प्रमा है और उसका करण चेष्टा है।

उत्तर—यतः-सौ संख्या के बिना सहस्र संख्या नहीं हो सकती, अतः–सहस्र संख्या से सौ संख्या की अनुमिति हो सकती है। ऐसी स्थिति में–अनुमिति प्रमा में ही उक्त साम्भविक प्रमा का अन्तर्भाव हो जाने के कारण उसे एक स्वतन्त्र प्रमा और उसके करणतया सम्भव को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना व्यर्थ है। एवम्–परम्परा प्राप्त–प्रवाद में आप्तवाक्यता के निश्चय होने पर उससे शाब्दबोध ही हो जायगा। अतः शाब्द प्रमा में ही उक्त ऐतिह्यिक प्रमा का अन्तर्भाव हो जाने के कारण उसे एक स्वतन्त्र प्रमा और उसके करणतया ऐतिह्यको एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना व्यर्थ है।

एवं—चेष्टा से (तथा लिपि से) पहले वाचक शब्दों का स्मरण होता है, बाद में उससे वाच्यार्थों का स्मरण होता है, तत. उससे शाब्दबोध हो जाता है ? ऐसी स्थिति में–शाब्दप्रमा में ही चैष्टिक प्रमाका अन्तर्भाव हो जाने के कारण उसे एक स्वतन्त्र प्रमा और उसके करण चेष्टाको एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना व्यर्थ है ?

इतने से यह फलित हुआ कि–प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्दबोध ये चार प्रमा हैं, और क्रमशः उनके करण–प्रत्यक्ष ( इन्द्रिय ), अनुमान (व्याप्तिज्ञान), उपमान ( सादृश्यज्ञान ) और शब्द ( पदज्ञान ) ये चार प्रमाण हैं।

इदमिदानीम्—अब प्रसङ्गवश यहां यह विचारणीय है कि– इन प्रमाओं का जो प्रमात्व ( यथार्थता ) उसका 'मेरा यह ज्ञान यथार्थ है' इस प्रकार अपने ज्ञान में

यथार्थं कश्चिज्जलादौ प्रवर्तते । कश्चित्तु संदेहादेव प्रवृत्त्युत्तरकाले जलादिप्रतिलम्भे सति प्रामाण्यमवधारयतीति वस्तुगतिः । अत्र कश्चिदाह—

---

मीमांसका., तदुभयं परत एवेति नैयायिका. । अत एव श्रोतृणा तत्र जायमानस्य संशयस्य निराकरणायावश्यकीयम्प्रतिज्ञेति भाव. । तत्र प्रमात्वस्य स्वतस्त्वं द्विविधं मुत्पत्तौ ज्ञप्तौ च । तत्रोत्पत्तौ स्वतस्त्वं—ज्ञानकारणमात्रजन्यत्वम्, येन ज्ञानं जायते तेनैव प्रमाणं सदेव जायते इत्यर्थ. । ज्ञप्तौ च स्वतस्त्वं—ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वम्, येन ज्ञानं ज्ञायते तेनैव प्रमाणं सदेव ज्ञायते इत्यर्थः । एवन्तस्य परतस्त्वमपि द्विविधमुत्पत्तौ ज्ञप्तौ च । तत्रोत्पत्तौ परतस्त्वम्—ज्ञानकारणातिरिक्तकारणजन्यत्वम्, इन्द्रियादिना जायमानं ज्ञानं तद्भिन्नेन गुणेन ( दोषेण वा ) जन्यं सत् प्रमाणम् ( अप्रमाणं वा ) जायते इत्यर्थ. । ज्ञप्तौ च परतस्त्वम्—ज्ञानग्राहकातिरिक्तग्राह्यत्वम्, ज्ञानं मनसा गृह्यते तद्गतं प्रमात्वम् ( अप्रमात्वं वा ) अनुमानेनेत्यर्थः । **इदानीम्**—प्रमाणनिरूपणानन्तरम् । इदमित्यनेन निर्देशमाह—**जलादिज्ञान इति** । कश्चिदित्यादिः । **तस्येति**—अनभ्यासदशापन्नस्य सफलप्रवृत्तिजनकजातीयत्वहेतुनेति शेष. । **प्रामाण्यम्**—प्रमात्वम् । एवमग्रेऽपि । **कश्चिदिति**—जलार्थी जलादि जिज्ञासमान इति शेष । **सन्देहादेवेति**—क्वचित् जलादिज्ञाने जाते, अभ्यासदशापन्ने तत्र प्रमात्वस्येत्यादिः । जलादाविति शेष. । **प्रामाण्यमिति**—तस्य समर्थप्रवृत्तिजनकत्वहेतुनेत्यादिः । अर्थज्ञाने प्रमात्वनिश्चयोऽर्थे प्रवृत्तिकारणमित्यवलम्ब्य प्रथमः पक्षः । तत्र प्रमात्वज्ञानमात्रं क्वचित् प्रवृत्तौ हेतुरित्याश्रित्य द्वितीय पक्षः । केचित्तु—अप्रमात्वसंशयशून्यार्थनिश्चय एव तत्र प्रवृत्तिकारणम्, न तु तत्र प्रमात्वनिश्चयः प्रमात्वज्ञानं वेति समाश्रित्य कश्चित् प्रमात्वनिश्चयसंशयाभ्या रहितेऽर्थनिश्चये

---

निश्चय—ज्ञानोत्पत्ति के परक्षण में ज्ञान-ज्ञान के साथ ही ज्ञान-ज्ञापक कारणों से ही हो जाता है अथवा उसके व्यवहित परकाल में किसी हेतु से ऐसी अनुमिति होती है कि-'मेरा वह ज्ञान यथार्थ था' । अर्थात्-इष्टादि विषयों के ज्ञान होने पर उसमें प्रमात्व का निश्चय कर ही किसी की इष्टादि विषयों में प्रवृत्त्यादि होती है अथवा उसमें प्रमात्व के संशय से ही इष्टादि विषयों में प्रवृत्त्यादि होने के बाद इष्टादि विषयों के मिलने पर उसमें प्रमात्व का निश्चय कोई करता है । इन दोनों पक्षों में-प्रथम पक्ष को ही प्रभाकर, मुरारि मिश्र और कुमारिल भट्ट मानते हैं और द्वितीय पक्ष को ही नैयायिक मानते हैं । यहाँ प्रभाकर आदियों का कहना है कि-यदि-ज्ञानोत्पत्ति के परक्षण में ही ज्ञान-ज्ञापक कारणों से ज्ञान का और तद्गत प्रमात्व

'प्रागेव प्रवृत्तेः प्रामाण्यमवधार्य पुरुषः प्रवर्त्तते, स्वत एव प्रामाण्यावधारणात्' । अस्यार्थः—येनैव यज्ज्ञानं गृह्यते तेनैव तद्गतं प्रामाण्यमपि, न तु ज्ञानग्राहकादन्यज्ज्ञानधर्मस्य प्रामाण्यस्य ग्राहकम् । तेन ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य । ज्ञानं च प्रवृत्तेः पूर्वमेव गृहीतं कथमन्यथा प्रामाण्याऽप्रामाण्यसंदेहोऽपि स्यात् । अनधि-

गते तत्र प्रवर्तते इति तृतीयोऽपि पक्षः सम्भवतीति वदन्ति'। सकलजनसिद्धेयं स्थितिरिति सूचनायाह—वस्तुगतिरिति । स्वतः प्रमात्वखण्डनमन्तरा परतः प्रमात्वस्थापनमसम्भवीति स्वतः प्रमात्वं निराकर्तुं परमतमुपस्थापयति—अत्रेति । प्रमात्वं स्वतः परतो वेति विचारे इत्यर्थः । कश्चित्—मीमांसकः । उक्तिकर्म निर्दिशति—प्रागेवेति । प्रवृत्तेः, ज्ञानस्येति शेषः । कुत इत्यत आह—स्वत एवेति । तत्रेति शेषः । ननु स्वस्मात् स्वस्यावधारणं न सम्भवत्यात्माश्रयादित्यत आह—अस्यार्थ इति । परमतं निराकरोति—नत्विति । फलितमाह—तेनेति । प्रामाण्यस्येति—ज्ञाने इति शेषः । ननु ज्ञानं प्रवृत्त्युत्तरं गृह्येतेति कथं तत्र प्रवृत्तेः प्राक् प्रमात्वनिश्चय इत्यत आह—ज्ञानञ्चेति । अन्यथेति—प्रवृत्तेः प्राक् ज्ञानज्ञानाङ्गीकारे इत्यर्थः । तत्र प्रवृत्तेः पूर्वमिति शेषः । ननु कुतः ज्ञानाज्ञाने तत्र प्रमात्वसंशयो न सम्भवतीत्यत आह—अनधिगते इति । धर्मिज्ञानस्य संशयम्प्रति

का निश्चय न होगा, तो—पुष्पादि इष्ट वस्तुओं के ज्ञान होने पर शीघ्र उन वस्तुओं की ओर प्रवृत्ति, सर्पादि अनिष्ट वस्तुओं के ज्ञान होने पर झटिति उन वस्तुओं की ओर से निवृत्ति, और उपेक्षणीय मानवादियों के ज्ञान होने पर शीघ्र उनकी ओर उपेक्षा न हो सकेगी (जो कि होती है)। अतः मानना चाहिये कि—ज्ञानोत्पत्ति के परक्षण में ही ज्ञान ज्ञापक कारणों से ही ज्ञानका और तद्गत प्रमात्वका निश्चय होता है। किन्तु 'ज्ञानज्ञापक कारण' पद से किसे लिया जाय इस विषय में प्रभाकर आदियों के विभिन्न मत हैं। जैसे—प्रभाकर कहते हैं कि—जिस प्रकार (स्वप्रकाश) दीप को देखने के लिये अन्य दीप की अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार (स्वप्रकाश) ज्ञान को जानने के लिये अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती अर्थात्—ज्ञान स्वयं ही अपने को और अपने में रहनेवाले प्रमात्व को समझाता है। एवं—मुरारि मिश्र कहते हैं कि—जैसे घट आदि विषयों का और उनमें वृत्ति घटत्वादियों का प्रकाशन उनसे भिन्न 'यह घट है' इत्यादि (व्यवसाय) ज्ञानों से होता है, वैसे 'यह घट है' इत्यादि ज्ञानों का और उनमें वृत्ति प्रमात्व का प्रकाशन उनसे भिन्न 'मैं इस

गते धर्मिणि सदेहानुदयात् । तस्मात् प्रवृत्तेः पूर्वमेव ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञाने गृहीते ज्ञानगतं प्रामाण्यमप्यर्थापत्त्यैव गृह्यते, ततः पुरुषः प्रवर्तते । न तु प्रथमं ज्ञानमात्रं गृह्यते, ततः प्रवृत्त्युत्तरकाले फलदर्शनेन ज्ञानस्य प्रामाण्यमवधार्यते ।

---

कारणतया तदभावे तदनुपपत्तिं युक्तैवेति भावः । भट्टमतनुपपादयन् प्रकृतमुपसंहरति—तस्मादिति । अतः ज्ञानानन्तरं तत्र प्रमात्वसंशयादपि प्रवृत्तिमभ्युपगच्छता भवताऽपि प्रवृत्तेः प्राक् तत्र प्रमात्वसंशयोपपत्तये ज्ञानज्ञानस्यावश्यमभ्युपगन्तव्यत्वादित्यर्थः । मम मते इति शेषः । भट्टमते—ज्ञानमतीन्द्रियं, तेन च ज्ञानेन विषये ज्ञातताख्यः कश्चन धर्मो जन्यते, स च प्रत्यक्षः, ज्ञाततायाश्च ज्ञानमन्तरेणानुपपत्तेः तस्याः ज्ञानं ज्ञानं तद्गतं प्रामाण्यञ्च युगपदेव ग्राहयतीत्याशयेनाह—ज्ञातताऽन्यथेति । ज्ञाततायाः अन्यथा ( ज्ञानमन्तरा ) अनुपपत्तिः ज्ञातताऽन्यथाऽनुपपत्तिः, तया प्रसूता याऽर्थापत्तिः ( अर्थान्तरकल्पना ) तयेत्यर्थः । वस्तुतस्तु तत्कल्पनैव ज्ञानादिग्रहणमिति बोध्यम् । अर्थापत्त्यैव—तयैवार्थापत्त्या । गुरवस्तु—यथा प्रदीपः स्वातिरिक्तं स्वञ्च प्रकाशयति, तथा ज्ञानं स्वभिन्नं स्वञ्च प्रकाशयत् स्वगतं प्रमात्वमपि भासयतीत्यभ्युपगच्छन्ति । मुरारिमिश्रास्तु—ज्ञानस्य ज्ञानं योऽनुव्यवसायस्तेन ज्ञानगतं प्रमात्वं गृह्यते इत्यभिप्रयन्ति ॥ एवं प्रमात्वस्य स्वतोग्राह्यत्वं प्रसाध्य परतोग्राह्यत्वन्दत्य निराकरोति—न त्विति । अवधार्यते इति—अनुमानेनेत्यादिः ।

तथा सति ज्ञाने प्रमात्वनिश्चयाय निश्चितप्रामाण्यकमेवानुमानमपेक्ष्येतेत्यनुमानेऽपि प्रामाण्यनिश्चयाय निश्चितप्रामाण्यकमेवानुमानान्तरमपेक्ष्येतेत्येवमनवस्थापाता-

---

घड़े को जानता हूँ' इत्यादि ( अनुव्यवसाय ) ज्ञानों से होता । एवं—कुमारिल भट्ट कहते हैं कि—ज्ञान अतीन्द्रिय होता है, अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । किन्तु ज्ञानसे विषय में 'ज्ञातता' अर्थात् प्राकट्यनामकी एक वस्तु पैदा होती है, क्योंकि ज्ञान के बाद लोग 'यह विषय मुझसे ज्ञात हुआ' इत्यादि प्रतीति करते हैं। ज्ञानसे विषयमें 'ज्ञातता' अर्थात् प्राकट्य नामकी एक वस्तु पैदा होती है, क्योंकि ज्ञानके बाद लोग 'यह विषय मुझसे ज्ञात हुआ' इत्यादि प्रतीति करते हैं। और ज्ञाततासे ज्ञानका और तद्गत प्रमात्वका ज्ञान ( अर्थापत्तिरूप या अनुमितिरूप ) होता है । इन तीनों मीमांसकों के मतमें-प्रमात्व ज्ञानके लिये ज्ञान-ज्ञापक कारणों-से भिन्न की अपेक्षा नहीं होती है, अतः उसका ज्ञान स्वतः होता है ऐसा ही समझना चाहिये ।

अत्रोच्यते । ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञानं गृह्यते, इति यदुक्तं तदेव वयं न मृष्यामहे, तया प्रामाण्यग्रहस्तु दूरत एव । तथाहि । इदं किल परस्याभिमतम् । घटादिविषये ज्ञाने जाते 'मया ज्ञातोऽयं घटः' इति घटस्य ज्ञातता प्रतिसंधीयते । तेन ज्ञाने जाते सति, ज्ञातता नाम कश्चिद्धर्मो जात इत्यनुमीयते । स च ज्ञानात् पूर्वमजातत्वाज् ज्ञाने जाते च जातत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञानेन जन्यत इत्यवधार्यते । एवं च ज्ञानजन्योऽसौ ज्ञातता नाम धर्मो ज्ञानमन्तरेण नोपपद्यते कारणाभावे कार्यानुदयात् । तेनाऽर्थापत्त्या स्वकारणं ज्ञानं ज्ञाततयाऽऽक्षिप्यत इति ।

न चैतद्युक्तम् । ज्ञानविषयतातिरिक्ताया ज्ञातताया अभावात् ।

ननु ज्ञानजनितज्ञातताधारत्वमेव हि घटादेर्ज्ञानविषयत्वम् । तथा-

---

दिति शेषः । सिद्धान्ती परिहरति—**अत्रोच्यते इति** । उक्तिकर्म निर्दिशति—**ज्ञातताऽन्यथेति** । यदेत्यादि । **यदुक्तमिति**—भवतेति शेषः । **तयेति**—तादृशार्थापत्त्येत्यर्थः । तदेत्यादिः । तत्रेति शेषः । **दूरत एवेति**—निरस्त इति शेषः । धर्मिग्रहणं विना धर्मग्रहणासम्भवादिति भावः । परमतं निराकर्त्तुं तदुपपादयति—**तथाहीति । परस्य**—भट्टस्य । इदमित्यनेन निर्देश्यमाह—**घटादीति** । 'अनुमीयते' इत्यनेनाभिप्रेतस्य—विमता ज्ञातता, ज्ञानजन्या, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाद्, यद् यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् तज्जन्यम्, यथा कपालान्वयव्यतिरेकानुविधायी घटः कपालजन्य इत्याकारकानुमानस्योपपादनायाह—**स चेति** । ज्ञातताख्यधर्मश्चेत्यर्थः । ज्ञातताया ज्ञानजन्यत्वसाधनस्य फलमाह—**एवं चेति** । कुत इत्यत आह—**कारणेति** । पर्यवसितमाह—**तेनेति** ।

तन्निराकरोति—**न चेति** । कुत इत्यत आह—**ज्ञानविषयतेति** ।

परः शङ्कते—**नन्विति** । यदि विषये ज्ञानविषयताऽभ्युपगम्यते, तर्हि तत्राश्री-

---

यहाँ नैयायिकों का कहना है कि-ज्ञान के बाद शीघ्र प्रवृत्ति या निवृत्ति आदि के होने से यह नहीं कहा जा सकता कि-ज्ञान-ज्ञानके साथ ही उसमें प्रमात्वका भी निश्चय हो जाता है क्योंकि कहीं कहीं प्रवृत्ति या निवृत्ति आदिके होने पर भी यह सन्देह होता रहता है कि-'मेरा यह ज्ञान ठीक है या नहीं' । जैसे-किसीने दूर से अज्ञात स्थान में जल को देखा, फिर वह जलार्थी होनेके कारण उस ओर चलता

हि न तावत् तादात्म्येन विषयता विषयविषयिणोर्घटज्ञानयोस्तादात्म्यानभ्युपगमात्। तदुत्पत्त्या तु विषयत्वे इन्द्रियादेरपि विषयत्वापत्तिः, इन्द्रियादेरपि तस्य ज्ञानस्योत्पत्तेः। तेनेदमनुमीयते—ज्ञानेन घटे किंचिज्जनितं येन घट एव तस्य ज्ञानस्य विषयो, नाऽन्य—इत्यतो विषयत्वाऽन्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्यैव ज्ञाततासिद्धिः, न तु प्रत्यक्षमात्रेण।

मैवम्। स्वभावादेव विषयविषयितोपपत्तेः। अर्थज्ञानयोरेतादृश एव स्वाभाविको विशेषः, येनाऽनयोर्विषयविषयिभावः। इतरथाऽतीता-

---

कृता ज्ञानजनितज्ञातता, अन्यथा तत्र तस्या अनुपपत्तेरिति भाव। तदुपपादयति—तथाहीति। यदि तत्र ज्ञातता नाभ्युपगम्येत, तर्हि तत्र विषयता तादात्म्येनोच्येत तदुत्पत्त्या वा? तत्र नाद्यः, तदसम्भवादित्याशयेनाह—न तावदिति। वैशेषिकाः अयोः समवायमभ्युपगच्छन्ति, मीमांसकास्तयोस्तादात्म्यमाचक्षते, तं समवायानङ्गीकारादित्याशयेनाह—तादात्म्येनेति। भेदसहिष्णुभेदेनेत्यर्थः। तत्रेति शेषः। कुत इत्यत आह—विषयविषयिणोर्घटज्ञानयोरिति। अयुतसिद्धत्वाभावेनेति शेषः। ननु तर्ह्यस्तु द्वितीयः, तत्राह—तदुत्पत्त्येति। तस्मादुत्पत्तिस्तदुत्पत्तिस्तयेत्यर्थः। विषयत्वे इति—तत्रेत्यादिः। अभ्युपगम्यमाने इति शेषः। एवं तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां तत्र विषयत्वासम्भवात् ज्ञाततावत्त्वेनैव तत्र विषयत्वमन्तव्यमित्याशयेनाह—तेनेति। इदमित्यनेन निर्देश्यमाह—ज्ञानेनेति। अयं घट इत्याद्याकारकेणेत्यादिः। किञ्चित्—ज्ञातताख्यं रूपमिति शेषः। इति—इति पर्यवस्यति। विषयत्वान्यथेति—विषयत्वस्य अन्यथा (ज्ञाततामन्तरेण) या अनुपपत्तिः तया प्रसूतया अर्थापत्त्यैव (अर्थान्तरकल्पनयाऽपि) इत्यर्थः। प्रत्यक्षेति—ज्ञातो घट इत्याकारकेणेत्यादिः।

सिद्धान्ती परिहरति—मैवमिति। कुत इत्यत आह—स्वभावादेवेति। तत्रेति शेषः। स्वरूपसम्बन्धविशेष एव विषयता, स्वरूपसम्बन्धत्वञ्च-सम्बन्धान्तरमन्तरा विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वमिति भावः। तमुपपादयति—अर्थज्ञानयोरिति। इतरथेति—प्रत्यक्षज्ञातताश्रयस्यैव विषयत्वे इत्यर्थः। वृष्टिरभूत्, सुभिक्षं

---

हुआ भी यह सोचता जाता है कि–'मैंने यह ठीक समझा है या नहीं, कहीं ऐसा न हो कि मुझे यह भ्रम ही हुआ हो और वहां जाने पर जल न मिले' जब वह वहाँ जाकर जल पाता है तब उसे यह निश्चय होता है कि–'मुझे वह

नागतयोर्विषयत्वं न स्यात् । ज्ञानेन तत्र ज्ञातताजननासंभवादसति धर्मिणि धर्मजननायोगात् । किं च ज्ञाततायाः अपि स्वज्ञानविषयत्वात् तत्रापि ज्ञाततान्तरप्रसङ्गस्तथा चाऽनवस्था । अथ ज्ञाततान्तरमन्तरेणाऽपि स्वभावादेव विषयत्वं ज्ञाततायाः । एवं चेत् , तर्हि घटादावपि किं ज्ञाततयेति । अस्तु वा ज्ञातता, तथापि तन्मात्रेण ज्ञानं गम्यते ज्ञातताविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानप्रामाण्यमिति कुत एव ज्ञानग्राहकग्राह्यता प्रामाण्यस्य । अथ केनचिज् ज्ञातताविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानप्रामाण्ये सहैव गृह्येते । एवं चेदप्रामाण्येऽपि शक्यमिदं वक्तुं केनचिज् ज्ञातताविशेषेणाप्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानाप्रामाण्ये सहैव गृह्येते इत्यप्रामाण्यमपि स्वत एव गृह्यताम् । अथै-

---

भविष्यतीत्यादाविति शेषः । कुत इत्यत आह—ज्ञानेनेति । तत्र—अतीतानागतयो । तत्र हेतुमाह—असतीति । अथ प्रकारान्तरेण ज्ञाततायाः विषयत्वस्यासम्भवमुपपादयति—किञ्चेति । ज्ञाततायाः विषयत्वस्य नियामकत्वे इति शेषः । तत्रापीति—ज्ञाततायामपीत्यर्थः । विषयत्वस्योपपादनायेति शेषः । तथा चेति—ज्ञाततान्तरेऽपि विषयत्वोपपादनाय ज्ञाततान्तरमिति रीत्या प्रसज्येतेति शेषः । परः शङ्कते—अथेति । अस्त्विति शेषः । सिद्धान्ती समाधत्ते—एवं चेदिति । घटादावपीति—स्वभावादेव विषयत्वस्योपपत्तेरिति शेषः । अन्ते दण्डाविनाह स्यादादावेव कुतो न हीति न्यायादिति भाव. । अथ ज्ञातताऽभ्युपगमेऽपि तया ज्ञानप्रामाण्ययो' सह ग्रहणासम्भवात् प्रमात्वस्य स्वतोग्राह्यत्वं न सम्भवतीत्याशयेनाह—अस्तु वेति । तन्मात्रेण—ज्ञातताासामान्येन । पर शङ्कते—अथेति । ज्ञातता-सामान्येन ज्ञानप्रमात्वयोः सहग्रहणासम्भवेऽपीति शेष' । गृह्येते इति—इति प्रमात्वस्य ज्ञानग्राहकग्राह्यत्वरूपं स्वतोग्राह्यत्वमुपपद्यते इति शेष' । सिद्धान्ती परिहरति—एवं चेदिति । इदमा निर्देश्यमाह—केनचिदिति । परः शङ्कते—

---

ज्ञान ठीक हुआ था'। इससे यह निश्चय होता है कि-ज्ञानकी उत्पत्ति के बाद शीघ्र उसमें प्रमात्वका निश्चय नहीं होता है, क्योंकि वैसा होने पर ज्ञान में प्रमात्व का संशय नहीं बन सकेगा। अत. प्रवृत्ति आदि की सफलता के देखने से ही ज्ञान में प्रमात्व का निश्चय होता है यही मानना चाहिये। ऐसी स्थिति में-प्रमात्वज्ञान स्वतः होता है यह कहना ठीक नहीं, किन्तु वह परतः होता है यही कहना युक्त है।

वमप्यप्रामाण्यं परतस्तर्हि प्रामाण्यमपि परत एव गृह्यताम् । ज्ञानग्राहकादन्यत इत्यर्थः । ज्ञानं हि मानसप्रत्यक्षेणैव गृह्यते, प्रामाण्यं पुनरनुमानेन । तथाहि जलज्ञानानन्तरं जलार्थिनः प्रवृत्तिर्द्वेधा फलवती अफला चेति । तत्र या फलवती प्रवृत्तिः सा समर्था । तया तज्ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यमनुमीयते । प्रयोगश्च विवादाध्यासितं जलज्ञानं प्रमाणं, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्न प्रमाणं न तत् समर्थां प्रवृत्तिं जनयति, यथा प्रमाणाभास इति केवलव्यतिरेकी । अत्र च फलवत्प्रवृत्ति-

---

अथैवमिति । सिद्धान्ती समाधत्ते—तर्हीति । अपिना—अप्रामाण्यस्य, पूर्वत्र च प्रमात्वस्य समुच्चयः । परत इत्यस्यार्थमाह—ज्ञानग्राहकादिति । एवं प्रमात्वस्य स्वतोग्राह्यत्वपक्षं निराकृत्य सिद्धान्ती तस्य परतोग्राह्यत्वपक्षं दर्शयति—ज्ञानं हीति । ज्ञानं द्विविधम्, व्यवसायात्मकमनुव्यवसायरूपञ्च । तत्र विषयविषयकं ज्ञानं व्यवसायरूपम्, यथेदं जलमिति । एवं विषयिविषयकं ज्ञानमनुव्यवसायरूपम्, यथा जलमहं जानामीति । तत्र द्वितीयेन मानसप्रत्यक्षेण प्रथमज्ञानं गृह्यते इत्याशयः । प्रामाण्यमिति—तत्रेत्यादिः । ज्ञानगतप्रमात्वज्ञापकमनुमानं दर्शयितुं प्रतिजानीते—तथाहीति । प्रसङ्गात् प्रवृत्तिं विभजते—जलज्ञानेति । तज्ज्ञानस्य—जलज्ञानस्य । अनुमीयते इति—एवं याऽफला प्रवृत्तिः साऽसमर्था, तया तज्ज्ञानस्याप्रमात्वमनुमीयते इत्यपि बोध्यम् । प्रयोगश्च—अनुमानप्रयोगश्च । विवादाध्यासितम्—प्रमाऽप्रमा वेति विवादेनाध्यासितम् । अन्वयव्याप्तेरभावाद् व्यतिरेकव्याप्तिप्रदर्शनपूर्वकं वैधर्म्यदृष्टान्तमाह—यन्नेति । तादृशजलज्ञानमात्रस्य पक्षत्वे विवादाध्यासितासमर्थप्रवृत्तिजनकजलज्ञानस्यापि पक्षतावच्छेदकाक्रान्ततया तत्र च हेतोरभावाद् भागासिद्धिरापद्येतेत्यतः विशिष्टं पक्षं दर्शयन्, साध्यं दर्शयति—अत्र

---

वस्तुतस्तु स्थलविशेषमें प्रथम पक्ष तथा स्थलविशेषमें द्वितीय पक्ष ग्राह्य है। जैसे–चिरपरिचित वस्तुके ज्ञानमें–प्रमात्वका ज्ञान स्वतः होता है, ऐसा मानना युक्त है; क्यों कि–उसमें प्रमात्वका सन्देह किसीको नहीं होता है। और अपरिचित वस्तु के ज्ञानमें–प्रमात्वका ज्ञान परतः होता है, ऐसा मानना ठीक है; क्यों कि उसमें प्रमात्वका संशय सभी को होता है।

एवं—सभी लोग कहते हैं कि–ज्ञानमें अप्रमात्वका 'मेरा वह ज्ञान ठीक नहीं था' इसप्रकार निश्चय परतः (प्रवृत्ति आदिकी निष्फलताके देखनेसे) ही होता है क्योंकि–यदि ज्ञानमें अप्रमात्व का निर्णय स्वतः (ज्ञानज्ञापक कारणों से) ही

जनकं यज्जलज्ञानं तत् पक्षः। तस्य प्रामाण्यं साध्यं यथार्थत्वमित्यर्थः। न तु प्रमाकरणत्वं स्मृत्या व्यभिचारापत्तेः। हेतुस्तु समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं फलवत्प्रवृत्तिजनकत्वमिति यावत्। अनेन तु केवलव्यतिरेक्यनुमानेनाभ्यासदशापन्नस्य ज्ञानस्य प्रामाण्येऽवबोधिते तद्दृष्टान्तेन जलप्रवृत्तेः पूर्वमपि तज्जातीयत्वेन लिङ्गेनान्वयव्यतिरेक्यनुमानेनाऽन्यस्य ज्ञानस्यानभ्यासदशापन्नस्य प्रामाण्यमनुमीयते। तस्मात् परत एव प्रामाण्यं न ज्ञानग्राहकेणैव गृह्यत इति।

चत्वार्येव प्रमाणानि युक्तिलेशोक्तिपूर्वकम्।
केशवो बालबोधाय यथाशास्त्रमवर्णयत्॥

इति प्रमाणपदार्थः समाप्तः॥

---

चेति। प्रामाण्यमित्यस्यार्थमाह—यथार्थत्वमिति। स्मृत्येति—तथा सतीत्यादिः। प्रमाकरणत्वरूपसाध्यरहिते स्मरणे समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्मकहेतोःसत्त्वाद् व्यभिचार आपद्येतेति भाव। एवं पक्षसाध्ययोः स्वरूपं निरूप्य हेतुस्वरूपं निर्दिशति—हेतुस्त्विति। ननु समर्थप्रवृत्तिजनकत्वेन प्रमात्वग्रहाभ्युपगमे, क्वचित् प्रवृत्तेः प्रागेव प्रमात्वनिश्चयस्योपपादनायोगतया प्रमात्वं स्वतो ग्राह्यता भवेत्, तदानीन्तत्र सफलप्रवृत्तिजनकत्वासत्त्वात्तेन प्रमात्वग्रहणासम्भवादित्यत आह—अनेनेति। अभ्यासदशापन्नस्य—निष्पादितार्थक्रियस्य। तज्जातीयत्वेन—समर्थप्रवृत्तिजनकजातीयत्वेन। प्रकृतमुपसंहरति—तस्मादिति। उक्तमर्थं कारिकया संगृह्य कथयति—चत्वार्येवेति।

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाख्यानीत्यादि। यथाशास्त्रम्—न्यायशास्त्रमनतिक्रम्य। ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वानभ्युपगमाद् गुरुमतम्, अनुव्यवसायेन व्यवसायस्य प्रमात्वग्रहणाभ्युपगमे तत्र तत्संशयानुपपत्तेः मुरारिमिश्रमतञ्च न युक्ततामर्हत इति भाव। इति तत्त्वालोके प्रमाणपदार्थः समाप्तः।

---

होगा, तो किसी को अपरिचितवस्तु के ज्ञान के बाद उसमें प्रवृत्ति आदि नहीं हो सकेगी। (जो कि होती है)। अतः सभी को यह मानना होगा कि—प्रमात्वज्ञान परतः ही होता है। इस तरह प्रमाणों का विचार समाप्त हुआ।

## २ प्रमेयाणि ।

### आत्मा

प्रमाणान्युक्तानि, अथ प्रमेयाण्युच्यन्ते ।

आत्म-शरीर-इन्द्रिय-अर्थ-बुद्धि-मनः-प्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फल-दुःख-अपवर्गास्तु प्रमेयम् । ( गौ० न्या० १।१।९ ) इति सूत्रम् ।

१. तत्रात्मत्वसामान्यवान् आत्मा । स च देहेन्द्रियादिव्यति-

---

एवं प्रमाणानि निरूप्य यथोद्देशं प्रमेयं निरूपयितुं प्रतिजानीते—प्रमाणानीति । एवमित्यादिः । प्रमाणनिरूपणानन्तरं प्रमेयनिरूपणे स्मृतिविषयत्वे सत्युपेक्षानर्हत्वरूपां प्रसङ्गसङ्गतिं सूचयितुमेतादृश्युक्तिः ।

यथाप्रणं प्रमेयं निरूपयितुं प्रथमं तद्विभागपरं सूत्रं पठति—आत्मेति । अस्योपपत्तिस्तु वेदाः प्रमाणमित्यस्यैवावगन्तव्या ।

तत्र यथोद्देशं प्रथममात्मनो लक्षणमाह—तत्रेति । आत्मादिद्वादशस्वित्यर्थः । आत्मत्वं नाम सामान्यमात्मनो लक्षणम् , सजातीयविजातीयव्यवच्छेदकत्वादित्याशयः । स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्यादि-देहधर्मस्थूलत्वादि-समानाधिकरणात्मत्वप्रत्ययदर्शनात् , कण्वादिभ्यो मदशक्तेरिव देहाकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्यस्योपपत्तेश्च देह एवात्मेति केचन चार्वाकाः । अपरे च ते काणोऽहं मूकोऽहमित्यादीन्द्रियधर्मकाणत्वादिसमानाधिकरणात्मत्वप्रतीतिदर्शनादिन्द्रियाण्येवात्मेति वदन्ति । अन्ये च ते स्वप्ने चक्षुराद्युपरमेऽपि मनसैव सकलव्यवहारोपपत्तेः मन एवात्मेत्यभिप्रयन्ति । तेषान्त्रयाणाम्मतानि निराकर्त्तुमाह—स च देहेति । आदिना मनःपरिग्रहः । देहोऽनात्मा बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् पटवदित्यनुमानेन देहे आत्मभेदसाधनात् , तस्यात्मत्वे—योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवं सोऽहं वृद्धत्वे पौत्राननुभवामीति

---

अर्थ—अब प्रमेयों का विचार करते हैं । किन्तु—'आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग' इन बारहों प्रमेयों के विचार, उनके उल्लेखक्रमसे कर्तव्य होनेके कारण पहले आत्मा का विचार करते हैं।

तत्र—जिसमें कभी चैतन्य ( ज्ञान ) हो अर्थात् जो चेतन हो वह आत्मा है। जड़ पदार्थों से अतिरिक्त चेतन पदार्थ इसलिये मानते हैं कि—कोई भी जड़ पदार्थ

प्रतिसन्धानानुपपत्तेश्च शरीरस्यात्मत्वं न सम्भवति। एवमिन्द्रियमनात्मा करणत्वाद् वास्यादिवदित्यनुमानेनेन्द्रिये आत्मभेदसाधनात्, एकेन्द्रियस्यात्मत्वे भूतपूर्वपश्चाज्ज-

जब तक चेतन पदार्थ से सम्पृक्त नहीं होता, तब तक वह कार्यक्षम नहीं होता है। यद्यपि–कुछ यन्त्र, कार्य करने में चेतन की अधिक अपेक्षा नहीं करते, तथापि–वे चेतन की कुछ भी अपेक्षा नहीं रखते, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि–यदि कोई चेतन उनका बनाने वाला न होता, तो वे उपलब्ध ही नहीं होते। साराश यह है कि— 'मैं' 'हम' आदि शब्दों से जो कहा जाता है, और जिसके विषयमें कोई भी व्यक्ति कभी 'मैं हूँ या नहीं' ऐसा सन्देह तथा 'मैं नहीं हूँ' ऐसा विपरीत निश्चय नहीं करता है; वही आत्मा है।

यहाँ कुछ चार्वाकों का कहना है कि–पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चारों भूतों के प्रत्येक कणों में अस्फुट चेतनाएँ हैं, और उन कणों के समुदाय से निष्पन्न शरीर में चेतना स्फुट हो जाती है। जैसे–मद्य के साधनों के प्रत्येक कणों में अस्फुट मादकताएँ हैं, और उन कणों के समुदाय से निष्पन्न मद्यमें मादकता स्फुट हो जाती है। अतः शरीर ही आत्मा है किन्तु यह मत इसलिये ठीक नहीं कि–इस मत में–बाला-वस्थामें अनुभूत वस्तु का वृद्धावस्था में स्मरण नहीं हो सकेगा। क्योंकि–बालावस्था के शरीर से वृद्धावस्था का शरीर भिन्न है; और जो पहले अनुभव करता है, वही पीछे स्मरण करता है ऐसा नियम है, क्योंकि—ऐसा कहीं नहीं होता है-कि— अनुभव किया किसी ने, और स्मरण किया किसी ने। एवं—यह मत इसलिये भी ठीक नहीं कि—इस मत में-जीवन और मरण नहीं बन सकेंगे। क्योंकि—शरीर जीवन काल में जिस प्रकार रहता है, उसी प्रकार वह मरने के बाद भी कुछ काल तक रहता है।

कुछ चार्वाकों का कहना है कि—इन्द्रिय ही आत्मा है। क्योंकि—आँखों के अन्धे या कानों के बहरे होने पर लोग कहते हैं कि—हम अन्धे या बहरे हैं। किन्तु यह मत भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि—इस मत में भी वे दोनों दोष होते हैं, जो दोनों दोष शरीरात्मवाद में बताये गये हैं और यह मत उपपन्न भी नहीं होता है, क्योंकि—एक इन्द्रिय को आत्मा मानेंगे या सब इन्द्रिय को। यदि एक को मानेंगे तो किस को, यह निर्णय नहीं हो सकता। क्योंकि—किसी के पक्ष में कोई निर्णायक युक्ति नहीं है और यदि सब को मानेंगे, तो उनमें मतभेद होने पर कोई कार्य नहीं हो सकेगा, और शरीर भी नष्ट हो जायगा।

कुछ चार्वाकों का मत है कि—मन ही आत्मा है। क्योंकि—मन को नित्य तथा एक होने के कारण इस मत में—( शरीरात्मवाद और इन्द्रियात्मवाद में उक्त दोषों के अन्दर ) कोई भी दोष नहीं हो सकता। किन्तु—यह मत भी युक्त नहीं है,

दचक्षुष्कस्य—योऽहं पूर्वं चक्षुषा घटमद्राक्षम् सोऽहमिदानीम् त्वचा तं स्पृशामीति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तेः, निखिलेन्द्रियस्यात्मत्वे आत्मनोऽनेकत्वाद् अनेकेषान्तेषा युगप-

क्योंकि—इस मत में सुख, दुःख आदियों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा ( जो कि होता है )। क्योंकि—आत्मा होने के कारण सुख, दुःख आदियों का आश्रय मन होगा, जिसमें कि परमाणुत्व रहने के कारण महत्त्व नहीं है; और प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व कारण है। एवम्-इस मन में—कर्तृकरणविरोध भी हो जायगा। क्योंकि—किसी भी क्रिया की निष्पत्ति के लिये अपेक्षित कर्त्ता और करण दोनों में परस्पर भेद रहने का नियम होने के कारण 'प्रमाता प्रमाण से प्रमेय की प्रमा करता है' यहाँ भी प्रमाता का प्रमाण से भिन्न होना अनिवार्य है। अतः—यदि मन ( जो कि प्रमाण है ) को प्रमाता मानेंगे, तो उससे भिन्न किसी को प्रमाण मानना होगा। अन्यथा कर्तृकरण विरोध हो जायगा। यदि प्रमाता को मन शब्द से और प्रमाण ( मन ) को किसी अन्य शब्द से करने के लिये प्रस्तुत हों तो कोई क्षति नहीं है। क्योंकि—विषयों में विरोध न रहने पर नामों के लिये विवाद करना उचित नहीं है।

बौद्धविशेष ( योगाचार ) का मत है कि—क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है और वही एक तत्त्व है, तथा उसी में समस्त विषय कल्पित हैं। किन्तु यह मत भी ठीक नहीं है, क्योंकि—कोई भी 'मैं ज्ञान हूँ' ऐसा नहीं समझता, किन्तु 'मैं ज्ञान वाला हूँ' ऐसा समझता है और इस मत में—स्मरण भी न हो सकेगा, क्योंकि—क्षणिक होने के कारण अनुभव करने वाला नष्ट हो जाया करेगा। तथा यह नहीं हो सकता कि—अनुभव हुआ किसी को और स्मरण होगा किसी को। एवं-विज्ञान को क्षणिक कहना तथा उसमें समस्त विषय को कल्पित कहना ये दोनों बातें नहीं हो सकतीं। क्योंकि—यदि विज्ञान क्षणिक होगा, तो अपनी उत्पत्ति के द्वितीय क्षण में नष्ट होने के कारण उसमें किसी की कल्पना नहीं हो सकती और यदि उसमें किसी की कल्पना होगी, तो वह क्षणिक नहीं हो सकता; क्योंकि—कल्पना का आधार बनने के लिये उसे अपनी उत्पत्ति के परक्षण में भी रहना होगा।

वेदान्ती का मत है कि—नित्य ज्ञान ही आत्मा है। किन्तु यह मत भी ठीक नहीं है, क्योंकि—इस मत में भी वह दोष होता है, जो दोष क्षणिक विज्ञानात्मवाद में पहले कहा गया है।

साँख्यकार का मत है कि—आत्मा-चेतन, नित्य, अनेक, तथा व्यापक है। किन्तु वह कर्त्ता नहीं है, क्योंकि—कर्तृत्व जड़ प्रकृतिका धर्म है। किन्तु यह मत भी ठीक नहीं है, क्योंकि—सभी लोग 'हम यह कर रहे हैं' और 'हम यह करेंगे'

रिक्तः प्रतिशरीरं भिन्नो नित्यो विभुश्च । स च मानसप्रत्यक्षः ।

द्विरुद्धक्रियत्वे शरीरोन्मथनादिप्रसक्तेश्चेन्द्रियाणामात्मत्वं न सम्भवति । एवं मनस आत्मत्वे ( प्रत्यक्षम्प्रति महत्त्वस्य कारणत्वात् ) ज्ञानाद्यप्रत्यक्षापत्तेः, एकत्र करणत्वकर्तृत्वयोरदर्शनाच्च मनसोऽप्यात्मत्वं न सम्भवतीत्याशयः ॥ अथ 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' इत्यादिना एकस्यैवात्मनो मायाऽवच्छिन्नत्वे ईश्वरत्वम्, अन्तःकरणावच्छिन्नत्वे च जीवत्वमिति वदतामद्वैतवादिना मतं निराकर्तुमाह—प्रतिशरीरमिति ।

ऐसा ज्ञान तथा शब्द प्रयोग करते हैं । अतः मानना होगा कि—शरीरेन्द्रियों से भिन्न अस्मत्पदवाच्य आत्मा है और वही कर्त्ता है ।

आत्मा जीवात्मा और परमात्मा के भेद से दो प्रकार का है । उनमें—जिस आत्मा के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न अनित्य हैं, वह आत्मा जीवात्मा है और जिस आत्मा के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न नित्य हैं, वह आत्मा परमात्मा है । वह जीवात्मा प्रतिशरीर में भिन्न है, क्योंकि एक के सुखी या दुःखी होने से दूसरा सुखी या दुःखी नहीं होता है । यदि सब शरीरों में एक ही जीवात्मा होती तब एक के सुखी या दुःखी होने से सब सुखी या दुःखी होते, किन्तु ऐसा नहीं होता है, अतः मानना पड़ेगा कि—जीवात्मा प्रतिशरीर में भिन्न है, तथा अनन्त है । किन्तु परमात्मा एक ही है, क्योंकि ज्ञानतारतम्य की विश्रान्ति एक जगह में ही होगी, और वह जहाँ होगी, वही परमात्मा है । दूसरी बात यह है कि—यदि परमेश्वर अनेक होंगे, तब उनमें आपस के मतभेद से कोई व्यवस्था न हो सकेगी । अतः यदि एक ही परमात्मा के मानने से सब की व्यवस्था हो जाय, तब अनेक परमात्मा मानना व्यर्थ है ।

आत्मा नित्य है, अत एव कर्म और फलयोग के सामानाधिकरण्य का नियम बनता है, अन्यथा वह नियम नहीं बन सकेगा । लोक में भी देखते हैं कि—जो अच्छा कर्म करता है, वह अच्छा फल पाता है और जो बुरा कर्म करता है वह बुरा फल पाता है । अतः यह सिद्ध होता है कि—कर्त्ता और भोक्ता एक ही होता है, इसलिये यह मानना होगा कि आत्मा नित्य है । दूसरी बात यह है कि—बिना इष्टसाधनताज्ञान के इच्छा नहीं होती, और बिना इच्छा के प्रवृत्ति नहीं होती है अतः मानना होगा कि—सद्योजात शिशुको मातृस्तन्यपान में प्रवृत्ति से पहले दूध पीने की इच्छा होती है, और उससे पहले दुग्ध पान में पूर्वजन्मानुभूत उपकारकता का स्मरण होता है । इसी प्रकार उसकी पूर्वजन्म में हुई दुग्धपान में प्रवृत्ति भी उपपन्न होती है । इस तरह आत्मा अनादि सिद्ध होती है, और जैसे आकाश काल आदि अनादि भाव होने से नित्य होते हैं, वैसे आत्मा भी अनादि भाव होने से नित्य होगी ।

आत्मा विभु अर्थात् परममहत्त्व परिमाणवाला है, क्योंकि—यदि उसे परमाणु-

विप्रतिपत्तौ तु बुद्ध्यादिगुणलिङ्गकः । तथाहि, बुद्ध्यादयस्तावद्गुणाः,

[illegible] विशेषगुणौ [illegible] इति, बुद्धेः [illegible] आत्मनोऽपि परममहत्त्वं सिद्ध्यतीति भावः । अनित्यं [illegible] नित्य इति । [illegible] नाशकारणाभावात् नित्यत्वं सिद्ध्यति । [illegible] विभुरिति । आत्मा विभुः [illegible] विभुत्वं सिद्ध्यतीति भावः । तस्यापि [illegible] प्रत्यक्षत्वमाह—स चेति । प्रत्यक्षः—[illegible] । ननु [illegible] आह—विप्रतिपत्तौ त्विति । अत्र [illegible] बुद्ध्यादय इति [illegible] बुद्ध्यादयो गुणाः [illegible] इति [illegible] । [illegible] इति । अत्र [illegible] तदपि [illegible] । अथ बुद्ध्यादीनां गुणत्वमुपपादयति—तथाहीति । [illegible] गुणत्वं प्रमाय पश्चादात्मा साधनीय इत्याशयेनाह—तावदिति । न च [illegible]-

त्व परिमाणवाला माना जायगा, तो जैसे पार्थिवादि परमाणुओं में रहने वाले रूप रूपादियों का प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसे आत्मा में होनेवाले सुख दुःखादियों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा । एवं यदि उसे मध्यम परिमाणवाला माना जायगा, तो जैसे घट पट आदि मध्यम परिमाणवाले अनित्य होते हैं, वैसे आत्मा भी अनित्य हो जायगी । अतः उसे व्यापक अर्थात् परममहत्व परिमाणवाला ही मानना होगा ।

आत्मा का प्रत्यक्ष चक्षुरादि बहिरिन्द्रियों से नहीं होता किन्तु अन्तरिन्द्रिय मन से ही होता है और जब उसका प्रत्यक्ष होता है तब केवलत्वेन नहीं किन्तु सुखदुःखादिविशिष्टत्वेन ही होता है । क्योंकि जब कोई अपना प्रत्यक्ष करता है, तब मैं सुखी हूँ या मैं दुःखी हूँ इत्यादि रूप से ही करता है ।

इस तरह आत्मा का उपपादन करने पर भी यदि उसके विषय में विप्रतिपत्ति हो तो उसे बुद्ध्यादिगुणलिङ्गक समझना चाहिये । अर्थात् पहले—बुद्ध्यादि गुण हैं,

अनित्यत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वाद्रूपवत् । गुणश्च गुण्याश्रित एव । तत्र बुद्ध्यादयो न गुणा भूतानां मानसप्रत्यक्षत्वात् । ये हि भूतानां गुणाः, ते न मनसा गृह्यन्ते यथा रूपादयः । नाऽपि दिक्कालमनसां गुणा विशेषगुणत्वात् । ये हि दिक्कालादिगुणाः सख्यादयो, न ते विशेषगुणाः, ते हि सर्वद्रव्यसाधारणगुणा एव । बुद्ध्यादयस्तु विशेषगुणा गुणत्वे सत्येकेन्द्रियग्राह्यत्वाद्रूपवद्, अतो न दिगादिगुणाः । तस्मादे-

---

ग्राह्ये परमाण्वादौ व्यभिचारः स्यादित्यत आह—इन्द्रियेति । तथापि घटादौ व्यभिचारः स्यादित्यत उक्तमेकपदम् । एवमपि गुरुत्वादौ व्यभिचारः स्यादित्यत उक्तं सत्यन्तम् । तथा प्रभाया व्यभिचारवारणाय ग्राह्यत्वादित्यस्य ग्राह्यजातीयत्वादित्यर्थो विवक्षणीयः । नन्वेतावता प्रकृते किमायातमित्यत आह—गुणश्चेति । बुद्ध्यादिः गुण्याश्रितो गुणत्वाद् रूपादिवदित्यर्थः । अथ बुद्ध्यादिगुणाश्रयत्वेन परिशेषादात्मानं साधयितुं तस्यान्यत्र प्रसक्तिं निषेधति—तत्रेति । बुद्ध्यादीनां गुण्याश्रितत्वे सतीत्यर्थः । भूतत्वञ्च बहिरिन्द्रियजन्यलौकिकसन्निकर्षप्रयोज्यज्ञानविषयगुणत्वन्यूनवृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्वम् , अतो भूतशब्देन पृथिव्यादिपञ्चकं विवक्ष्यते । एवं बुद्ध्यादीनां भूतगुणत्वं निषिध्य दिक्कालमनोगुणत्वं निषेधति—नापीति । ते इति शेषः । प्रसङ्गाद् बुद्ध्यादीनां विशेषगुणत्वं साधयति—बुद्ध्यादय इति । अत्र-रूपत्वादौ व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम् , तथा संख्यादौ व्यभिचारवारणाय विशेष्यदलम् । अत इति—ते इति शेषः । एतावता फलितमाह—तस्मादिति । यतो बुद्ध्यादीनां पृथिव्यादिगुणत्वे निषिद्धे, तत इत्यर्थः । एभ्यः—पृथिव्यादिभ्यः ।

---

क्योंकि वे अनित्य होते हुए एकेन्द्रियमात्रग्राह्य हैं, जैसे रूप—इस अनुमान से बुद्धयादि में गुणत्व की सिद्धि होगी, बाद में—गुण गुणी में आश्रित ही होता है, ऐसा नियम रहने के कारण—बुद्धयादि गुण किस गुणी में आश्रित हैं, इस विषय की जिज्ञासा होने पर— बुद्धयादि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के गुण नहीं हैं, क्योंकि वे मानस प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं जैसे रूपादि—इस अनुमान से, एवं—बुद्धयादि दिशा, काल और मन के गुण नहीं हैं, क्योंकि वे ( रूपके समान गुण और एकेन्द्रियग्राह्य होने के कारण ) विशेष गुण हैं, जो दिगादियों के गुण हैं वे विशेष गुण नहीं हैं जैसे संख्यादि—इस अनुमान से बुद्धयादियों में पृथिव्यादि अष्टद्रव्यों के गुणत्व की सिद्धि नहीं होने के कारण—यह मानना होगा कि—जो बुद्धयादि गुणों का

भ्योऽष्टभ्यो व्यतिरिक्तो बुद्ध्यादीनां गुणानामाश्रयो वक्तव्यः। स एव आत्मा। प्रयोगश्च, बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्। यत्तु पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितो न भवति, नासौ पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति, गुणोऽपि भवति यथा रूपादिरिति केवलव्यतिरेकी। अन्वयव्यतिरेकी वा। तथाहि। बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्। यो यदनाश्रितो गुणः स तदतिरिक्ताश्रितो भवति यथा पृथिव्याद्यनाश्रितः शब्दः पृथिव्याद्यतिरिक्ताकाशाश्रय इति। तथा च बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रयाः। तदेवं पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तो नवमं द्रव्यम्—आत्मा सिद्धः। स च सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः। परममहत्परिमाणवानित्यर्थः। विभुत्वाच्च

---

स एवेति—स्वेतराश्रय इत्यर्थः। प्रयोगश्चेति—तदनुमानमित्यर्थः। विपक्षविलक्षणं चानुमानं सम्भवतीति दर्शयितुमन्वयव्यतिरेकिणमप्याह—अन्वयव्यतिरेकी वेति। तदुपपादयति—तथाहीति। उक्त-मुपसंहरति—तदेवमिति। एवं साधितस्यात्मनः प्रकृतं विभुत्वं साधयति—स चेति। आत्मनो विभुत्वे सत्यपि कस्यचिज्ज्ञानादि, कस्यचिच्च नेत्यव्यवस्थायां सहकारिनियमादिष्टं सहकारिकारणापेक्षत्वादिम्, तत्र स्वाश्रयसंयुक्त एव तत्तत्कार्योपकारिणि तत्तद्देशावच्छेदौ क्रिया जन्यतीति तदाश्रयस्यात्मनो विभुत्वमङ्गीकर्तव्यम्। तस्याणुपरिमाणत्वे तदनुपपत्तेः, मध्यमपरिमाणत्वे च सावयवत्वं प्रसज्येतेति भावः। विभुत्वस्यार्थमाह—परममहदिति। परममहत्त्व-स्यर्थः, मानयानिर्देशात्। अन्यथा 'अन्महतः समानाधिकरणव्याख्योः' इति सूत्रेण तथात्वं प्रसज्येत। तथा च परमं महत्त्वं परिमाणमस्य स तथाविध इति

---

आश्रय है, वही आत्मा है। उसकी सिद्धि—इच्छादि, पृथिव्यादि अष्टद्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित हैं, क्योंकि वे पृथिव्यादि अष्टद्रव्यों में अनाश्रित होते हुए गुण हैं, जो पृथिव्यादि अष्टद्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित नहीं होता, वह पृथिव्यादि अष्ट-द्रव्यों में अनाश्रित होता हुआ गुण भी नहीं होता है जैसे रूपादि, अथवा—जो जिसमें अनाश्रित होता हुआ गुण है वह उससे भिन्न में आश्रित होता है जैसे पृथिव्यादि में

नित्योऽसौ व्योमवत्। सुखादीनां वैचित्र्यात् प्रति शरीरं भिन्नः।

शरीरम्

२. तस्य भोगायतनमन्त्यावयवि शरीरम्। सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः। स च यदवच्छिन्न आत्मनि जायते तद्भोगायतनं तदेव शरीरम्। चेष्टाश्रयो वा शरीरम्। चेष्टा तु हिताहितप्राप्तिपरिहा-

---

भावः। एवन्तस्य पूर्वोक्तं नित्यत्वं साधयति—विभुत्वाच्चेति। असौ—आत्मा एवमात्मनः प्रागुक्तं प्रतिशरीरं भिन्नत्वं साधयति—सुखादीनामिति।

अथ शरीरं लक्षयति—तस्येति। आत्मन इत्यर्थः। तत्र घटादावतिव्याप्तिवारणायाह—भोगायतनमिति। तथा करादावतिव्याप्तिवारणायाह—अन्त्यावयवीति। द्रव्यानारम्भकावयवीत्यर्थः। भोगपदार्थमाह—सुखदुःखेति। तत्र स्वर्गिशरीरे नारकिशरीरे चाव्याप्तिवारणायाह—अन्यतरेति। समुदितार्थमाह—स चेति। तदेवेति—चान्त्यावयवि सदिति शेषः। 'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्' इति गौतमसूत्रमनुस्मरन् तस्य लक्षणान्तरमाह—चेष्टेति। अत्रापि हस्तादावतिव्याप्तिवारणायान्त्यावयवीति निवेश्यम्। नन्वेवमपि मृतशरीरेऽव्याप्तिरिति वाच्यम्, चेष्टाश्रयपदेन विवक्षितस्य कादाचित्कचेष्टाश्रयत्वस्य तत्रापि सत्त्वात्। चेष्टापदार्थ-

---

अनाश्रित शब्द पृथिव्यादि से भिन्न आकाश में आश्रित है, इस अनुमान से होती है।

तस्य—जीवात्मा का भोगसाधन जो अन्त्यावयवी, वह शरीर है। यहाँ घटादि तथा इन्द्रियों की व्यावृत्ति के लिये भोगसाधन तथा अन्त्यावयवी पदों का उपादान है और भोग पद से सुख दुःखान्यतर का साक्षात्कार विवक्षित है, अत एव स्वर्ग या नरक में रहनेवालों के शरीर में अव्याप्ति नहीं हुई। अथवा चेष्टाश्रय जो अन्त्यावयवी, वह शरीर है। यहाँ चेष्टापद में हितप्राप्ति-अहितपरिहारान्यतर प्रयोजन की क्रिया विवक्षित है, न कि स्पन्दनमात्र। शरीर दो प्रकार के हैं—जैसे योनिज और अयोनिज। इनमें योनिज दो प्रकार के हैं जैसे—जरायुज और अण्डज, एवं अयोनिज चार प्रकार के हैं जैसे—स्वेदज, उद्भिज्ज, स्वर्गीय और नारकीय। बच्चे गर्भकाल में जिस थैले में रहते हैं उसे जरायु कहते हैं, और उससे उत्पन्न होने के कारण मनुष्य पशु आदि के शरीर, जरायुज कहलाते हैं। एवं पक्षी, सर्प आदि के शरीर अण्डे से उत्पन्न होने के कारण अण्डज कहलाते हैं। तथा जूँ, मच्छर आदि के शरीर वाष्प से उत्पन्न होने के कारण स्वेदज कहलाते हैं। एवं लता, वनस्पति आदि के शरीर पृथ्वी का उद्भेदन कर उत्पन्न होने के कारण उद्भिज्ज कहलाते हैं। शुक्र और शोणित के

र्थ्या क्रिया । न तु स्पन्दनमात्रम् ।

इन्द्रियम् ।

३. शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियम् . इन्द्रियम् । 'अतीन्द्रियमिन्द्रियम्' इत्युच्यमाने कालादेरपीन्द्रियत्वप्रसङ्गोऽत उक्तं ज्ञानकरणमिति । तथापि इन्द्रियार्थसन्निकर्षेऽतिप्रसङ्गोऽत उक्तं शरीरसंयुक्तमिति । 'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमिन्द्रियम्' इत्युच्यमाने आलोकादेरिन्द्रियत्वप्रसङ्गोऽत उक्तमतीन्द्रियमिति । तानि चेन्द्रियाणि षट् । घ्राण–

---

माह—चेष्टा त्विति । हितप्राप्त्यहितपरिहारानुकूला क्रियेत्यर्थः । पक्षान्तरं निषेधति—न त्विति । तथा सति वाय्वादावतिप्रसङ्गादिति भावः ।

अथेन्द्रियस्य लक्षणमाह—शरीरसंयुक्तमिति । ननु इन्द्रियमतिक्रान्तमतीन्द्रियमित्युच्यमाने–इन्द्रियज्ञानेऽतीन्द्रियज्ञानम् , अतीन्द्रियज्ञानेऽपीन्द्रियज्ञप्तिरित्यन्योऽन्याश्रयदोषप्रसङ्ग इति चेन्न, योगजधर्माजन्यसाक्षात्कारविषयत्वमतीन्द्रियत्वमिति निर्वचनेन सामञ्जस्यात् । तल्लक्षणगतपदानां कृत्यानि स्वयमाह—अतीन्द्रियमिति । प्रसङ्ग इति—तस्याप्यतीन्द्रियत्वादिति शेषः । ज्ञानकरणमित्यस्योपादाने तु न कालादौ तत्प्रसङ्गः, तस्य जन्यमात्रम्प्रति निमित्तकारणत्वेऽपि ज्ञानम्प्रति करणत्वाभावादित्याशयः । तथापि—ज्ञानकरणमतीन्द्रियमित्युच्यमानेऽपि । अतिप्रसङ्ग इति—इन्द्रियलक्षणस्येत्यादिः । तस्यापि ( अप्रत्यक्षेन्द्रियप्रतियोगित्वेन ) अतीन्द्रियत्वाद्, ज्ञानकरणत्वाच्चेति शेषः । शरीरसंयुक्तमित्यस्योपादाने तु न तत्र तदतिप्रसङ्गः, तस्य गुणत्वादिना संयोगित्वासम्भवादिति भावः । अथ सर्वाधिष्ठानव्याप्तं त्वगिन्द्रियमेवैकं तत्तच्छक्तिमत्तया तत्तद्विषयसाक्षात्कारकारकमिति मतं खण्डयितुमाह—तानि चेति । उक्तलक्षणलक्षितानि च ज्ञानेन्द्रियाणीत्यर्थः । कर्मेन्द्रियाणि तु पञ्च, वाक्पाणिपादपायूपस्थभेदादिति बोध्यम् । घ्राणादीनां पृथिव्यादिप्रकृतिकत्वात् पृथिव्याद्युद्देशक्रमेणैव तेषां नामानि निर्दिशति—घ्राणेति । ननु द्वि–बु–

---

संयोग से उत्पन्न शरीर को योनिज कहते हैं, और उससे भिन्न शरीर को अयोनिज कहते हैं ।

शरीर संयुक्त–शरीर संयुक्त, ज्ञान करण जो अतीन्द्रिय, वह इन्द्रिय है। यहाँ इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, कालादि और आलोकादि में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये क्रमशः शरीर संयुक्त, ज्ञानकरण और अतीन्द्रिय पदों का उपादान है । वे इन्द्रियाँ छः

लब्धिसाधनमिन्द्रियं चक्षुः । कृष्णताराग्रवर्ति । तच्च तैजसं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत् । स्पर्शोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं त्वक् । सर्वशरीरव्यापि । तत्तु वायवीयं, रूपादिषु पञ्चसु मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वादङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनवातवत् । शब्दोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं श्रोत्रम् । तच्च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमाकाशमेव, न द्रव्यान्तरं शब्दगुणत्वात् । तदपि शब्दगुणकं शब्दग्राहकत्वात् । यदिन्द्रियं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये यद्गुणव्यञ्जकं तत्तद्गुणसंयुक्तं यथा चक्षुरादि रूपादिग्राहकं रूपादियुक्तम् । शब्दग्राहकं च श्रोत्रम्, अतः शब्दगुणकम् ।

---

रूपोपलब्धीति—अत्र—रूपाभिव्यञ्जकप्रभायामतिव्याप्तिवारणायेन्द्रियपदम् । तथा शेषं पूर्ववत् । त्वचि स्थितमिन्द्रियं त्वक्पदेन व्यवह्रियते इत्याशयेनाह—स्पर्शोपलब्धीति । अत्र—स्पर्शाभिव्यञ्जकव्यजनपवनादावतिव्याप्तिवारणायेन्द्रियपदम् । तथा शेषं पूर्ववत् । शब्दोपलब्धीति—अत्र-शब्दाभिव्यञ्जकविलक्षणवायावतिव्याप्तिवारणायेन्द्रियपदम् । तथा शेषं पूर्ववत् । श्रोत्रं घ्राणादिवन्न क्वचिद्वृत्ति, न च सोपादानकमित्याशयेनाह—तच्चेति । श्रोत्रस्याकाशत्वाविशिष्टत्वेऽपि शब्दग्राहकताविशिष्टस्यैव तादृशाकाशस्य श्रोत्रत्वाभ्युपगमाद् बधिरत्वाबधिरत्वोपपत्तिः । पक्षान्तरं निषेधति—नेति । अत्र स्वरूपासिद्धिं परिहरति—तदपीति । शब्दगुणवत्त्वमपीत्यर्थः । तत्रेत्यादिः । अत्र सामान्यतोव्याप्तिप्रदर्शनपूर्वकं दृष्टान्तमाह—यदिति । संयुक्तम्—सम्बद्धम् । अत्र क्रमश उपनयनिगमने अप्याह—शब्देति ।

---

अभिव्यञ्जक होने के कारण तैजस है । एवं-रूप-प्रत्यक्ष का जनक जो बहिरिन्द्रिय वह चक्षु है, और वह कृष्णतारा के अग्रभाग में रहता है । तथा वह प्रदीप के समान रूपादि पाँचों के मध्य में परकीय रूपमात्र का अभिव्यञ्जक होने के कारण तैजस है । एवं स्पर्श-साक्षात्कार का साधन जो बहिरिन्द्रिय, वह त्वक् है । तथा वह समस्त शरीर में व्याप्त है । और वह अङ्ग-सङ्गि-सलिल-शैत्याभिव्यञ्जक-व्यजन-पवन के समान रूपादि पाँचों के मध्य में स्पर्शमात्र का अभिव्यञ्जक होने के कारण वायवीय है । एवं-शब्द-साक्षात्कार का साधन जो बहिरिन्द्रिय वह श्रोत्र है और वह कर्णविवरावच्छिन्न आकाश ही है, न कि द्रव्यान्तर, क्योंकि वह शब्दगुणक है । तथा इसमें शब्दगुणकता भी शब्दग्राहकता होने के कारण ही है, क्योंकि—जो इन्द्रिय रूपादि पाँचों के मध्य में जिस गुण का अभिव्यञ्जक

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः, तच्चाणुपरिमाणं हृदयान्तर्वर्ति । ननु चक्षुरादीन्द्रियसद्भावे किं प्रमाणम् । उच्यते । अनुमानमेव । तथाहि रूपाद्युपलब्धयः करणसाध्याः, क्रियात्वात्, छिदिक्रियावत् ।

अर्थाः षट् पदार्थाः । ते च द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-

---

मनो लक्षयति—सुखादीति । अत्र—सुखादिमनःसन्निकर्षेऽतिव्याप्तिवारणाय—इन्द्रियमिति । तथा चाक्षुः पदनिर्देशनातिरिक्तं पूर्ववत् । यद्यपि मनो विशेषेण निरूपयिष्यति तथापि प्रसङ्गात्प्रकृते तन्निरूपितम् । मनसो मध्यमपरिमाणत्वे तस्यानित्यत्वादिदोषाः प्रसज्येरन् ; एवं तस्य महत्परिमाणत्वे दीर्घशष्कुलीभक्षणतो युगपद् रूपरसादिविषयकानेकज्ञानान्यापद्येरन्, आत्ममनइन्द्रियविषयसन्निकर्षरूपज्ञानसामग्र्याः सत्त्वात् ; तस्याणुपरिमाणत्वे तु युगपत्तत्तदनेकेन्द्रियाणामसम्बन्धान्न तादृशज्ञानान्यापद्यन्ते इत्याशयेनाह—तच्चेति । तद् दर्शयति—तथाहीति । अत्र—क्रियात्व—कार्यत्वम्, तच्चाभूत्वा भावित्वम् ॥

अर्थान् निरूपयति—अर्था इति । ननु सकलपदार्थस्याभावस्याप्यर्थत्वात् कथं षण्णां पदार्थानामेवार्थत्वमुच्यते इति चेन्न, अर्थपदेन त्रिविधप्रत्ययवैषयिकस्यैव विवक्षणात् । कणादेन सप्तपदार्थनिरूपणेन त्रिभावान्तर्वर्तिसकलपदार्थाः ( सामान्येन ) निरूप्यन्ते, गौतमेन तु षोडशपदार्थनिरूपणेन मोक्षसाधनज्ञानविषयपदार्था एव ( प्राधान्येन, तदतिरिक्तपदार्थास्तु गौणत्वेन ) निरूप्यन्ते, इति सूचनायैव षोडशपदार्थानां

---

होती है, वह उस गुण से युक्त होती है, जैसे—रूपादि प्रत्यक्षजनक चक्षुरादि रूपादि से युक्त हैं । एवं—सुखादि-साक्षात्कार का कारण जो इन्द्रिय, वह मन है और वह अणु परिमाण वाला है, तथा हृदय के भीतर रहता है । प्रश्न—चक्षुरादि इन्द्रियों की सत्ता में क्या प्रमाण है ? उत्तर—उनकी सत्ता में अनुमान ही प्रमाण है, अर्थात्—रूपादियों के साक्षात्कार, सकरण हैं, क्योंकि ये कार्य हैं, जैसे—छेदन कर्म, इस अनुमान से रूपादि-साक्षात्कारों के जिन करणों की सिद्धि होती है, उन्हीं करणों के नाम चक्षुरादि हैं ।

अर्थ—'आत्मशरीरेन्द्रियार्थ०' इस गौतम सूत्र के अनुसार क्रम से आत्मा, शरीर और इन्द्रियों का निरूपण करके अर्थ का निरूपण करते हैं । यद्यपि गौतमने प्रकृत सूत्रस्थ अर्थपद से 'गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः०' इस सूत्र के द्वारा रूपादि पाँचों का ही बोध कराया है, तथापि केशवमिश्रने न्याय और वैशेषिक के मतों का समन्वय करने के लिये प्रकृत-सूत्रस्थ अर्थ पद से छः पदार्थों का ग्रहण किया है ।

विशेष–समवायाः। प्रमाणादयो यद्यप्यत्रैवान्तर्भवन्ति, तथापि प्रयोजनवशाद् भेदेन कीर्तनम्। तत्र समवायिकारणं द्रव्यम्। गुणाश्रयो वा। तानि च द्रव्याणि 'पृथिवी–अप्–तेजो–वायु–आकाश–काल–दिग्–आत्म–मनांसि नवैव।

पृथिव्यादिद्रव्याणि

५. तत्र पृथिवीत्वसामान्यवती पृथिवी। काठिन्यकोमलत्वाद्यवयव-

---

षट्पदार्थेष्वन्तर्भावसम्भवेऽपि तेषां ततो भेदेन कथनमित्याशयेनाह—प्रमाणादय इति। अत्रैव—षट्पदार्थेष्वेव। भेदेनेति—पृथक्त्वेनेत्यादिः। तेषामिति शेषः। यथोद्देशक्रमं द्रव्यं लक्षयति—तत्रेति। द्रव्यादिषट्पदार्थानां मध्ये इत्यर्थः। द्रव्याणि परिगणयति—तानि चेति। उक्तलक्षणलक्षितानि चेत्यर्थः। ननु गणनयैव तेषां नवत्वे सिद्धेऽत्र नवपदोपादानं व्यर्थमिति चेन्न, द्रव्यत्वं पृथिव्यादिनवान्यतमत्वव्याप्यमिति व्याप्तिलाभाय तदुपादानात्। तेन द्रव्ये सुवर्णे नवातिरिक्तत्वम्, नवातिरिक्ते तमसि च द्रव्यत्वं निषिध्यते। एवकारोऽवधारणार्थ एवेति बोध्यम्।

प्रथमोद्दिष्टां पृथिवीं लक्षयति—तत्रेति। पृथिव्यादिनवद्रव्याणां मध्ये इत्यर्थः। काठिन्यादेरवयवसंयोगविशेषरूपत्वे चाक्षुषावयवानुयोगिप्रतियोगिकसंयोगविशेषरूपकाठिन्यादेश्चाक्षुषत्वापत्तेः, काठिन्यादि स्पर्शान्तर्भूतम् त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यत्वे

---

वे छः पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। यद्यपि ऐसी स्थिति में—प्रमाणादियों का द्रव्यादियों में ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण–प्रमाणादियों का पृथक् निरूपण अपेक्षित नहीं है, तथापि निःश्रेयसाधिगमसाधन-ज्ञानविषय होने के कारण प्रमाणादियों का पृथक् निरूपण किया गया है। यद्यपि वैशेषिक के मत में अभावनामक सातवाँ पदार्थ भी है, तथापि निषेधमुखप्रत्ययवेद्य होने के कारण उसमें अर्थतार्की सत्ता नहीं है। उन द्रव्यादि छवों के मध्य में—जो सम-वायिकारण है अथवा गुण का आश्रय है उसे द्रव्य कहते हैं। कुछ लोग क्रियाश्रय को द्रव्य कहते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि आकाश भी द्रव्य है, परन्तु व्यापक होने के कारण उसमें क्रिया नहीं हो सकती। वे द्रव्य नव प्रकार के हैं, जैसे—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।

उनमें—जो पृथिवीत्व जाति का आश्रय है वह पृथिवी है। यहाँ पृथिवी शब्द से–छोटे से छोटे पार्थिव कण से लेकर महापृथिवी पर्यन्त–विवक्षित है, न कि कोश में–धरा, धरित्री और अचला आदि शब्दों से जिसका अभिधान है, केवल वही। वह

संयोगविशेषेण युता । घ्राण–शरीर–मृत्पिण्ड–पाषाण–वृक्षादिरूपा । रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–संख्या–परिमाण–पृथक्त्व–संयोग–विभाग–परत्व–अपरत्व–गुरुत्व–द्रवत्व–संस्कारवती । सा च द्विविधा । नित्याऽनित्या च । नित्या परमाणुरूपा । अनित्या च कार्यरूपा । द्विविधायाः पृथिव्या रूप–रस–गन्ध–स्पर्शा अनित्याः पाकजाश्च । पाकस्तु तेजःसंयोगः । तेन पृथिव्याः पूर्वरूपादयो नश्यन्त्यन्ये जन्यन्त इति पाकजाः ।

---

सति गुणत्वात् शीतादिस्पर्शवद्गन्धगुणसत्त्वेन तस्य स्पर्शान्तर्भूतत्वं, न त्ववयवसंयोगविशेषत्वमित्याशङ्कानिरासायाह—काठिन्येति । काठिन्यकोमलत्वादौ ( अत्र निमित्तार्थे सप्तमी ) अवयवसंयोगविशेषः, तथापि, तेन युक्तेत्यर्थः । आदिनाऽतिनिबिडत्वादि परिग्रहः । सा शरीरेन्द्रियविषयभेदात्त्रिधेत्याशयेनाह—घ्राणेति । अत्र विषयो मृत्पिण्डादिः । तत्र विषयत्वञ्च साक्षात्परम्परया वा भोगसाधनत्वम् । तस्या द्रव्यत्वसाधनाय गुणान् दर्शयति—रूपरसेति । अत्र स्पर्शपदेनानुष्णाशीतस्पर्शः, तथा संस्कारपदेन वेगस्थितिस्थापकसंस्कारौ विवक्षितौ । तां विभजते—सा चेति । उक्तलक्षणलक्षिता पृथिवी चेत्यर्थः । कार्येति—द्व्यणुकादीत्यादिः । अन्ये इति—रूपादय इति शेषः । इतीति—इति हेतोरित्यर्थः । तत्र रूपादय इति शेषः । अत्र वैशेषिकाः—अवयविनाऽवष्टब्धेष्ववयवेषु पाकासम्भवात्, तेजःसंयोगेनावयविनाशे परमाणुषु पाकेन पूर्वरूपादयो नश्यन्त्यपरे च रूपादयो जायन्ते, ततः पक्वपरमाणु-

---

पृथिवी—काठिन्य, कोमलत्व, अतिनिबिडत्व और अवयव संयोग विशेष से युक्त है, एवं—उपभोगसाधन घ्राणेन्द्रिय और शरीर तथा उपभोग्य मृत्पिण्ड, पाषाण, और वृक्ष आदियों के भेद से त्रिविध स्वरूपवाली है, तथा—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार नामक चतुर्दश गुणवाली है। यह पृथिवी दो प्रकार की है, जैसे—नित्य और अनित्य । इनमें—परमाणु स्वरूपा पृथिवी नित्य है तथा जन्य स्वरूपा पृथिवी अनित्य है । इन दोनों प्रकार की पृथिवी के—रूप, रस, गन्ध और स्पर्श अनित्य तथा पाकज हैं । यहाँ पाक शब्द से विलक्षण तेजः संयोग विवक्षित है, उस से पृथिवी के पूर्व रूप रसादि नष्ट होते हैं, और पररूपरसादि उत्पन्न होते हैं, अतः पृथिवी के रूपादि चतुष्टय पाकज कहे जाते हैं। यह धरा ७८९९ मील लम्बी है ।

अप्त्वसामान्ययुक्ता आपः । रसनेन्द्रिय–शरीर–सरित–समुद्र–हिमकरकादिरूपाः । गन्धवर्जस्नेहयुक्तपूर्वोक्तगुणवत्यः । नित्या अनित्याश्च । नित्यानां रूपादयो नित्या एव, अनित्यानां रूपादयोऽनित्या एव ।

---

संयोगाद्द्व्यणुकादिक्रमेण पुनश्चरमावयविपर्यन्तमुत्पत्ति । तेजसोऽतिवेगवशात् झटिति पूर्वव्यूहनाशो व्यूहान्तरोत्पत्तिश्च । साजात्यात्तत्र सोऽयं घट इत्यादि प्रत्यभिज्ञाऽप्युपपद्यते इति वदन्ति । नैयायिकास्तु–अवयविनः सच्छिद्रत्वात्तदन्तःप्रविष्टैः तेजसः सूक्ष्मावयवैरवयविनाऽवष्टब्धेष्वप्यवयवेषु पाकः सम्भवतीत्यवयविन्येव पाकेन पूर्वरूपादिनाशोऽपरस्याद्युत्पादश्चाभ्युपगन्तव्यः, तदर्थमनन्तावयविनाशोत्पादकल्पने गौरवात् । इत्यश्च सोऽयं घट इत्यादि प्रत्यभिज्ञा साजात्याश्रयणमन्तरेणोपपद्यते इत्यभिप्रयन्ति ,

अथापो लक्षयति—अप्त्वेति । 'आपः स्त्री भूम्नी' ति नियमादाह—आप इति । ता अपि शरीरेन्द्रियविषयभेदात् त्रिधा इत्याशयेनाह—रसनेति । अत्र शरीरं वरुणादीनाम् , तथा विषयः सरिदादिर्बोध्यः । तासां द्रव्यत्वसाधनाय गुणानाह—गन्धेति । अत्र–रूपम्–अभास्वरशुक्लम् , रसो–मधुरः, स्पर्शः–शीतः, द्रवत्वम्–सांसिद्धिकम् , संस्कारो–वेगः, इति बोध्यम् । ताश्च द्विविधा इत्याह—नित्या इति । नित्याः परमाणुरूपाः । अनित्याश्च द्व्यणुकादिकार्यरूपा इत्यर्थः ।

---

अप्त्वसामान्य—जलत्व जाति का जो आश्रय वह जल है । वह जल उपभोग साधन रसनेन्द्रिय और ( वारुणादि ) शरीर तथा उपभोग्य सरित , समुद्र, हिम, और करका आदियों के भेद से विभिन्न स्वरूप वाला है, तथा—रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और संस्कार नामक चतुर्दश गुणों से युक्त है । एवं वह जल भी दो प्रकार का है, जैसे—नित्य और अनित्य । इनमें–नित्य परमाणु स्वरूप जल के रूपादि नित्य हैं, एवं अनित्य जन्य स्वरूप जल के रूपादि अनित्य हैं । स्वाभाविक द्रवत्व के कारण जल का कोई खास आकार नहीं होता है, किन्तु वह आधार के अनुसार ही आकार का धारण करता है, अतः चतुष्कोण पात्र में रखा हुआ जल चतुष्कोण ही प्रतीत होता है । स्वसम्पृक्त वस्तु में ताजगी बनाये रखना जल का प्रधान गुण है । वस्तुतस्तु स्वाभाविक शीतस्पर्शवान् जल है ।

तेजस्त्वसामान्यवत् तेजः । चक्षुः-शरीर-सवितृ-सुवर्ण-वह्नि-विद्युदादिप्रभेदम् । भौमदिव्योदर्याकरजञ्चेति । रूप-स्पर्श-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-द्रवत्व-संस्कारवत् । नित्यमनित्यं च पूर्ववत् , तच्चतुर्विधम् । १. उद्भूतरूपस्पर्शम् , २. अनुद्भूतरूपस्पर्शम् , ३. अनुद्भूतरूपोद्भूतस्पर्शम् , ४. उद्भूतरूपानुद्भूतस्पर्शं च, इति । तत्र १—उद्भूतरूपस्पर्शं यथा सौरादितेजः पिण्डीभूतं तेजो चन्द्रादिकम् । सुवर्णं तु उद्भूताभिभूतरूपस्पर्शं नानुद्भूतरूपस्पर्शं, तदनुद्भूतरूपत्वेऽचाक्षुषं स्याद्, अनुद्भूत-

---

अथ तेजो लक्षयति—तेजस्त्वेति । तदपि शरीरेन्द्रियविषयभेदात् त्रिविधमित्यभिप्रायेणाह—चक्षुरिति । अत्र शरीरमादित्यलोकवासिनाम् , तथा सवित्रादिः विषयः । प्रकारे विषयश्चतुर्विधः , भौमदिव्योदर्याकरजभेदात् । तत्र-भौमम्-वह्न्यादि, दिव्यं-विद्युदादि, उदर्यम्-भुक्तपरिणामहेतुः, आकरजम्-सुवर्णादि, इति बोध्यम् । आदिनोदर्यादिपरिग्रहः । तस्य द्रव्यत्वसाधनाय गुणानाह—रूपेति । अत्र-रूपम्-भास्वरशुक्लम् , स्पर्श -उष्णः, संस्कारो वेग , इति बोध्यम् । तच्च द्विविधमित्याह—नित्यमिति । पूर्वमिति—नित्यं परमाणुरूपम् , अनित्यञ्च द्व्यणुकादिकार्यरूपम् । नित्यस्य रूपादयो नित्या एव, अनित्यस्य तेऽनित्या एवेत्यर्थः । अथ न्यायभाष्योक्तं तेजस चातुर्विध्य सोदाहरणं दर्शयति—तच्चतुर्विधमिति । प्रत्यक्षयोग्यतापादको धर्मविशेष उद्भूतत्वम् , तथा तदभावोऽनुद्भूतत्वमिति बोध्यम् । पिण्डीभूतमिति—इदं मध्यमणिन्यायेन पूर्वत्रोत्तरत्र चान्वेति । ननु सुवर्णम् तैजसम् प्रतिबन्धकेऽसति,

---

तेजस्—तेजस्त्व जाति का जो आश्रय, वह तेज है । वह तेज उपभोग साधन चक्षुरिन्द्रिय और शरीर तथा उपभोग्य वह्नि, विद्युत्, जठरानल, और सुवर्ण आदियों के भेद से विभिन्न स्वरूप वाला है; तथा—रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व और संस्कार नामक एकादश गुणों से युक्त है; और नित्य तथा अनित्य के भेद से दो प्रकार का है, इनसें—नित्य परमाणु स्वरूप तेज के रूपादि नित्य है, तथा कार्य स्वरूप अनित्य तेज के रूपादि अनित्य है । वही तेज प्रकारान्तर से चार प्रकार का भी है, जैसे—उद्भूत-रूपस्पर्श, अनुद्भूतरूपस्पर्श, अनुद्भूतरूपोद्भूतस्पर्श और उद्भूतरूपानुद्भूत-स्पर्श । इनमें—जिस तेज के रूप और स्पर्श उद्भूत हैं, वह पिण्डीभूत सौरादि

स्पर्शत्वे त्वचा न गृह्येत। अभिभवस्तु बलवत्सजातीयेन पार्थिवरूपेण स्पर्शेन च कृतः। २–अनुद्भूतरूपस्पर्शं तेजो यथा चक्षुरिन्द्रियम्। ३–अनुद्भूतरूपोद्भूतस्पर्शं यथा तप्तवारिस्थं तेजः। ४–उद्भूतरूपानुद्भूतस्पर्शं यथा प्रदीपप्रभामण्डलम्।

---

अत्यन्तानलसंयोगेऽपि सति, अनुच्छिद्यमाननैमित्तिकद्रवत्वाविकरणत्वादित्यनुमानेन सिद्धतैजसत्ववत् सुवर्णमेषा चतुर्विधाना म"ये क्वान्तर्भवतीत्यत आह—**सुवर्णं त्विति**। सुवर्णं तु एभ्यः चतुर्विधेभ्यो विलक्षणमेवेति भाव'। ननु सुवर्णमनुद्भूतरूपस्पर्शेऽन्तर्भवत्वित्यत आह—**तद्धिति**। **स्यादिति**–तथेति शेष.। **अभिभवः**—बलवत्सजातीयग्रहणकृतमग्रहणम्। **स्पर्शेन**—पार्थिवस्पर्शेन। सुवर्णोपष्टम्भकपृथिव्याः पीतरूपम्, अनुष्णाशीतस्पर्शश्च गृह्यते; सुवर्णस्य च भास्वरशुक्लरूपम्, उष्णस्पर्शश्च न गृह्यते इति सूचनायैव सुवर्ण-रूपस्पर्शयो प्रत्येकम् उद्भूतत्वाभिभूतत्वद्वयोक्ति'।

---

तेज तथा वह्न्यादि स्वरूप तेज है। किन्तु सुवर्ण के रूप और स्पर्श उद्भूत होने पर भी बलवान् स्वसजातीय पार्थिव रूप और स्पर्श से अभिभूत हैं, यदि उसके रूप तथा स्पर्श उद्भूत न होते, तो उसके चाक्षुप और स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं होते। एवं जिसके रूप और स्पर्श अनुद्भूत हैं, वह तेज चक्षुरिन्द्रिय है। तथा जिस तेज का रूप अनुद्भूत है, किन्तु स्पर्श उद्भूत है, वह तप्तजलस्थ तेज है। एवं जिसका रूप उद्भूत है, किन्तु स्पर्श अनुद्भूत है, वह तेज प्रदीपप्रभामण्डल है। वस्तु वस्तु जिसका स्पर्श स्वभावतः उष्ण हो तथा जो प्रकाशक हो वह तेज है। स्वसम्पृक्त वस्तु को पकाना तेज का प्रधान गुण है। विशेषत पृथ्वी और जल में तेज अनुस्यूत रहता है, अत. काष्ठद्वय के संघर्ष से तेज प्रकट होता है तथा जलसे बिजली निकलती है। तेज में गुरुत्व नहीं है, अत एव उलटाने पर भी दीप शिखा ऊपर ही जाती है। वैशेषिकों ने पृथिवी, जल आदि तीनों भूतों को शरीर इन्द्रिय और विषय इन तीन भेदों में बाँटा है और विषय रूप तेज को भौम, दिव्य, उदर्य और आकरज इन चार भागों में विभक्त किया है। इन में अग्नि आदि भौम तेज है। एवं बिजली आदि दिव्य तेज हैं। तथा जिससे खाये पीये अन्न जल आदि पचते हैं वह जठरानल उदर्य तेज है। एवं खानों से निकलने वाले सुवर्ण आदि आकरज तेज हैं। सूर्य का शरीर तैजस है, उनके विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि—तेरह लाख पृथिवी की महत्ता के समान सूर्य की महत्ता है। अतः यदि घण्टे में साठ मील चलने वाली गाड़ी पर चढ़कर सूर्य की परिक्रमा की जाय

वायुत्वाभिसम्बन्धवान् वायुः । त्वगिन्द्रिय-शरीर-प्राण-वातादिप्रभेदः । स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अप-

---

अथ वायुं लक्षयति—वायुत्वेति । वायुत्व-सामान्य, तेनाभितः सम्बन्धः—समवायः, तद्वान् वायुरित्यर्थः । सोऽपि शरीरेन्द्रियविषयभेदात् त्रिविध इत्याशयेनाह—त्वगिन्द्रियेति । शरीरेति शेषः । तत्र-शरीरं पिशाचादीनाम्, तथा विषयः-प्राणवातादिः । आदिना वातवायुपरिग्रहः । शरीरान्तः सञ्चारी वायुः प्राणनामा, स चैक एव स्थानभेदात् कार्यभेदाच्च प्राणापानसमानोदानव्यानसंज्ञा लभते; तथाहि—स हृदि तिष्ठन् मुखनासिकाभ्यां निष्क्रमणप्रवेशनरूपप्राणनव्यापारकरणात् प्राणः, एवं गुदोपस्थयोः तिष्ठन् नाभ्या मलमूत्राद्यपनयनकरणादपानः, तथा नाभौ तिष्ठन् भुक्तपीतान्नजलादिसमीकरणात् समानः, एवं कण्ठे तिष्ठन् भुक्तपानादुन्नयनकरणादुदानः, तथा समस्तशरीरे तिष्ठन् ( रक्तसञ्चारक ) नाडीनां वितननकरणाद् व्यानः ॥ तस्य द्रव्यत्वसाधनाय गुणान् दर्शयति—स्पर्शेति । अनेनानुष्णाशीतस्पर्शो विवक्षितः । ननु बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे उद्भूतरूपस्य कारणतया वायोः रूपत्वाभावात् प्रत्यक्षं न सम्भवति,

---

तो उसकी परिक्रमा करने में पाँच वर्ष समय लगेंगे । पृथिवी से सूर्य की दूरी नव करोड़ तीस लाख मील की है । अतः यदि घण्टे में तीस मील चलने वाली गाड़ी पर चढ़कर चलें तो पृथ्वी से सूर्य तक पहुँचने में साढ़े तीन सौ वर्ष समय लगेंगे । सूर्य चारों ओर जिन उष्ण कणों का वर्षण करता है, उसके बीस करोड़ भागों का एक भाग मात्र पृथिवी पर आता है, और अन्य सभी उष्णकण महाशून्य में ही विलीन हो जाते हैं । एवं—चन्द्रमा का भी शरीर तैजस है, किन्तु उसमें हिमका प्राधान्य है, अतः उसके शीतस्पर्श से अभिभूत हो जाने के कारण चन्द्रकिरणों के उष्णस्पर्श की प्रतीति नहीं होती है । चन्द्रमा के विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि—दो हजार एक सौ साठ मील चन्द्रमा की महत्ता है, और वह पृथ्वी से दो सौ चालीस लाख मील दूर है ।

अनुवाद—वायुत्व जाति का जो आश्रय वह वायु है । वह वायु उपभोगसाधन (त्वगिन्द्रिय, पैशाचादि) शरीर और प्राणादि वायु तथा उपभोग्य वृक्षादि—कम्पनजनक वायु आदियों के भेद से विभिन्नस्वरूपवाला है; और स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेग नामक नव गुणों से

स्त्व—वेगवान् । स च स्पर्शाद्यनुमेयः । तथाहि योऽयं वायौ वाति अनुष्णाशीतस्पर्श उपलभ्यते स गुणत्वाद् गुणिनमन्तरेणानुपपद्यमानो गुणिनमनुमापयति । गुणी च वायुरेव । पृथिव्याद्यनुपलब्धेः । वायुश्च-

---

तर्हि तत्र किं मानमित्यत आह—स चेति । आदिना शब्दधृतिकम्पपरिग्रहः । तथा च विलक्षणस्पर्शशब्दधृतिकम्पसम्पादकतया वायुरनुमेय इत्यर्थः । तदुपपादयति—तथाहीति । अनुमापयतीति—अत्र 'योऽय वाते वातुपलभ्यमानोऽनुष्णाशीतस्पर्शः स किञ्चिद्गुणाश्रितः गुणत्वाद् रूपादिवदित्यनुमानाकारो द्रष्टव्यः । नन्वेतेन कश्चिद् गुणी सिद्ध्यति, न तु वायुरित्यत आह—गुणी चेति । अत्र कश्चिदित्यादिः । नन्वत्र किञ्चिद्गुणिपदेन पृथिव्यादिरेव कुतो नाश्रीयते इत्यत आह—पृथिव्यादीति । आदिना जलतेजसोः परिग्रहः । नन्वेवमपि प्रकृते तेनाकाशादिरेव कुतो नावलम्ब्यते इत्यत आह—वाय्विति । एवमत्र—अमति रूपवद्द्रव्याभिघाते योऽयं पर्णादिषु शब्दसन्तानः स स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्यसंयोगजन्यः अविभज्यमानावयवद्रव्यसम्बन्धिशब्दसन्तानत्वाद् दण्डाभिहतभेरीशब्दसन्तानवत् ,

---

युक्त है। वैशेषिकों ने पृथिवी आदि तीन भूतों के शरीर, इन्द्रिय और विषय ये तीन भेद मानते हुए भी वायु के शरीर, इन्द्रिय, प्राणवायु और विषय ये चार भेद माने हैं। क्योंकि प्राणवायु उपभोग्य नहीं है, किन्तु उपभोगसाधन है। यदि उपभोगसाधन को भी विषय कोटि में रखा जायगा, तो वे तीन भेद भी नहीं बन सकेंगे। क्योंकि तब शरीर और इन्द्रिय भी विषय कोटि में आ जायेंगे। तात्पर्य यह है कि—जिसमें रूप नहीं है किन्तु स्पर्श है, वह वायु है अर्थात् रूप के न रहने से जिसका प्रत्यक्ष तो नहीं होता, किन्तु त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष स्पर्श के आश्रयरूप से जिसका अनुमान होता है, वह वायु है। सारांश यह है कि—सनसन आवाज के सुनने से, पृथिव्यादि के स्पर्श से विलक्षण स्पर्श के प्रत्यक्ष होने से, रूई आदि हल्की चीज को आकाश में उड़ते देखने से और वृक्षों की हिलती शाखाओं को देखने से वायु का अनुमान होता है। क्योंकि सन सन आवाज पृथिव्यादि के संयोग या विभाग से नहीं होती। एवं—वायु के बहने पर मालूम होनेवाला स्पर्श पृथिव्यादि का नहीं है, क्योंकि जल और तेज का स्पर्श क्रमशः शीत और उष्ण होता है, तथा पृथिवी का स्पर्श अनुष्णाशीत होता हुआ भी पाकज है, किन्तु वायु का स्पर्श अपाकज अनुष्णाशीत होता है। तथा विधारक के विना आकाश में विधारण के असम्भव होने से और पृथिव्यादि के नहीं देखने से मानना होगा कि—आकाश में उड़नेवाली रूई आदि का जो विधारक है वही वायु है। एवं पृथिव्यादि से आहत नहीं होने पर

थिवीन्यतिरेकेण अनुष्णाशीतस्पर्शाभावात। स च द्विविधो नित्यानित्यभेदात। नित्यः परमाणुरूपः, अनित्यः कार्यरूप एव।

कार्यद्रव्याणामुत्पत्तिविनाशक्रमः

६. तत्र पृथिव्यादीनां चतुर्णां कार्यद्रव्याणामुत्पत्तिविनाशक्रमः कथ्यते। द्वयोः परमाण्वोः, क्रियया संयोगे सति द्व्यणुकम् उत्पद्यते। तस्य परमाणू समवायिकारणम्। तत्संयोगोऽसमवायिकारणम्। अदृष्टादि निमित्तकारणम्। ततो द्व्यणुकानां त्रयाणां क्रियया संयोगे

नभसि तृणमेघविमानादीनां धृतिः स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्यसंयोगहेतुका। असदाद्यनधिष्ठितद्रव्यधृतित्वात् नौकाधृतिवत्, स्पर्शवद्द्रव्याभिघातं विना तृणे कर्म स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्याभिघातजन्यं विजातीयकर्मत्वात नदपरादतकाशादिकर्मवदित्यनुमानत्रयमपि द्रष्टव्यम्। तं विभजते—स चेति। उक्तलक्षणलक्षितो वायुरित्यर्थः। कार्येति—द्व्यणुकादीत्यादिः। नित्यस्य स्पर्शादयो नित्या एव, अनित्यस्य च तेऽनित्या एवेति बोध्यम्॥

अथ स्वमतेन सृष्टिप्रलयौ व्युत्पादयितुमुपक्रमते—तत्रेति। नित्यानित्यभेदाद् द्विविधेषु पृथिव्यादिष्वित्यर्थः। कथनक्रम निर्दिशति—द्वयोरिति। लब्धवृत्तिकादृष्टवदात्मसंयोगादित्यादिः। क्रिययेति—विभागः, ततः पूर्वसंयोगनाशः, ततस्तयोरिति शेषः। एवमग्रेऽपि। द्व्यणुकस्य कारणत्रयं क्रमशो दर्शयति—तस्येति। तत्संयोगः—परमाणुद्वयसंयोगः। आदिनेश्वरेच्छादिपरिग्रहः। ततः—एवं

जिससे आहत होकर वृक्षों की शाखाएँ डोलती हैं वह वायु है। इसी वायु के आधार पर समस्त स्थावर जङ्गम जीवों का जीवन आश्रित है, क्योंकि श्वास प्रश्वास से ही जीवन का आरम्भ होता है और उसी का अन्त होने पर जीवन का भी अन्त हो जाता है। वह वायु दो प्रकार का है, जैसे—नित्य और अनित्य। इनमें परमाणु स्वरूप वायु नित्य है, और जन्य स्वरूप वायु अनित्य है। इस तरह नित्य और अनित्य पृथिवी, जल आदि चारों भूतों का निरूपण किया।

तत्र—अब पृथिवी, जल आदि चारों जन्य द्रव्यों के उत्पाद और विनाश की प्रक्रिया को कहते हैं—परमेश्वर की सिसृक्षा के अनुसार लब्धवृत्तिक-अदृष्टवाली आत्मा के संयोग से परमाणुओं में क्रिया होने पर दो परमाणुओं में परस्पर के संयोग से द्व्यणुक पैदा होता है। उसका समवायिकारण दोनों परमाणु हैं और असमवायिकारण परमाणुद्वय-संयोग है तथा निमित्तकारण अदृष्टादि हैं। एवं

सति त्र्यणुकम् उत्पद्यते । तस्य द्व्यणुकानि समवायिकारणम् । शेषं पूर्ववत् । एवं त्र्यणुकैश्चतुर्भिः चतुरणुकम् । चतुरणुकैरपरं स्थूलतरं तैरपरं स्थूलतमम् । एवं क्रमेण महापृथिवी, महत्य आपो, महत्तेजो, महांश्च वायुरुत्पद्यते । कार्यगता रूपादयः स्वाश्रयसमवायिकारणगतेभ्यो रूपादिभ्यो जायन्ते । 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' इति

---

द्व्यणुकोत्पत्त्यनन्तरम् । तस्य—त्र्यणुकस्य । शेषं पूर्ववदिति—द्व्यणुकत्रय-संयोगोऽसमवायिकारणम् । अदृष्टादि निमित्तकारणमित्यर्थः । तद्रीतिमन्यत्रापि दर्शयति—एवमिति । चतुरणुकैरिति—तथा पञ्चभिरित्यादिः । स्थूलतर-मिति—पञ्चाणुकमिति शेषः । स्थूलतरैरिति—तैः पञ्चभिरित्यादि । पञ्चाणु-कैरिति शेषः । स्थूलतममिति—षडणुकमिति शेषः । तत्र उत्पन्ने रूपाद्युत्पत्ति-प्रकारं दर्शयति—कार्यगता इति । ननु नैयायिकमतेनावयविनि पाकाभ्युपगमाद-वयविनि पाकजा रूपादयस्तत्रायं रूपाद्युत्पत्तिप्रकारो न सङ्गच्छते इति चेन्न, "यत्रा-वयविनि न पाकस्तत्र स्वमतमभिप्रेत्यैतस्य तदुत्पत्तिप्रकारस्योपादानात् । स्वाश्र-येति—स्वाश्रयस्य यत् समवायिकारणं तद्गतेभ्य इत्यर्थः । एवं सृष्टिक्रममभिधाय

---

द्व्यणुकों में क्रिया होने पर तीन द्व्यणुकों में आपस के संयोग से त्र्यणुक उत्पन्न होता है । उसका समवायि कारण तीनों द्व्यणुक हैं और असमवायिकारण द्व्यणुकत्रय संयोग है तथा निमित्त कारण अदृष्टादि हैं । इसी प्रकार चार त्र्यणुकों के संयोग से चतुरणुक तथा पाँच चतुरणुकों के संयोग से पञ्चाणुक और छः पञ्चाणुकों के संयोग से षडणुक उत्पन्न होते हैं । इस तरह अवयवों के संयोग से अवयवियों के उत्पाद होते होते महा पृथिवी, महा जल, महा तेज तथा महा वायु उत्पन्न हो जाते हैं । बौद्ध लोग विभिन्न विलक्षण संयोगापन्न परमाणुपुञ्जों को ही विभिन्न नामों से पुकारते हैं, और अतिरिक्त प्रकार के अवयवियों की सत्ता नहीं मानते हैं । किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि तादृश परमाणुपुञ्ज ही घडा होगा तो उसका प्रत्यक्ष वैसे नहीं होगा, जैसे पिशाच समूह का प्रत्यक्ष नहीं होता । अर्थात् जैसे एक पिशाच अतीन्द्रिय होने के कारण अदृश्य है वैसे पिशाच समूह भी अतीन्द्रिय होने के कारण अदृश्य है, इस तरह जैसे एक परमाणु अतीन्द्रिय होने के कारण प्रत्यक्ष विषय नहीं होता वैसे परमाणुपुञ्ज भी अतीन्द्रिय होने के कारण प्रत्यक्ष विषय नहीं होगा । ऐसी स्थिति में प्रायः प्रत्यक्षमात्र का अभाव हो जायगा, क्योंकि जब परमाणुपुञ्ज रूप होने के कारण द्रव्य का ही प्रत्यक्ष न होगा, तब तदाश्रित गुण,

न्यायात् । इत्थमुत्पन्नस्य रूपादिमतः कार्यद्रव्यस्य घटादेरवयवेषु कपालादिषु नोदनादभिघाताद्वा क्रिया जायते । तया विभागस्तेनावयवस्यारम्भकस्यासमवायिकारणीभूतस्य संयोगस्य नाशः क्रियते, ततः कार्यद्रव्यस्य घटादेरवयविनो नाशः । एतेनावयवस्यारम्भकासमवायिकारणनाशे द्रव्यनाशो दर्शितः । क्वचित् समवायिकारणनाशे द्रव्यनाशो, यथा पूर्वोक्तस्येव पृथिव्यादेः संहारे सञ्जिहीर्षामहेश्वरस्य सञ्जिहीर्षा जायते, ततो द्व्यणुकारम्भकेषु परमाणुषु क्रिया, तया विभागः ततस्तयोः संयोगनाशे

---

लयक्रममभिधत्ते—इत्थमिति । द्व्यणुकादिक्रमेणेत्यर्थः । नोदनादभिघातादिति—शब्दाजनकः संयोगो नोदनम् । यथा धनुर्ज्याशरसंयोगः, तेन शरकर्षणाख्यं कर्म जन्यते । एवं शब्दजनकः संयोगोऽभिघातः । यथा पातितस्य पक्षिण्कादेः पाषाणादौ संयोगः, तेनोत्पतनाख्यं कर्म जन्यते । संयोगस्य—कपालाद्यनेकावयवसंयोगस्य । संहारे इति—अत्र निमित्तार्थे सप्तमी । तयोः—द्व्यणुकारम्भकपर-

---

क्रिया आदियों का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । अतः उक्त रीति से उत्पन्न अवयवी की सत्ता माननी चाहिये अवयवी में होनेवाले रूपादि, अवयव में विद्यमान रूपादियों से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि—कारण में रहनेवाले गुण ही कार्य के गुणों को पैदा करते हैं, ऐसा नियम है । किन्तु यह बात परमाणु में पाक मानने वाले वैशेषिक के मत से तथा जहाँ पाक से रूपादि उत्पन्न नहीं होते उस स्थल के अभिप्राय से समझनी चाहिये, क्योंकि अवयवी में पाक मानने वाले नैयायिकों के मत से यह बात उपपन्न नहीं हो सकती । इस तरह पृथिवी जल आदि चारों महाभूतों की सृष्टि होने के बाद व्याप्त जलराशि के मध्य परमेश्वर की इच्छा से हिरण्यगर्भ उत्पन्न होते हैं, जिनसे समग्र प्राणियों की सृष्टि होती है ।

जिस भाव वस्तु की उत्पत्ति होती है उसका विनाश भी अवश्य होता है। अतः यह मानना होगा कि यदि इस संसार की सृष्टि हुई तो इसका विनाश भी कभी अवश्य होगा । उस विनाश का ही नाम प्रलय है । इसके दो भेद हैं, जैसे खण्ड प्रलय और महाप्रलय । इनमें-समस्त प्राणियों के अदृष्टों की स्तब्धता होने पर होनेवाले जन्य द्रव्यमात्र के विनाश को खण्ड प्रलय कहते हैं और समग्रजीवों की मुक्ति होने पर होने वाले समस्त जन्य भावों के विनाश को महाप्रलय कहते हैं । कहीं जन्य द्रव्य का नाश, समवायिकारण के नाश से होता है जैसे—द्व्यणुकादियों के नाश से त्र्यणुकादियों का नाश । एवं कहीं जन्यद्रव्य का नाश असमवायि कारण के नाश से होता है जैसे—परमेश्वर की सञ्जिहीर्षा से परमा-

सति द्व्यणुकेषु नष्टेषु स्वाश्रयनाशात् त्र्यणुकादिनाशः, एवं क्रमेण पृथिव्यादिनाशः। यथा वा तन्तूनां नाशे पटनाशः। तद्गतानां रूपादीनां स्वाश्रयनाशेनैव नाशः। अन्यत्र तु सत्येवाश्रये विरोधिगुणप्रादुर्भावेण विनाशः। यथा पाकेन घटादौ रूपादिनाश इति।

किं पुनः परमाणुसद्भावे प्रमाणम्? उच्यते। यदिदं जालसूर्य-

---

नाशः। तत्र दृष्टान्तान्तरमाह—यथा वेति। ननु द्रव्यनाशः कश्चित् समवायिकारणनाशात्, कश्चिच्चासमवायिकारणनाशादिति तम्प्रति तयोरेकरूपेण कारणत्वाभावाद् व्यतिरेकव्यभिचारेण तम्प्रति तयोः कारणत्वमेव न स्यादिति चेन्न, एकेनैव निमित्तकारणेतरकारणनाशत्वेन रूपेण तम्प्रति तयोः कारणत्वाभ्युपगमात्। अत्र—कश्चिन्निमित्तकारणनाशादपि कार्यनाशो भवति, यथा—अपेक्षाबुद्धिनाशाद् द्वित्वनाश इत्यपि बोध्यम्। तत्र रूपादिनाशप्रकारं कथयति—तद्गतानामिति। पटगतानामित्यर्थः। अन्यत्र—अवयविन्येव पाकेन पूर्वरूपादयो नश्यन्ति, तथा पररूपादयो जन्यन्ते इति नैयायिकमते। विनाश इति—विरोधिगुणस्येत्यादिः। रूपादीति—रक्तरूपादिजननेन श्यामेत्यादिः।

अथ त्रुटिप्रत्ययोपपादकपरमाणुसत्त्वे मानं पृच्छति—किं पुनरिति। नन्वित्यादिः। सिद्धान्ती समाधानदानाय प्रतिजानीते—उच्यते इति। वचनकर्म निर्दिशति—यदिदमिति। परमाणुसाधनं द्व्यणुकस्य साधनं विना नोपपद्यते, तस्य साधनञ्च त्र्यणुकस्य पक्षीकरणमन्तरा नोपपद्यते, तस्य पक्षीकरणञ्च (तस्य) प्रमाणसिद्धत्वमन्तरेण नोपपद्यते, अन्यथा तत्र हेतावाश्रयासिद्धिप्रसङ्गादिति विचिन्त्य प्रथमं त्र्यणुकस्य प्रत्यक्षसिद्धतामुपपादयन्, तस्य पक्षीकरणेन द्व्यणुकं प्रसाध्य

---

णुओं में क्रिया, उससे परमाणुद्वय का विभाग उससे परमाणुद्वय के संयोग का नाश और उससे द्व्यणुका नाश। गुण का नाश कहीं आश्रय के नाश से होता है, जैसे पटनाश से पट के रूप का नाश और कहीं विरोधी गुण के प्रादुर्भाव से होता है, जैसे—पाक से घट में रक्तरूप के प्रादुर्भाव से उसके श्यामरूप का नाश होता है। एवं कहीं निमित्त कारण के नाश से होता है, जैसे—अपेक्षा बुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश होता है।

किं पुनः—परमाणु की सत्ता में क्या प्रमाण है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि—खिड़की के अन्दर विद्यमान सूर्य किरणों के मध्य जो अत्यन्त छोटा दृष्टि

मरीचिस्थं सर्वतः सूक्ष्मतमं रज उपलभ्यते, तत् स्वल्पपरिमाणद्रव्यारब्धं कार्यद्रव्यत्वाद् घटवत् । तच्च द्रव्यं कार्यमेव महाद्रव्यारम्भकस्य कार्यत्वनियमात् । तदेवं द्व्यणुकाख्यं द्रव्यं सिद्धम् । तदपि स्वल्पपरिमाणसमवायिकारणारब्धं कार्यद्रव्यत्वाद् घटवत् । यस्तु द्व्यणुकारम्भकः स एव परमाणुः स चाऽनारब्ध एवेति ।

'ननु कार्यद्रव्यारम्भकस्य कार्यद्रव्यत्वाव्यभिचारात् तस्य कथमनारब्धत्वम्' ?

---

( तत् पक्षीकृत्य ) परमाणुं साधयतीत्याशयः । जालसूर्यमरीचिस्थम्—गवाक्षान्तर्गतजालान्तर्वर्त्तिसूर्यकिरणस्थितम् । रज इति—त्र्यणुकाख्यमित्यादिः । एवं प्रत्यक्षसिद्धं त्र्यणुकं पक्षीकृत्य द्व्यणुकं साधयति—तदिति—गगनादौ व्यभिचारवारणायाह—कार्येति । शब्दादौ व्यभिचारवारणायाह—द्रव्येति । एवमग्रेऽपि । नचात्र कार्यत्वासिद्धिः, त्र्यणुकं कार्यं चाक्षुषद्रव्यत्वाद् घटवदित्यनुमानेनात्र तत्सिद्धेः । नन्वस्तु त्र्यणुकारम्भके एव विश्रामोऽलं परमाणुकल्पनयेत्यत आह—तच्चेति । त्र्यणुकारम्भकेनेत्यर्थः । तथा च—द्व्यणुकं कार्यं महदारम्भकत्वात् कपालवदिति फलति । त्र्यणुकस्य महत्त्वं तु चाक्षुषद्रव्यत्वादेव सिद्ध्यति । यदि जन्ये विश्रामः स्यात्तर्हि असमवेतभावकार्योत्पत्तिः प्रसज्येतेति भावः । प्रकृतमुपसंहरति—तदेवमिति । ततः परमाणुं साधयति—तदपीति । द्व्यणुकमपीत्यर्थः । नन्वेतेन द्व्यणुकारम्भकं किञ्चन द्रव्यं सिद्ध्यति, न तु परमाणुरित्यत आह—यस्त्विति । अत्राणुपरिमाणतारतम्यस्य विश्रान्तत्वात्, परमाणुत्वमित्याशयः । ननु तस्य कथं नित्यत्वमित्यत आह—स चेति । तथा च—परमाणुर्नित्योऽनारब्धत्वाद् गगनवदिति फलति ।

तत्र स्वरूपासिद्धिं शङ्कते—नन्विति । आरम्भकस्य—आरम्भकत्वस्य । एवञ्च—परमाणुः कार्यद्रव्यम् कार्यद्रव्यारम्भकत्वात् कपालवदिति पर्यवस्यति । तस्य—परमाणोः ।

---

कण ( त्र्यणुक ) दीखता है, वह जन्यद्रव्य होने के कारण सावयव है । इस तरह सिद्ध हुआ कि उसका अवयव (द्व्यणुक) भी जन्य द्रव्य होने के कारण सावयव है । इस प्रकार जो उसका अवयव सिद्ध हुआ, वही परमाणु है, और वह निरवयव है, क्योंकि यदि उसे भी सावयव माना जायगा तो 'तुल्ययुक्त्या उसके अवयव भी सावयव होंगे,' इस तरह अनन्त अवयवावयविधारा चल पड़ेगी, तब राई और

उच्यते, अनन्तकार्यपरम्परादोषप्रसङ्गात । तथा च सति, अनन्तद्रव्यारब्धत्वाविशेषेण मेरुसर्षपयोरपि तुल्यपरिमाणत्वप्रसङ्गः । तस्मादनारब्ध एव परमाणुः । द्व्यणुकं तु द्वाभ्यामेव परमाणुभ्यामारभ्यते

---

ता निराकर्तुं प्रक्रमते—उच्यते इति । कथनक्रमं निर्दिशति—अनन्तकार्येति । अनन्तावयवेत्यर्थः । एवं सतीत्यादिः । ननु तथा सति को दोष इत्यत आह—तथा चेति । ननु यावद्विभक्तुं शक्यते तावद्विभागे कृते यदि सर्षपस्य पञ्च भागा भवन्ति, तदा मेरोः कोटिभागाः भवन्तीति सर्षपे पञ्चभागानामविश्रान्तावयवधारा, तथा मेरौ कोटिभागाना इति सर्षपस्याल्पपरिमाणता, एवं मेरोस्ततो महत्परिमाणता दुर्निवारेति तयोरनन्तावयवारब्धत्वेन तुल्यपरिमाणत्वप्रसङ्गोक्तिर्न युक्तेति चेन्न, तस्य पञ्चभागेषु य एको भागस्तमेवाधिकृत्य भागचिन्तायाम् ( तस्य द्वाववयवौ, तयोर्द्वयोरेकैकस्य द्वौ द्वाविति चत्वारः, चतुर्णां द्वौ द्वावित्यष्टावेवमुपर्युपरिभागचिन्तायाम् ) तत्रैकैकस्य यत्किञ्चिद्देशचिन्तायामिदं जगत तदवयवावयवधाराभिर्व्याप्तमिवावगम्यते इति तादृशपञ्चावयवकसर्षपस्य यत्परमं महत्त्वं प्राप्यते, तादृशकोट्यवयवकमेरोरपि ततोऽतिशयितं महत्त्वं न सम्भाव्यते इति तदुक्तेः सामञ्जस्यात् । प्रकृतमुपसंहरति—तस्मादिति । तथा चोक्तानुमानस्योक्तानवस्थाप्रसङ्गात्मकप्रतिकूलतर्कपराहतत्वात्, परमाणुर्नित्योऽनवयवद्रव्यत्वाद् गगनवदित्यनुमानाच्च तस्य नित्यता सिद्ध्यतीत्याशयः । नन्वेवं परमाणौ सिद्धे तस्यानन्तत्वात् कथं द्वाभ्यामेव

---

पर्वत के परिमाण में भेद होना कठिन हो जायगा, क्योंकि दोनों अनन्तावयव होंगे और परमाणु को निरवयव मानने पर यह दोष नहीं होता, क्योंकि निरवयव परमाणुओं की संख्या का तारतम्य दोनों के परिमाणों का भेदक हो जाता है, अर्थात् जितने परमाणुओं से राई बनी है, उनसे कहीं अधिक परमाणुओं से पर्वत बना है, अतः दोनों के परिमाण भिन्न होते हैं। एवं निरवयव होने के कारण ही परमाणु नित्य है। आधुनिक वैज्ञानिक—जिस तोडने योग्य को भी परमाणु कहते है, वह वस्तुतः परमाणु नहीं है, क्योंकि निरवयव पदार्थ तोड़ा नहीं जा सकता, अतः उसे पारिभाषिक परमाणु ही समझना चाहिये। शास्त्रकार जिसे परमाणु कहते हैं उसे परमाणु कहने में युक्ति यह है कि जैसे महत्त्व परिमाण का तारतम्य आकाश आदि में विश्रान्त होता है, वैसे अणुत्व परिमाण का तारतम्य, परमाणु में विश्रान्त होता है। उन दो ही परमाणुओं से द्व्यणुक बनता है, क्योंकि वह एक परमाणु से बन नहीं सकता और तीन या चार परमाणुओं से बनेगा इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

एकस्यानारम्भकत्वात् द्व्यादिकल्पनायां प्रमाणाभावात्। त्र्यणुकं तु त्रिभिरेव द्व्यणुकैरारभ्यते एकस्यानारम्भकत्वात्। द्वाभ्यामारम्भे कार्यगुणमहत्त्वानुपपत्तिप्रसङ्गात्। कार्ये हि महत्त्वं कारणमहत्त्वाद्वा कारणबहुत्वाद्वा। तत्र प्रथमस्यासम्भवाच्चरममेपितव्यम्। न च चतुरादिकल्पनायां प्रमाणमस्ति त्रिभिरेव महत्त्वारम्भोपपत्तेरिति।

शब्दगुणमाकाशम्। शब्द–संख्या–परिमाण–पृथक्त्व–संयोग–

---

परमाणुभ्यां द्व्यणुकमुत्पद्यते इत्यत आह—द्व्यणुकन्त्विति। एकपरमाणोर्द्व्यणुकारम्भकत्वे–सततं द्व्यणुकमुत्पद्येत, स्वारम्भकस्य नित्यत्वात्, तदुत्पत्तौ तेनापेक्षणीयान्तरस्याभावाच्च। तथा द्व्यणुकस्य नित्यत्वमपि प्रसज्येत तत्र द्रव्यनाशकारणस्य अवयवनाशाश्रयसंयोगनाशान्यतरस्यासत्वादत आह—एकस्येति। असमवायिकारणसहकारालाभेनेति शेषः। द्व्यादीति—तथा प्रकृते इत्यादिः। आरम्भेति शेषः। एवं द्व्यणुकस्यारम्भकनियमं प्रसाध्य त्र्यणुकस्य तं साधयति—त्र्यणुकन्त्विति। ननु द्वाभ्यामेव द्व्यणुकाभ्यां त्र्यणुकमुत्पद्यतामित्यत आह—द्वाभ्यामिति। द्व्यणुकाभ्यां त्र्यणुकस्येति शेषः। कुत इत्यत आह—कार्य इति। हि—यतः। तत्रेति—त्र्यणुके इत्यर्थः। तथा चेत्यादिः। महत्त्वोपपत्तये इति शेषः। प्रथमस्य—कारणमहत्त्वस्य। चरमम्—कारणबहुत्वम्। ननु यदि तत्र प्रयोजकं कारणबहुत्वम्, तर्हि चतुर्भिः पञ्चभिर्वा द्व्यणुकैः त्र्यणुकमारभ्यतामित्यत आह—न चेति। प्रकृते इति शेषः। चतुरादीति—आरम्भकेति शेषः। कुत इत्यत आह—त्रिभिरेवेति। आरम्भकैस्तत्रेति शेषः।

अथ क्रमप्राप्तमाकाशं लक्षयति—शब्दगुणमिति। तस्य द्रव्यत्वसाधनाय गुणानाह—शब्दस्येति। अत्र परिमाणपदेन परममहत्परिमाणं विवक्षितम्।

---

एवं तीन ही द्व्यणुकों से त्र्यणुक बनता है, क्योंकि वह भी एक से बन नहीं सकता, और यदि दो से बनेगा तो उसमें महत्त्व नहीं पैदा हो सकेगा, क्योंकि कारण के महत्त्व या बहुत्व से ही कार्य में महत्त्व पैदा होता है, और प्रकृत में कारण की महत्ता के अभाव में उनकी बहुता से ही महत्त्व की उत्पत्ति होती है। तथा चार या पांच द्व्यणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति मानने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि तीन से ही उसकी उत्पत्ति मानने पर भी उसमें महत्त्व की उपपत्ति हो जाती है।

शब्दगुणम्—जिसमें शब्द गुण हो वह आकाश है। वह आकाश शब्द, संख्या,

विभागवत् । एकं विभु, नित्यं च । शब्दलिङ्गकं च ।

शब्दलिङ्गकत्वमस्य कथम् ?

परिशेषात् । प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गात् परिशिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः । तथाहि शब्दस्तावद् विशेषगुणः, सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वाद् रूपादिवत् । गुणश्च गुण्याश्रित एव । न

---

एकमित्यादिः—ग्रन्थकृतैवाग्रे उपपादयिष्यते । तस्येन्द्रियग्राह्यत्वाभावादाह—शब्दलिङ्गकमिति ।

पृच्छति—शब्दलिङ्गकत्वमिति । नन्वित्यादि । अस्य—आकाशस्य ।

समाधत्ते—परिशेषादिति । ननु परिशेषपदार्थः क इत्यत आह—प्रसक्तेति । पृथिव्यादौ प्रसक्तस्य शब्दगुणकत्वस्य प्रतिषेधे अन्यत्र-गुणादौ, तस्याप्रसङ्गात् परिशिष्यमाणे-आकाशे, तस्य सम्प्रत्ययो बोधः परिशेष इति प्रकृतेऽर्थः । परिशेषमुपपादयितु प्रथमं शब्दस्य गुणत्वं साधयति—तथाहीति । अत्र ग्राह्यत्वादित्युक्तेऽनुमानग्राह्ये परमाण्वादौ व्यभिचारः स्यादित्यत आह—इन्द्रियेति । तथापि घटादौ व्यभिचारः प्रसज्येतेत्यत आह—एकेति । तावतापि आन्तरेन्द्रियग्राह्ये आत्मनि व्यभिचार आपद्येतेत्यत आह—बाह्येति । अथापि योगिबाह्यैकेन्द्रियग्राह्ये परमाण्वादौ व्यभिचारः स्यादित्यत आह—अस्मदादीति । एवमपि रूपत्वादौ व्यभिचारः प्रसज्येतेत्यत आह—सामान्यवत्त्वे सतीति । इत्यमपि प्रभाया व्यभिचार आपद्येतेत्यतोऽत्र तद्भिन्नत्वे सतीति निवेश्यम् । एतन्तत्र गुणत्वसाधनस्य फलमाह—गुणश्चेति । तथा च शब्दो द्रव्याश्रितः गुणत्वात् संयोगा-

---

परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग नामक गुणों से युक्त है, तथा सर्वत्र समान ही होने के कारण और सर्वत्र उसके कार्य शब्द गुण की उत्पत्ति के भी समान भाव से ही होने के कारण एक ही है, तथा उसको अनेक मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है । इस तरह उसके एक होने के कारण ही आकाशत्व जाति नहीं है, क्योंकि जाति होने के लिये अनेक में वृत्ति होना अनिवार्य है। एवं सब जगह उसके कार्य की उपलब्धि होने के कारण वह व्यापक है, तथा व्यापक होने के कारण आत्मा के समान नित्य है । नीरूप होने के कारण आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु शब्द के आश्रय रूप से उसका अनुमान होता है, क्योंकि—शब्द रूपादि के समान जाति वाला तथा अस्मदादिबाह्य-एकेन्द्रिय मात्र से ग्राह्य होने के कारण विशेष गुण है, और गुण किसी द्रव्य में आश्रित होता ही है, किन्तु शब्द पृथिवी आदि चारों भूत

चास्य पृथिव्यादिचतुष्टयमात्मा च गुणी भवितुमर्हति श्रोत्रग्राह्यत्वाच्छब्दस्य । ये हि पृथिव्यादीनां गुणा न ते श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यन्ते यथा रूपादयः, शब्दस्तु श्रोत्रेण गृह्यते ऽतो न तेषां गुणः । न च दिक्कालमनसां गुणः विशेषगुणत्वात् । अत एभ्योऽष्टभ्योऽतिरिक्तः शब्दगुणी एषितव्यः । स एवाकाश इति । स चैको भेदे प्रमाणाभावादेकत्वेनैवोपपत्तेः । एकत्वाच्चाकाशत्वं नाम सामान्यमाकाशे न विद्यते, सामान्यस्यानेकवृत्तित्वात् । विभु चाकाशम् । परममहत्परिमाणवदित्यर्थः ।

---

दिवदिति फलति । नन्वेवं सति पृथिव्यादावेव शब्दगुणकत्वमस्त्वित्यत आह—न चेति । अस्य—शब्दगुणस्य । अत्र—शब्दो न पृथिव्यादिपञ्चकगुणः श्रोत्रग्राह्यत्वादित्यनुमानप्रयोगः । तत्र व्यतिरेकव्याप्तिप्रदर्शनपूर्वकं दृष्टान्तमाह—ये हीति । हेतोः पक्षवृत्तित्वमाह—शब्दस्त्विति । नन्वेवमपि दिगादावेव शब्दगुणकत्वमस्त्वित्यत आह—नेति । तथा शब्द इत्यादि । विशेषगुणत्वादिति—रूपादिवदिति शेषः । प्रकृतमुपसंहरति—अत इति । अत्र-शब्दः पृथिव्याद्यष्टव्यतिरिक्तद्रव्याश्रितः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति द्रव्याश्रितत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा रूपत्वादीत्यनुमानं बोध्यम् । नन्वेतेन पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तं किञ्चन नवमं द्रव्यं सिद्ध्यति, न त्वाकाशमित्यत आह—स एवेति । प्रागुक्तम् ( आकाशम् ) एकमित्याद्यधुना सोपपत्तिकमुपपादयति—स चेति । एकत्वेनेति—तस्येत्यादि । तन्नैकत्वसाधनस्य फलमाह—एकत्वाच्चेति । आकाशस्येत्यादिः । कुत इत्यत आह—सामान्येति । विभुपदार्थमाह—परममहदिति । अस्मात् भावप्रधाननिर्देशात् परमं महत्त्वं परिमाणमस्य स तथोक्त इति तदर्थः । तेनात्र 'आन्महत'

---

तथा आत्मा में आश्रित नहीं हो सकता, क्योंकि वह कान से सुना जाता है और पृथ्वी आदि चारों भूत तथा आत्मा के गुण कान से नहीं सुने जाते जैसे रूपादि, एव वह दिशा, काल और मन में भी आश्रित नहीं हो सकता, क्योंकि वह विशेष गुण है और दिशा आदि के गुण, विशेष गुण नहीं होते जैसे संख्यादि, ऐसी स्थिति में यही मानना होगा कि—पृथिवी आदि आठों द्रव्यों से अतिरिक्त जो द्रव्य, शब्द गुण का आश्रय है, वही आकाश है। कुछ लोग कहते हैं कि—दृढ आवरक द्रव्य का अभाव ही आकाश है, अतः अभाव नामक सातवें पदार्थ में ही उसका अन्तर्भाव हो जाने के कारण उसे पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त एक नवमाँ द्रव्य

सर्वत्र तत्कार्योपलब्धेः। अत एव विभुत्वान्नित्यमिति।

कालोऽपि दिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेयः। संख्या-परिमाण पृथक्त्व-संयोग-विभागवान्। एको नित्यो विभुश्च।

कथमस्य दिग्विपरीतपरत्वाऽपरत्वानुमेयत्वम्? उच्यते। सन्नि-

---

इत्यनेनात्वं न भवति। तत्र विभुत्वसाधकं हेतुमाह—सर्वत्रेति। नित्यमिति—तदित्यादि।

अथ कालं निरूपयति—कालोऽपीति। विभुत्वे सति दिगसमवेतपरत्वापरत्वासमवायिकारणसंयोगाश्रयत्वं कालस्य लक्षणम्। तस्येन्द्रियग्राह्यत्वाभावादाह—दिगिति। दिक्कृतपरत्वापरत्वेत्यर्थः। परत्वापरत्वे द्विविधे, दिक्कृते कालकृते च। तत्र दिक्कृते ते दूरत्वसमीपत्वरूपे सूर्यक्रियाऽनुत्पाद्ये, ततो विपरीते सूर्यक्रियोत्पाद्ये ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वरूपे परत्वापरत्वे कालकृते, ताभ्यामनुमेय इति समुदितार्थः। तस्य द्रव्यत्वसिद्धये गुणानाह—संख्येति। अत्रापि परिमाणपदेन परममहत्परिमाणं बोध्यम्। एवमग्रेऽपि। कालस्य भेदे प्रमाणाभावात्तस्यैकत्वेनैवोपपत्तेश्चाह—एक इति। तथा च-कालत्वं न जातिः एकवृत्तित्वादिति पर्यवस्यति। नित्य इत्यादि—ग्रन्थकृतवाग्रे उपपादयिष्यते। पृच्छति—कथमिति। अस्य-कालस्य। समाधातुं प्रतिजानीते—उच्यते इति। वचनकर्म निर्दिशति—सन्नि-

---

मानना अनुचित है। किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि—'आकाश में विमान उड़ रहा है' ऐसी प्रतीति होती है, किन्तु 'अभाव मे विमान उड रहा है' ऐसी प्रतीति नहीं होती। अतः यह मानना होगा कि—दृढ़ प्रतिघाती द्रव्य का अभाव ही आकाश नहीं है किन्तु तादृश अभाव का आश्रय आकाश है।

कालोऽपि—जिसके सहारे 'यह कार्य हो गया' 'यह कार्य हो रहा है' और 'यह कार्य होगा' इत्यादि रीति से किसी भी वस्तु में भूतता, वर्त्तमानता तथा भाविता के ज्ञान और व्यवहार होते हैं, वही काल है। उसकी कल्पना इस तरह होती है कि—'अभी यह पट है' इस वाक्य के 'अभी' का अर्थ है—'सूर्य के इस चलन से युक्त'। किन्तु दूरस्थ-सूर्य गत चलन का दूरस्थ-पट के साथ तब तक सम्बन्ध नहीं हो सकता, जब तक कि बीच में स्थायी काल की कल्पना करके स्वाश्रयसूर्यसंयोगिसंयोग सम्बन्ध से सूर्य गत चलन को पट गत न किया जाय। अतः मानना होगा कि—वहाँ संयोगि पद से ग्राह्य एक काल नामक भी स्वतन्त्र द्रव्य है। यहाँ

हिते वृद्धे सन्निधानादपरत्वार्हे तद्विपरीतं परत्वं प्रतीयते । व्यवहिते यूनि व्यवधानात् परत्वार्हे तद्विपरीतमपरत्वम् । तदिदं तत्तद्विपरीतपरत्वमपरत्वं च कार्यं तत्कारणस्य दिगादेरसम्भवात् कालमेव कारण-

हिते इति । एकस्या दिश्यवस्थितयो वृद्धयूनोरित्यादि । सन्निधानात्—द्रष्टृसंयुक्त (दिक्) संयोगाल्पत्वात् । अपरत्वार्हे इति-समीपत्वप्रतीतियोग्ये इत्यर्थः । दैशिकेत्यादि । तद्विपरीतम्—दिक्कृतापरत्वविपरीतम् । परत्वमिति—ज्येष्ठत्वमित्यर्थ । सूर्यक्रियाभूयस्त्वादिति भाव । व्यवहिते इति—तयोरगादि । व्यवधानात्—द्रष्टृसंयुक्त( दिक् )संयोगभूयस्त्वात् । परत्वार्हे इति—दूरत्वप्रतीतियोग्ये इत्यर्थ. । दिक्कृतेत्यादि । तद्विपरीतम्—दैशिकपरत्वविपरीतम् । अपरत्वमिति—कनिष्ठत्वमित्यर्थ । तपनपरिस्पन्दाल्पत्वादित्याशयः । एकस्यां दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोः सन्निकृष्टे विप्रकृष्टापेक्षया दैशिकमपरत्वमुत्पद्यते, तथा व्यवहिते सन्निहितापेक्षया दिक्कृतं परत्वम् । तत्र पिण्डः समवायिकारणम् । तथा दिक्पिण्डसंयोगोऽसमवायिकारणम् । एवम् अयमस्मात सन्निकृष्ट विप्रकृष्टो वेत्यपेक्षाबुद्धिर्निमित्तकारणम् ॥ एवम्–वृद्धयूनो' वृद्धे युवापेक्षया कालकृतं परत्वमुत्पद्यते, तथा यूनि वृद्धापेक्षया कालिकमपरत्वम् । तत्र–वृद्धादि' समवायिकारणम् । एवम् कालवृद्धादिसंयोगोऽसमवायिकारणम् । तथा अयमस्माद्बहुतरसूर्यक्रियान्तरितजन्मा, अल्पतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मा वेत्यपेक्षाबुद्धिर्निमित्तकारणम् ॥ केचित्तु दैशिकपरत्वापरत्वोत्पत्तावेवापेक्षाबुद्धे' कारणत्वं मन्यन्ते, न तु कालिकपरत्वापरत्वोत्पत्ती ॥ नन्वेतेन प्रकृते किमायातमित्यत आह–तदिदमिति । तत्तद्विपरीतम्—दैशिकपरत्वापरत्वविपरीतम् । पृथिव्यादेरव्यापकत्वादेव सूर्यक्रियोपनायकता न सम्भवतीत्याशयेनाह—दिगादेरिति । दिश· संयोगमात्रोपनायकत्वेन सिद्धत्वात् तपनपरिस्पन्दोपनायकता न सम्भवति । न च सम्भवति सा आत्माकाशयोः,

यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि—वहाँ संयोगि पद से आकाश, आत्मा आदि को लेकर निर्वाह हो जायगा, क्योंकि—यदि प्रकारान्तर से सिद्ध आकाश, आत्मा आदि दूरस्थ वस्तुगत चीज को दूरस्थ वस्तुगत कर सकेगा, तो दूरस्थ-जपा कुसुमगत अरुणिमा भी दूरस्थ-स्फटिक गत हो जायगी। यदि वहाँ संयोगि पद से ग्रहण करने के लिये एक काल नामक स्वतन्त्र द्रव्य को मानते हैं, तो यह दोष नहीं होता, क्योंकि—काल तो सिर्फ सूर्य गत चलन को वस्त्वन्तर गत करने के लिये सिद्ध हुआ है । वह काल-संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग नामक गुणों से

मनुमापयति । स चैकोऽपि वर्तमानाऽतीतभविष्यत्क्रियोपाधिवशाद् वर्तमानादिव्यपदेशं लभते, पुरुष इव पच्यादिक्रियोपाधिवशात् पाचकपाठकादिव्यपदेशम् । नित्यत्वविभुत्वे चाऽस्य पूर्ववत् ।

---

तयोः परत्वमोत्पत्यदकत्वे देशान्तरस्थकुङ्कुमरागेण देशान्तरस्थस्फटिकादेरुपरञ्जनमत्र-ज्ञादिति भाव. । दिक्कृतपरत्वापरत्वविपरीतपरत्वापरत्वे सकारणके कार्यत्वाद् घटादिवदित्यनुमानमभिप्रेत्याह—**अनुमापयतीति** । केचित्तु—तादृशपरत्वादिजनकं बहुतरादित्यक्रियाविशिष्टशरीरज्ञानम् , परम्परासम्बन्धसापेक्षम् , साक्षात्सम्बन्धाभावे सति विशिष्टज्ञानत्वात् , लोहितः स्फटिक इति प्रत्यक्षवत् , इत्यनुमानम् , तत्र परम्परासम्बन्धः स्वसमवायिसंयुक्तसंयोगः, तद्घटकतया कालः सिद्ध्यतीति वदन्ति । ननु कालस्यैकत्वे तत्रायं वर्त्तमानकालोऽयमतीतकालोऽयञ्च भविष्यत्काल इति भेदव्यवहारः कथमुपपद्येतेत्यत आह—**स चैकोऽपीति** । नष्टप्रागभावा अनुत्पन्नध्वंसा च क्रिया वर्त्तमाना, तदुपलक्षितः कालोऽपि वर्त्तमानः । एवं विद्यमानध्वंसप्रतियोगिनी क्रियाऽतीता, तदुपलक्षित कालोऽप्यतीतः । तथा विद्यमानप्रागभावप्रतियोगिनी क्रिया भविष्यन्ती, तदुपलक्षितः कालोऽपि भविष्यन्नित्यभिप्रायेणाह—**वर्त्तमानेति** । पुरुषः—एक एव पुरुष. । यथा एक एव पुरुषः पचनक्रियायोगात् पाचक इति, एवं पठनक्रियायोगात् पाठक इति व्यपदिश्यते तथेति भावः । प्रागुक्तं नित्य इत्यादि सम्प्रत्युपपादयति—**नित्यत्वेति** । **अस्य**—कालस्य । **पूर्ववदिति**—अस्य सर्वत्रोपलभ्यमानकार्यत्वात् सर्वमूर्त्तसंयोगित्वरूपं

---

युक्त है और सर्वत्र समान रूप से व्यवहरणीय होने के कारण एक तथा व्यापक है और व्यापक होने के कारण नित्य है। जैसे आकाश के एक होने पर भी वह घट, मठ आदि उपाधियों से परिच्छिन्न होने के कारण घटाकाश, मठाकाश आदि शब्दों से सीमित तथा अनेक रूप में व्यवहृत होता है, वैसे काल के एक होने पर भी वह क्रिया आदि उपाधियों से परिच्छिन्न होने के कारण क्षण, पल, दण्ड, दिन, रात्रि, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु और वर्ष आदि शब्दों से सीमित तथा अनेक रूप में व्यवहृत होता है। जितने समय में क्रिया की उत्पत्ति होती है, उतने समय को क्षण, क्षण समूह को पल, पल समुदाय को दण्ड, सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक के समय को दिन, सूर्यास्त से लेकर सूर्योदय तक के काल को रात्रि, सम्मिलित दिन रात्रि को अहोरात्र, पन्द्रह अहोरात्रों को पक्ष, पक्ष-द्वयको मास, मास द्वयको ऋतु और छः ऋतुओं को वर्ष कहते हैं। एवं किसी व्यक्ति से किसी व्यक्ति की

कालविपरीतपरत्वापरत्वानुमेया दिग् एका नित्या विभ्वी च । संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-गुणवती । पूर्वादिप्रत्ययैरनुमेया । तेषामन्यनिमित्तासम्भवात् पूर्वस्मिन् पश्चिमे वा देशे

---

विभुत्वम् , विभुत्वाच्चानाशत्वेन प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वरूपं नित्यत्वमित्यर्थः ॥

अथ दिशं निरूपयति—**कालविपरीतेति** । कालिकपरत्वापरत्वविपरीतेत्यर्थः। अस्योपपादनसरणिः पूर्ववदवगन्तव्या । विभुत्वे सति कालासमवेतपरत्वापरत्वासमवायिकारणसंयोगाश्रयो दिक् , सा नाकाशादिवदेकत्वनित्यत्वादियुतेत्याशयेनाह—**दिगेकेति** । तस्या द्रव्यत्वसिद्धये गुणानाह—**संख्येति** । तयेत्यादिः । दार्ढ्यायाह—**पूर्वादीति** । अथवा-नन्वत्र किम्प्रमाणमित्यत आह—**पूर्वादीति** । एवमित्यादिः । इदमस्मात्पूर्वमिदमस्मादपरमित्यादिप्रत्ययाः सनिमित्ताः कार्यत्वाद् घटादिवदित्यनुमानेन सा साध्येत्याशयः । नन्वेतेन तेषां किञ्चित् कारणं सिद्ध्यति, न तु दिगित्यत आह—**तेषामिति** । पूर्वादिप्रत्ययानामित्यर्थः । तेषां प्रथमचरमादित्यसंयोगो निमित्तम् , तथा तदुपनायकता व्यापिकाया दिश एव सम्भवति, न तु पृथिव्यादीनाम् , तेषामव्यापकत्वात् ; न च कालस्य, तस्य सूर्यकर्ममात्रोपनायक-

---

अपेक्षा जिसके-अधिक संयोग से ज्येष्ठत्व तथा अल्प संयोग से कनिष्ठत्व का व्यवहार होता है वह काल है ।

कालविपरीत—किसी मूर्त्त वस्तु में किसी मूर्त्त वस्तु की अपेक्षा जिसके सहारे अधिक परिच्छिन्न वस्तु के व्यवधान से दूरता तथा अल्प परिच्छिन्न वस्तु के व्यवधान से समीपता की प्रतीति होती है, वह दिक् नामक एक स्वतन्त्र द्रव्य है अर्थात् जिसके सहारे किसी परिच्छिन्न वस्तु के लिये 'यह पूर्व दिशा में है' इत्यादि व्यवहार होते हैं, वही दिक् है । सारांश यह है कि कोई परिच्छिन्न द्रव्य किसी मूर्त्त वस्तु की अपेक्षा जिसके सहारे प्रथम सूर्यसंयोग को प्राप्त कर पूर्वत्व का तथा चरम सूर्यसंयोग को प्राप्त कर पश्चिमत्व का आश्रय होता है, वह दिक् है और वह सर्वत्र समान रूप से प्रतीत होने के कारण एक तथा व्यापक है । एवं व्यापक होने के कारण नित्य है तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग नामक गुणों से युक्त है । इसे आकाश नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें शब्द गुण नहीं है । एवं काल भी नहीं कह सकते, क्योंकि कालकृत ज्येष्ठता या कनिष्ठता नियत होती है, अर्थात् जो जिससे ज्येष्ठ या कनिष्ठ है वह उससे सदा ज्येष्ठ या कनिष्ठ ही रहेगा,

स्थितस्य वस्तुनस्तादवस्थ्यात् । सा चैकाऽपि सवितुस्तत्तद्देशसंयोगोपाधिवशात् प्राच्यादिसंज्ञां लभते ।

आत्मत्वाभिसम्बन्धवान् आत्मा । सुखदुःखादिवैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः । न चैक एव । तस्य सामान्यगुणाः संख्यादयः पञ्च,

---

त्वेन सिद्धत्वात् ; न चाकाशात्मनोः, तयो० परधर्मोपनायकत्वे काश्मीरस्थजपाकुसुमरागेण मिथिलास्थस्फटिकादेरुपरञ्जनप्रसङ्गादित्याशयः । ननु यस्मिन् विषये तादृशः प्रत्यय, स एव तस्य निमित्तमस्तु, किं दिक्कल्पनयेत्यत आह—पूर्वस्मिन्निति । एकत्रैव वस्तुनि कस्यचिदिदमस्मात्पूर्वमिति प्रत्ययः, कस्यचिच्च इदमस्मादपरमिति प्रत्ययः, अतो विभिन्नतत्तत्प्रत्ययोपपादनाय किञ्चनासाधारणं निमित्तं गवेषणीयम्, अतो वस्तु सर्वसाधारण्यात्तस्य निमित्तं न सम्भवतीति भावः । ननु दिगपि त्वेकैव, तर्हि कथमसाधारणतत्तत्प्रत्ययोपपत्तिरित्यत आह—सा चैकापीति । प्राच्यादिसंज्ञाम्—पूर्वः प्रथममस्यामञ्चतीति प्राची, प्रत्यञ्चतीति प्रतीची, उदञ्चतीत्युदीची, अवाञ्चतीत्यवाचीत्याद्यन्वर्थसंज्ञाम् ॥

अथ निरूपितमप्यात्मानं प्रसङ्गात्पुनः निरूपयति—आत्मत्वेति । आत्मत्वं ( जाति० ) तेन अभिमतः सम्बन्धः समवायस्तद्वानात्मेत्यर्थः । नन्वाकाशादिवदात्मनोऽप्येकत्वादात्मत्वं जातिरेव न, तर्हि कथं तादृशन्तस्य लक्षणमित्यत आह—सुखदुःखादीति । आत्मैकत्वे कश्चित्संसरति कश्चिच्च मुक्त इति व्यवस्था नोपपद्ये-

---

किन्तु दिक्कृत दूरता या समीपता अनियत होती है अर्थात् जो जिससे दूर या समीप है वही स्थानान्तरित होने से उससे समीप या दूर भी हो सकता है । तथा इसे आत्मा भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें ज्ञान, इच्छा आदि गुण नहीं हैं । जैसे काल के एक होनेपर भी उसके औपाधिक अनेक भेद होते हैं, वैसे दिशा के एक होनेपर भी उसके औपाधिक दस भेद होते हैं । यथा–पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशानकोण, वायव्यकोण, नैर्ऋत्यकोण, आग्नेयकोण, ऊर्ध्व और अधः । सूर्योदय काल में सूर्य की ओर मुख कर खड़ा होनेवाले मनुष्य के सामने होनेवाली दिशा पूर्व होती है, पीठ की ओर होनेवाली दिशा पश्चिम होती है, दाहिने हाथ की ओर होनेवाली दिशा दक्षिण होती है और बाँयें हाथ की ओर होनेवाली दिशा उत्तर होती है ।

आत्मत्व—आत्मत्व जातिवाली आत्मा है । उसमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग नामक पाँच सामान्य गुण हैं, और ज्ञान, इच्छा, द्वेष प्रयत्न,

बुद्ध्यादयो नव विशेषगुणाः। नित्यत्वविभुत्वे पूर्ववत्।

मनस्त्वाभिसंबन्धवत् मनः। अणु, आत्मसंयोगि, अन्तरिन्द्रियम्। सुखाद्युपलब्धिकरणं, नित्यं च संख्याद्यष्टगुणवत्। तत्संयोगेन

---

तेति तद्भेद आवश्यकः। ननु यथा शरीरैकत्वेऽपि पादे सुखं शिरसि च वेदनेति प्रतीतिः, तथाऽऽत्मैकत्वेऽपि देवदत्तः संसरति यज्ञदत्तश्च मुक्त इति व्यवस्थोपपद्येतेति चेन्न, तथा सति योऽहं पादसुखेन सुखी, स एवाहं शिरोवेदनया दुःखीति प्रतिसन्धानवत्; यो देवदत्तः संसरति, सोऽहं यज्ञदत्तो मुक्त इति प्रतिसन्धानापत्तेः। एवं क्षित्यादिः सकर्तृकः कार्यत्वाद् घटादिवदित्यनुमानेन क्षित्यादौ सकर्तृकत्वे सिद्धे तत्कर्तृत्वस्य तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वरूपस्यास्मदादिष्वसम्भवात्तत्कर्तृत्वेनेश्वरः सिद्ध्यति, तथा तत्र 'द्यावाभूमी जनयन्देव एकः' इत्यादयः श्रुतयोऽपि मानम्। तत्र च संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागबुद्धीच्छाप्रयत्ना गुणा इति बोध्यम्। आत्मा विशेषेण पूर्वमेव निरूपित इत्याशयेनाह—स चोक्त इति। आत्मनो द्रव्यत्वसिद्ध्यै गुणानाह—तस्येति। बुद्ध्यादय इति—तथेत्यादिः। अत्र संस्कारः भावनाख्यो बोध्यः। पूर्ववदिति—आत्मनः सर्वत्रोपलभ्यमानकार्यत्वाद्विभुत्वम्, तस्माच्चाकाशादेरिव नित्यत्वमित्यर्थः। च तस्येत्यादि'।

अथ प्रसङ्गान्निरूपितमपि मनः पुनर्निरूपयति—मनस्त्वेति। मनस्त्वं (सामान्यं) तेनाभिमतः सम्बन्धः समवायस्तद्वन्मन इत्यर्थः। तस्योक्तरीत्या मध्यमपरिमाणत्वं महत्परिमाणत्वञ्च न सम्भवतीत्याशयेनाह—अण्विति। अणुपरिमाणमित्यर्थः। तदनवयवद्रव्यत्वादाकाशादिवन्नित्यमित्यभिप्रेत्याह—नित्यमिति। तस्य द्रव्यत्वसाधनाय गुणानाह—संख्याद्येति। संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोग-

---

सुख, दुःख, धर्म, अधर्म और संस्कार नामक नव विशेष गुण हैं। आत्मा की प्रतिशरीर भिन्नता, नित्यता और व्यापकता आदियों के सम्बन्ध में पूर्वोक्त रीति ही समझनी चाहिये। मनस्त्व-मनस्त्व जाति का जो आश्रय वह मन है। वह मन अणुत्वपरिमाणवाला है; क्योंकि यदि उसे विभु माना जायगा, तो एक क्षण में ही अनेक ज्ञान उत्पन्न होने लगेंगे, एवं यदि उसे मध्यम परिमाण वाला माना जायगा, तो वह सावयव तथा अनित्य हो जायगा। किन्तु वह निरवयव होने के कारण नित्य है तथा हृदय प्रदेश में रहने के कारण अन्तरिन्द्रिय है और संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग नामक आठ गुणों से युक्त है। यहाँ समझ लेना चाहिये कि—बहिरिन्द्रिय से होनेवाले ज्ञान भी तभी होते हैं, जब

बाह्येन्द्रियमर्थग्राहकम् । अत एव सर्वोपलब्धिसाधनम् । तच्च न प्रत्यक्षम्, अपि त्वनुमानगम्यम् । तथाहि सुखाद्युपलब्धयश्च- क्षुराद्यतिरिक्तकरणसाध्याः, असत्स्वपि चक्षुरादिषु जायमानत्वात् ( छिदावत् ) । यद्यस्तु यद्विनैवोत्पद्यते, तत्तदतिरिक्तकरणसाध्यं, यथा कुठारं विनोत्पद्यमाना पचनक्रिया तदतिरिक्तवह्न्यादिकरणसाध्या । यच्च करणं तन्मनः । तच्च चक्षुराद्यतिरिक्तम् । तच्चाणुपरिमाणम् । इति द्रव्याण्युक्तानि ।

---

विभाग-संख्या-परत्वापरत्व-वेगाख्याष्टगुणवदित्यर्थः । मनसः स्वातन्त्र्येण ( बाह्येन्द्रियासंयोगेन ) बाह्यविषयज्ञानाजनकत्वात्, तथा बहिरिन्द्रियस्यापि स्वातन्त्र्येण ( मनोऽसंयोगेन ) ज्ञानाजनकत्वादाह—तत्संयोगेनेति । सर्वेति—तदित्यादिः । मनसो नीरूपद्रव्यत्वेनेन्द्रियग्राह्यत्वाभावादाह—तच्चेति । तदुपपादयति—तथाहीति । नन्वेतेन तासां चक्षुराद्यतिरिक्तं किञ्चन करणं सिद्ध्यति, न तु मन इत्यत आह—तच्चेति । अणुत्वपरिमाणवदित्यर्थः । द्रव्याणीति—एवमित्यादिः । एतेन करिष्यमाणगुणनिरूपणे कृतद्रव्यनिरूपणनिरूपिता संगतिः सूचिता ।

---

कि पुरीतत नामक नाड़ी के बाहर तथा शरीर के भीतर आत्मा और मनका संयोग होता है, तथा मन और बहिरिन्द्रिय का संयोग होता है, और बहिरिन्द्रिय तथा विषय का सन्निकर्ष होता है । एवं मन से ही ज्ञान, इच्छा, सुख और दुःख आदि गुण तथा उनका आश्रय भूत आत्मा के प्रत्यक्ष होते हैं । इस तरह विचार करने से सिद्ध होता है कि-सारे ज्ञान, इच्छा आदि गुणों के उत्पाद तथा साक्षात्कार का साधन मन ही है । वह मन महत्त्वाश्रय न होने के कारण इन्द्रियगम्य नहीं है, किन्तु अनुमानगम्य है । जैसे—सुखादियों के साक्षात्कार, चक्षुराद्यतिरिक्त करण से साध्य हैं, क्योंकि वे चक्षुरादियों के न रहने पर भी होते हैं, जो वस्तु जिसके बिना ही उत्पन्न होती है वह उससे अतिरिक्त करण से साध्य होती है, जैसे—कुल्हाड़ी के बिना उत्पन्न होनेवाली पाक-क्रिया उससे अतिरिक्त वह्न्यादि करण से साध्य होती है; इस अनुमान से जो उनका चक्षुरादि भिन्न करण सिद्ध हुआ, वही मन है । उसमें ही दोष आनेपर प्राणी पागल हो जाता है, तथा उसकी ही स्वस्थता रहने पर सद्विचार होते हैं । एवं स्वप्नकाल में जिस मन का राज्य रहता है, वही मन 'जीवनयोनि' नामक यत्न को भी पैदा करता रहता है, जिससे कि सदा प्राण-सञ्चार होता रहता है । इसमें क्रिया इतनी शीघ्रता से होती है कि-विभिन्न क्षणों में

गुणाः ।

७. अथ गुणा उच्यन्ते । सामान्यवान्, असमवायिकारणम्, अस्पन्दात्मा गुणः । स च द्रव्याश्रित एव । रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-शब्द-बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-संस्कार-भेदात् चतुर्विंशतिधा ।

---

तत्र प्रथमं गुणं लक्षयति—सामान्यवानिति । एतेन सामान्यादिव्यवच्छेदः। द्रव्यव्युदासायाह—असमवायिकारणमिति। समवायिकारणभिन्नमित्यर्थः, अन्यथा ( तस्य यथाश्रुतार्थत्वे ) बुद्ध्यादेरसमवायिकारणत्वाभावात्तत्राव्याप्तिः, असमवायिकारणत्वस्य गुणकर्ममात्रवृत्तित्वात्तेनैव सामान्यादिव्यावृत्तौ, तदर्थमुपात्तस्य सामान्यवानित्यस्य वैयर्थ्यमापद्येतेति भावः। कर्मनिरासायाह—अस्पन्देति । तथा च द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति जातिमत्त्वं गुणत्वमिति फलितम् । ननु स किमाश्रितः ? तथा कतिधेत्यत आह—स चेति । रूपेति—तथेत्यादि । ननु गुणादौ गुणाभावात् गुणे चतुर्विंशतित्वसंख्योक्तिर्न सङ्गच्छते इति चेन्न, गुणादौ समवायेन गुणस्यासत्त्वेऽपि तत्रैकार्थसमवायेन स्वरूपेण वा सम्बन्धेन तत्सत्त्वाङ्गीकारात् ॥

---

होनेवाले विभिन्न ज्ञानों में भी एक क्षणोत्पत्तिकता का भ्रम हो जाता है, जैसे—कमल के सहस्र दलों को नीचे ऊपर के क्रम से जोड़कर रखकर यदि तेज सूए से छेदा जाय तो मालूम होगा कि एक क्षण में ही सारे पत्ते छेदे गये हैं, परन्तु उसमें पाँच सहस्र क्षण लगेंगे, क्योंकि क्रिया, विभाग, पूर्वसंयोगनाश, उत्तरदेश संयोग और क्रियानाश इतने कार्यों के लिये प्रत्येक पत्ते के छेदन में पाँच क्षण लगेंगे। इस तरह द्रव्यों का प्रतिपादन किया ।

अथ—अब गुणों का निरूपण करते हैं कि—जो द्रव्यों से तथा कर्मों से भिन्न हो और जाति का आश्रय हो वह गुण है । तात्पर्य यह है कि जाति द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में ही रहती है, अतः द्रव्य और कर्म से भिन्न जो जातिमान् होगा वह गुण ही होगा । वह द्रव्य में ही रहता है, अर्थात् द्रव्य से अन्यत्र कहीं भी नहीं रहता है । उसके चौबीस भेद हैं, जैसे—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ।

(१) तत्र रूपं चक्षुर्मात्रग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिव्यादित्रयवृत्ति। तच्च शुक्लाद्यनेकप्रकारकम्। पाकजं च पृथिव्याम्। तच्चाऽनित्यं पृथिवीमात्रे। आप्य-तैजसपरमाण्वोर्नित्यम्। आप्यतैजसकार्येष्वनित्यम्। शुक्लभास्वरमपाकजं तेजसि। तदेवाभास्वरमप्सु।

अथ यथोद्देशक्रमं रूपादिगुणान्निरूपयितु प्रथम रूपं निरूपयति—तत्रेति। रूपादीना मध्ये इत्यर्थः। तस्य लक्षणमाह—रूपमिति। रसादिवारणायाह—चक्षुर्मात्रग्राह्य इति। तत्र संख्याव्यवच्छेदायोक्त—मात्रेति। एवं रूपत्वादिव्युदासायाह—विशेषगुण इति। तत्र 'अयं सामान्यगुणो विशेषगुणो वा' इति संशयनिराकरणायोक्तं—विशेषेति। वस्तुतस्तु चक्षुर्मात्रग्राह्य इत्यनेन चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमत्त्वं विवक्षणीयम्, अन्यथाऽतीन्द्रियरूपेऽव्याप्तेः। तथा च विशेषगुण इति सत्तं तादृशसन्देहवारणार्थमेवेति बोध्यम्। शुक्लादीति—शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात् सप्तविधमित्यर्थः। पाकजञ्चेति—तच्च शुक्लाद्यनेकप्रकारकमित्यनुषज्यते। आप्येति—तयेत्यादिः। भास्वरम्—प्रकाशकम्। तदेवेति—शुक्लमेवेत्यर्थः। तयेत्यादिः। अपाकजमिति शेषः। अभास्वरम्—अप्रकाशकम्। अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वात् अभास्वरपदप्रयोगात् पूर्वं भास्वरपदप्रयोगस्यावश्यकतया प्रथमं जलरूपं विहाय तेजोरूपं निरूपितम्॥ एकं चित्रमित्यनुभवात् नानारूपवदारब्धे कम्बलादावेक चित्ररूपमिव, नानास्पर्शवदारब्धे फलादौ एकं चित्रस्पर्शमप्यभ्युपगच्छन्ति। नन्वेवं नानारसवदारब्धे हरीतक्यादौ एकश्चित्ररसोऽपि स्यादिति चेन्न, रूपादेर्व्याप्यवृत्तितया विभिन्नरूपादिवदारब्धे रूप-

तत्र—उनमें—केवल चक्षु से ज्ञान करने योग्य जो विशेष गुण, वह रूप है। यहाँ—चक्षु और त्वक् दोनों से ज्ञेय संख्या में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये केवल पद का और चक्षु मात्र से ज्ञेय रूपत्व में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये गुण पद का तथा यह सामान्य गुण है या विशेष गुण इस संशय का निवारण करने के लिये विशेष पद का उपादान है। वस्तुतस्तु—चक्षुर्मात्र-ज्ञेयजातिवाला जो गुण वह रूप है, अन्यथा अतीन्द्रिय रूप में अव्याप्ति होगी। रूप बहिरिन्द्रिय-जन्य द्रव्य प्रत्यक्षमात्र के प्रति कारण है, अतः वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता। वह पृथिवी, जल और तेज इन तीनों में ही रहता है, तथा शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र के भेद से सात प्रकार का है। पृथिवी में सातों प्रकारों का रूप है, तथा पाकज होने के कारण जन्य और नित्य इन दोनों प्रकारों की पृथिवी का रूप अनित्य

(२) रसो रसनेन्द्रियग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिवीजलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां मधुरादिषट्प्रकारो मधुर-अम्ल-लवण-कटु-कषाय-तिक्त-भेदात् पाकजश्च। अप्सु मधुरोऽपाकजो नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुभूतास्वप्सु। कार्यास्वप्सु अनित्यः।

---

द्वयं स्पर्शद्वयं वा न सम्भवतीति तत्र चित्ररूपं चित्रस्पर्शो वाऽभ्युपगम्यते, अन्यथा तस्य नीरूपत्वाद्यापत्तावतीन्द्रियत्वमापद्येत। प्रकृते तु रसनेन्द्रियस्य द्रव्याग्राहकतयाऽवयविनो नीरसत्वेऽपि क्षत्यभावादिति बोध्यम्॥

अथ रसं लक्षयति—रस इति। रूपादिव्युदासायाह—रसनेति। रसत्वादिनिरासाय गुणपदम्। तयोरुक्तांशयनिवारणाय विशेषपदम्। तत्र—पृथिवीजलयोर्मध्ये। पाकजश्चेति—सोऽनित्य एवेति शेषः। अप्स्विति—तथेत्यादिः। नित्य इति—तत्रेत्यादिः। अनित्य इति—तासु चेत्यादिः। रूपत्वरसत्वादयः शुक्लत्वमधुरत्वादयश्च जातयः प्रत्यक्षसिद्धा एवेति बोध्यम्।

---

होता है। एवं जन्य जल और तेज का रूप अनित्य होता है, किन्तु नित्य जल और नित्य तेज का रूप नित्य होता है। तेज में भास्वर शुक्ल रूप है, किन्तु जल में अभास्वर शुक्ल रूप है। यहाँ भास्वर शब्द का अर्थ है-प्रकाशक। यमुना जल में नील पार्थिवकण की अधिकता होने के कारण ही नीलरूप की प्रतीति होती है, न कि नीलरूप रहने के कारण। कुछ लोग चित्र रूप नहीं मानते, किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यह चित्रवर्ण है इस प्रतीति के आधार पर चित्ररूप मानना अनिवार्य है। सातों प्रकार के रूप उद्भूत अनुद्भूत और अभिभूत के भेद से इक्कीस प्रकारके हैं। जैसे-फूल का रूप उद्भूत है, तथा आँख का रूप अनुद्भूत है, और सुवर्ण का रूप अभिभूत है। क्योंकि सजातीय के ज्ञान प्रयुक्त ज्ञान का विषय न होना ही अभिभव है, अत. स्वावष्टम्भक पार्थिवभाग के पीत रूप का ज्ञान होने के कारण ही तेजरूप सुवर्ण का भास्वर शुक्ल रूप नहीं देखा जाता है।

रस—जिह्वा से ज्ञेय जो विशेष गुण वह रस है। यहाँ रसत्व में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये गुण पद का उपादान है, क्योंकि-जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का ज्ञान होता है उसी इन्द्रिय से उस वस्तु में रहनेवाली जातिका भी ज्ञान होता है, ऐसा नियम रहने के कारण रसत्व भी जिह्वासे ज्ञेय है। और विशेष पद के उपादान का प्रयोजन यहाँ तथा आगे भी पूर्ववत् समझना चाहिये। वह पृथिवी और जल में ही रहता है, तथा-मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त के भेद से छः प्रकार का है। पृथिवी में छवों प्रकारों का रस है, जो पाकज होने के कारण पृथिवी मात्र

(३) गन्धः घ्राणग्राह्यो विशेषगुणः । पृथिवीमात्रवृत्तिः । अनित्य एव । स द्विविधः सुरभिः, असुरभिश्च । जलादौ गन्धप्रतिभानं तु संयुक्तसमवायेन द्रष्टव्यम् ।

(४) स्पर्शः त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो विशेषगुणः । पृथिव्यादिचतु-

---

अथ गन्धं लक्षयति—गन्ध इति । अत्र पदकृत्यं पूर्ववद्बोध्यम् । अनित्य एवेति—पाकज एव चेति शेषः । ननु यदि गन्धः पृथिवीमात्रवृत्तिस्तर्हि कथं सुरभि जलमित्यादिप्रतीतिरित्यत आह—जलादाविति । पुष्पादिसंयुक्ते इत्यादिः । संयुक्तेति—स्वाश्रयेत्यादिः । तथा च—स्वं गन्धः, तदाश्रयः पुष्पादिः, तत्संयुक्तो जलाद्यवयवः, तत्समवायो जलादौ, तेनेत्यर्थः ।

अथ स्पर्शं लक्षयति—स्पर्श इति । अत्र विशेषपदेनैव संख्यादिव्यवच्छेदस्यापि सिद्धत्वात्तदर्थं त्वगिन्द्रियमात्रेति नावादि । तथा शेषपदकृत्यं पूर्ववज्ज्ञेयम् ।

---

में अनित्य है। किन्तु जल में जो मधुर रस है वह जन्य जल में ही अनित्य है, क्योंकि नित्य जल में वह नित्य है। रस भी उद्भूत, अनुद्भूत और अभिभूत के भेद से अठारह प्रकार के होते हैं जैसे–मिश्री का रस उद्भूत है, और जिह्वा का रस अनुद्भूत है, तथा नींबू के पानी का रस अभिभूत है। क्योंकि वहाँ पार्थिवांश के अम्ल रस का ज्ञान होने के कारण ही जल के मधुर रस का ज्ञान नहीं होता है। जल के मधुर रस का ज्ञान हरीतकी भक्षणोत्तर जलपान से होता है।

गन्ध—नाक से ज्ञेय जो विशेष गुण, वह गन्ध है। यहाँ नाक से ज्ञेय गन्धत्व में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये गुण पद का तथा रूपादियों में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये घ्राण ग्राह्य पद का उपादान है। वह केवल पृथिवी में रहती है, तथा पाकज होने के कारण पृथिवी मात्र में अनित्य है और वह दो प्रकार की है, जैसे–सुगन्ध और दुर्गन्ध। उक्त दोनों प्रकार की गन्ध उद्भूत, अनुद्भूत और अभिभूत के भेद से छः प्रकार की होती है। जैसे–फूल की गन्ध उद्भूत है और नाक की गन्ध अनुद्भूत है, तथा मलव्याप्त फल की गन्ध अभिभूत है। जलादि में जो गन्ध का भान होता है, वह उसमें व्याप्त पार्थिव कणों की गन्ध का ही समझना चाहिये।

स्पर्श—जिस विशेष गुण का प्रत्यक्ष केवल त्वगिन्द्रिय से हो, वह स्पर्श है। यहाँ त्वगिन्द्रिय मात्र से ग्राह्य स्पर्शत्व में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये गुण पद का तथा त्वक् और चक्षु दोनों से ग्राह्य संयोग में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये

द्रव्यवृत्तिः । स च त्रिविधः शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात् । शीतः पयसि । उष्णः तेजसि । अनुष्णाऽशीतः पृथिवीवाय्वोः । पृथिव्यां पाकजः, स एवापाकजो वायौ । पृथिवीमात्रे ह्यनित्यः । आप्यतैजस-वायवीयपरमाणुषु नित्यः । आप्यादिकार्येष्वनित्यः । एते च रूपादयश्चत्वारो महत्त्वैकार्थसमवेतत्वे सत्युद्भूता एव प्रत्यक्षाः ।

---

त्रिविध इति—इदमुपलक्षण चतुर्विध इत्यस्य । अन्यथा चित्रस्पर्शस्यासंग्रहात् । केचित्तु-काठिन्यकोमलत्व-अकाठिन्याकोमलत्वभेदादपि स्पर्शस्त्रिविध', तत्राद्यौ पृथिव्यामेव, चरमश्च जलादाविति वदन्ति । शीत इति—तत्रेत्यादि' । अनुष्णाशीत इति—तत्रेत्यादिः । अयम् पाकजः पृथिव्याम्, वायौ चापाकज इति बोध्यम् । पृथिवीमात्रे इति—स चेत्यादिः । आप्येति—तथेत्यादिः । महत्त्वेति—*महत्त्वेन सहैकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सतीत्यर्थः । ये रूपादयः प्रत्यक्षास्तद्गत-*रूपत्वादयोऽपि प्रत्यक्षा एव, येनेन्द्रियेण या व्यक्तिर्गृह्यते तद्गता जातिस्तदभावश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते इति नियमात् । अतादृशा रूपादयस्तद्गतरूपत्वादयश्चानुमेया एवेति भावः ।

---

केवल पद का उपादान है । स्पर्श पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार द्रव्यों में ही रहता है, और वह शीत, उष्ण तथा अनुष्णाशीत के भेद से तीन प्रकार का है । जिनमें-शीत स्पर्श जल में है और उष्ण स्पर्श तेज में है, तथा अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी और वायु में है । पाकज होने के कारण पृथिवी मात्र के स्पर्श अनित्य होते हैं, एवं जन्य जल, तेज तथा वायु के स्पर्श अनित्य होते हैं, किन्तु नित्य जल, तेज और वायु के स्पर्श नित्य होते हैं । ये रूप, रस आदि चारों पदार्थ 'उद्भूत' तथा 'महत्त्व के साथ रहनेवाले' होनेपर ही प्रत्यक्ष किये जा सकते हैं । स्पर्श कठिन, कोमल और अकठिनाकोमल के भेद से भी तीन प्रकार के हैं, जिन में कठिन और कोमल स्पर्श केवल पृथिवी में रहते हैं, और अकठिनाकोमल स्पर्श जल, तेज तथा वायु इन तीनों में रहते हैं । कुछ लोग कठिनत्वादि को स्पर्शगत धर्म न मानकर अवयव संयोगगत धर्म मानते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि चाक्षुषप्रतियोगिक चाक्षुषानुयोगिक संयोगगत धर्म का चाक्षुष ज्ञान होने के कारण वैसी स्थिति में कठिनत्वादि का चाक्षुष ज्ञान होना चाहिये, जो कि नहीं होता है । अतः उसे स्पर्शगत धर्म ही मानना चाहिये । क्योंकि उसका केवल त्वगिन्द्रिय से ही ज्ञान होता है ।

(५) संख्या एकत्वादिव्यवहारहेतुः सामान्यगुणः । एकत्वादिपरार्धपर्यन्ता । तत्रैकत्वं द्विविधं नित्याऽनित्यभेदात् । नित्यगतं नित्यम्, अनित्यगतमनित्यम् । स्वाश्रयसमवायिकारणगतैकत्वजन्यं च ।

---

अथ चक्षुस्त्वगुभयग्राह्यां संख्यां लक्षयति—संख्येति । संयोगादिवारणायाह—एकत्वादीति । अयमेक इमौ द्वावित्यादिविशिष्टव्यवहारस्य ( विशेषणज्ञानपूर्वकत्वात् ) हेतुरित्यर्थः । कालादिवारणायोक्तसंशयनिराकरणाय चाह—सामान्यगुण इति । एकत्वादीति—एकत्वमादिर्यस्याः सा एकत्वादिः । परार्द्धं पर्यन्तो यस्याः सा परार्द्धपर्यन्ता । एकत्वादिश्चासौ परार्द्धपर्यन्तेति एकत्वादिपरार्द्धपर्यन्तेति व्युत्पत्तिः । नित्यगतमिति—तत्रेत्यादि । अनित्यगतमिति—तत्रेत्यादिः । स्वाश्रयेति—स्वम् अनित्यगतमेकत्वम्, तदाश्रयस्य यत्समवायिकारणम्, तद्गतैकत्वजन्यमित्यर्थः । अनित्यमेकत्वमाश्रयनाशादेव नश्यतीति बोध्यम् । एवमेका-

---

संख्या—'यह एक है' और 'ये दो हैं' इत्यादि व्यवहार का कारण जो सामान्य गुण, वह संख्या है। यहाँ 'यह सामान्य गुण है या विशेष गुण' इस सन्देह का निवारण करने के लिये सामान्य पद का उपादान है। संख्या एकत्वादि तथा परार्धत्वान्त होने के कारण परार्ध संख्यक है, और वह द्रव्यमात्र में रहती है। यद्यपि द्रव्यमात्र में संख्या के रहने पर 'चौबीस गुण हैं' तथा 'पाँच कर्म हैं' इत्यादि व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकेंगे, तथापि द्रव्य में संख्या के साथ सामानाधिकरण्य होने के कारण गुण, कर्म प्रभृति में द्रव्यगत संख्या का भान मानकर अथवा समवाय सम्बन्ध से द्रव्यमात्र में संख्या के रहने पर भी स्वरूप सम्बन्ध से सब पदार्थों में संख्या का अस्तित्व मानकर उक्त प्रयोग उपपन्न किये जा सकते हैं। एकत्व दो प्रकार का है, जैसे—नित्य और अनित्य। इनमें—नित्य में रहनेवाला एकत्व नित्य है। किन्तु अनित्य में रहनेवाला एकत्व अनित्य है, और वह स्वाश्रय के समवायिकारण में रहनेवाले एकत्व से जन्य है। द्वित्व अनित्य ही है, और वह दो वस्तुओं में 'यह एक है' और 'यह एक है' इस प्रकार की अनेक—एकत्वविषयक अपेक्षा बुद्धि से पैदा होता है, वहाँ वे दोनों वस्तुएँ समवायिकारण हैं, तथा उन दोनों वस्तुओं में रहनेवाले दो एकत्व असमवायिकारण है, और तादृश अपेक्षाबुद्धि निमित्तकारण है। उस अपेक्षा बुद्धि के नाश से उस द्वित्व का नाश होता है। इसी तरह त्रित्व, चतुष्ट्व आदि को भी अनित्य तथा उनकी उत्पत्ति और विनाश समझना चाहिये। कुछ लोग कहते हैं कि—जहाँ अनियत—अनेक—एकत्व का ज्ञान होता है, वहाँ त्रित्व आदि संख्याओं की उत्पत्ति

द्वित्वादि चाऽनित्यमेव । तत्र द्वित्वं च द्वयोः पिण्डयोः 'इदमेकम्, इदमेकम्' इत्यपेक्षाबुद्ध्या जन्यते । तत्र द्वौ पिण्डौ समवायिकारणे । पिण्डयोरेकत्वे असमवायिकारणे । अपेक्षाबुद्धिर्निमित्तकारणम् । अपेक्षाबुद्धिनाशादेव द्वित्वविनाशः । एवं त्रित्वाद्युत्पत्तिर्विज्ञेया ।

---

अथ सङ्ख्या व्यासज्यवृत्त्यनेकाश्रयान्ताम् प्रदर्शयति—द्वित्वादीति। च–तु । एवेति–व्यासज्यवृत्त्यपि चेति शेषः । व्यासज्यवृत्तित्वञ्च एकत्वानवच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगित्वम् । सङ्क्षेपतो द्वित्वोत्पत्तिप्रक्रियां दर्शयति–तत्र द्वित्वञ्चेति । तत्र–द्वित्वोत्पत्तौ । अपेक्षाबुद्धिरिति—तथेत्यादिः । यत्र प्रथममपेक्षाबुद्धिः, ततो द्वित्वोत्पत्तिः, ततो द्वित्वत्वनिर्विकल्पकज्ञानम्, ततो द्वित्वत्वविशिष्टप्रत्यक्षम् अपेक्षाबुद्धिनाशश्च, ततो द्वित्वनाशः, तत् स्थलमभिप्रेत्याह—अपेक्षाबुद्धिनाशादिति । एवेति—अपीत्यर्थः । यत्र प्रथममुत्पत्स्यमानद्वित्वाश्रयावयवयोः क्रिया, ततो विभागोऽपेक्षाबुद्धिश्च, ततः पूर्वसंयोगनाशो द्वित्वोत्पत्तिश्च, ततो द्रव्यनाशो द्वित्वज्ञानञ्च, ततो द्वित्वापेक्षाबुद्ध्योर्नाशः, तत्राश्रयनाशाद् द्वित्वनाशस्याभ्युपगमात् ॥ विज्ञेयेति—तथा तद्विनाशोऽपि विज्ञेय इति शेषः । अत्र विवेचितसकलमेकेनैव पद्येन कश्चित्संगृह्णाति यथा—

आदाविन्द्रियसन्निकर्षघटनादेकत्वसामान्यधी–
रेकत्वोभयगोचरा मतिरतो द्वित्वं ततो जायते ।
तस्माद् द्वित्वमतिस्ततोऽपि परतो द्वित्वप्रमानन्तरम्,
द्वे द्रव्ये इति धीरियं निगदिता द्वित्वोदयप्रक्रिया ॥ इति ॥

---

न होकर एक बहुत्व नामक स्वतन्त्र संख्या की उत्पत्ति होती है, जैसे सेना आदियों से । किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि बहुत्व स्वतन्त्र संख्या होगी, तो वैयाकरण बहुवचन से त्रित्वादि परार्धत्वान्त संख्या का बोध नहीं करा सकेंगे और जैसे—त्रि, त्रितर, त्रितम ऐसा प्रयोग नहीं होता, वैसे बहु, बहुतर, बहुतम ऐसा भी प्रयोग नहीं हो सकेगा । अतः मानना होगा कि—त्रित्व से लेकर परार्धत्वपर्यन्त सभी संख्याएँ बहुत्वरूप हैं और बहुत्व कोई स्वतन्त्र संख्या नहीं है । ऐसी स्थिति में सहस्र को यदि बहु कहेंगे तो दश सहस्र को बहुतर कह सकते हैं । सेना आदियों में त्रित्वत्वादि रूप से त्रित्वादियों का ज्ञान नहीं होता, किन्तु बहुत्वत्व रूप से होता है, इसका कारण यह है कि—नियत अनेक—एकत्व का ज्ञान त्रित्वादियों की उत्पत्ति में कारण न होने पर भी त्रित्वत्वादिप्रकारक ज्ञान के प्रति कारण है, जो कि वहाँ नहीं है ।

(६) परिमाणं मानव्यवहारासाधारणं कारणम् । तच्चतुर्विधम् । अणु, महद् , दीर्घं, ह्रस्वं चेति । तत्र कार्यगतं परिमाणं संख्यापरिमाणप्रचययोनि । तद्यथा द्व्यणुकपरिमाणमीश्वरापेक्षाबुद्धिजन्यपरमाणु-

---

अथ परिमाणं लक्षयति—परिमाणमिति । तत्र संयोगादिवारणायाह—मानेति । हस्तवितस्त्यादिमानेत्यर्थः । कालादिवारणायाह—असाधारणमिति । उक्तसंशयवारणाय सामान्यगुण इति-अत्रोत्तरत्र च सम्बद्ध्यते । अणु इत्यादीनां भावप्रधाननिर्देशाद्-अणुत्वम् , महत्त्वम् , दीर्घत्वम् , ह्रस्वत्वमेत्यर्थः । अणुत्वादि चतुर्विधमपि परिमाणं नित्यानित्यभेदाद् द्विविधम् ; तत्र नित्यगतं नित्यम् , अनित्यगतञ्चानित्यमित्यभिप्रेत्याह—तत्रेति । नित्यानित्यपरिमाणयोर्मध्ये इत्यर्थः । संख्येति—संख्या-परिमाण-प्रचया' योनयः ( कारणानि ) यस्य तत् तथाविधमिति व्युत्पत्तिः । तत् क्रमेणोदाहरति—तद्यथेति । परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वमिति नियमात्—परमाणुपरिमाणं स्वापेक्षयोत्कृष्टत्वाभाववद्

---

परिमाणम्—'यह इतना छोटा है' और 'यह इतना बड़ा है' इत्यादि व्यवहारों का जो असाधारण कारण वह परिमाण है । सारांश यह है कि इयत्ता को ही नाम परिमाण है । वह पृथिव्यादि मन पर्यन्त नवों प्रकार के द्रव्यों में रहता है और उसका नाश, आश्रय के नाश से ही होता है । अतः जहाँ कुछ अवयवों को जोड़ने से या कुछ अवयवों को पृथक् करने से पूर्व अवयवी का नाश होकर नवीन अवयवी की उत्पत्ति होती है, वहाँ पूर्व परिमाण का नाश होकर नवीन परिमाण की उत्पत्ति भी हो जाती है । परिमाण चार प्रकार के होते हैं, जैसे—अणुत्व महत्त्व, ह्रस्वत्व और दीर्घत्व । इनमें अणुत्व के दो भेद हैं, जैसे—परमाणुत्व और मध्यमाणुत्व । इनमें परमाणुत्व परमाणुओं में रहता है और मध्यमाणुत्व द्व्यणुकों में रहता है । एवं महत्त्व के भी दो भेद है, जैसे—परम महत्त्व और मध्यम महत्त्व । इनमें परम महत्त्व आकाश आदियों में रहता है और मध्यम महत्त्व त्र्यणुक आदियों में रहता है । एवं ह्रस्वत्व के भी दो भेद है, जैसे—परम ह्रस्वत्व और मध्यम ह्रस्वत्व । इनमें परम ह्रस्वत्व परमाणुओं में रहता है और मध्यम ह्रस्वत्व द्व्यणुकों में रहता है । एवं दीर्घत्व के भी दो भेद है, जैसे—परमदीर्घत्व और मध्यमदीर्घत्व । इनमें परमदीर्घत्व आकाश आदियोंमें रहता है और मध्यम दीर्घत्व त्र्यणुक आदियोंमें रहता है । नित्यगत परिमाण नित्य है और अनित्यगत परिमाग अनित्य है । इनमें अनित्य परिमाणकी उत्पत्ति कहीं अवयवोंकी संख्या से तथा कहीं अवयवों के परिमाण से और कहीं अवयवों के शिथिल संयोग से होती है । जैसे-द्व्यणुकगत अणुत्व

द्वित्वजनितत्वात् संख्यायोनि । संख्याकारणकमित्यर्थः । त्र्यणुकपरिमाणं च स्वाश्रयसमवायिकारणगतबहुत्वसंख्यायोनि । चतुरणुकादिपरिमाणं तु स्वाश्रयसमवायिकारणपरिमाणजन्यम् । तूलपिण्डपरिमाणं तु स्वाश्रयसमवायिकारणावयवानां प्रशिथिलसंयोगजन्यम् । परमाणुपरिमाण, परममहत्परिमाणं चाकाशादिगतं नित्यमेव ।

(७) पृथक्त्वं पृथग्व्यवहारासाधारणं कारणम् । तच्च द्विविधम् ।

---

द्व्यणुकपरिमाणम्प्रति न कारणम्, द्व्यणुकपरिमाणस्य स्वसाजात्याभाववत् त्र्यणुकपरिमाणम्प्रति न कारणमित्याशयेनाह—**द्व्यणुकेति** । अस्मदादीनाम् अप्रत्यक्षपरमाणुद्वयगतैकत्वोभयविषयकापेक्षाबुद्धेरसम्भवादाह—**ईश्वरेति** । अनेकैकत्वबुद्धिरपेक्षाबुद्धिः । स्वाश्रयस्य समवायिकारणमिति विग्रहे समासं विधायाह—**स्वाश्रयेति** । एवमग्रेऽपि । **परिमाणेति**—गतेत्यादिः । **स्वाश्रयेति**—स्वाश्रयस्य समवायिकारणानि येऽवयवास्तेषामित्यर्थः । एवमनित्यगतं परिमाणं निरूप्य नित्यगत परिमाणं निरूपयति—**परमाण्विति** । अणुत्वं द्विविधम्, परमाणुत्वमध्यमाणुत्वभेदात् । एवं महत्त्वं द्विविधम्, परममहत्त्वमध्यममहत्त्वभेदात् । तथा ह्रस्वत्वं द्विविधम्, उत्कृष्टापकृष्टभेदात । एवं दीर्घत्वम् द्विविधम्, उत्कृष्टापकृष्टभेदात् । यथा परमाणौ परमाणुत्वमुत्कृष्टह्रस्वत्वञ्च । एवं द्व्यणुके मध्यमाणुत्वमपकृष्टह्रस्वत्वञ्च । तथा गगनादौ परममहत्त्वमुत्कृष्टदीर्घत्वञ्च । एवं घटादौ मध्यममहत्त्वमपकृष्टदीर्घत्वञ्च । अनित्यपरिमाणस्य चाश्रयनाशादेव नाशो भवतीति बोध्यम् ॥

अथ पृथक्त्वं लक्षयति—**पृथक्त्वमिति** । **पृथग्व्यवहारेति**—इदमस्मात्पृथगिति व्यवहारेत्यर्थः । अत्र पदकृत्यं पूर्ववत्, तथाऽनित्यपृथक्त्वस्योत्पत्तिवि

---

परमाणुगत द्वित्वसंख्या से तथा त्र्यणुकगत महत्त्व द्व्यणुकगत त्रित्व संख्यासे उत्पन्न होता है । एवं घटगत परिमाण कपालगत परिमाण से पैदा होता है । तथा धुनी हुई रूईका परिमाण अवयवोंके शिथिल संयोगमें उत्पन्न होता है ।

पृथक्त्वम्—'पट घट से पृथक् है' इत्यादि व्यवहारों का जो असाधारण कारण वह पृथक्त्व है । कुछ लोग कहते हैं कि—पृथक्त्व भेद अर्थात् अन्योन्याभावस्वरूप ही है, न कि अतिरिक्त गुण स्वरूप । किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि पृथक्त्व को भेद स्वरूप माना जायगा, तो जैसे—'घटका रूप घट से भिन्न है' यह व्यवहार होता है, वैसे 'घटका रूप घट से पृथक् है' यह व्यवहार होने लगेगा, किन्तु वह

एकपृथक्त्वं, द्विपृथक्त्वादिकं च। तत्राद्यं नित्यगतं नित्यम्, अनित्यगतम् अनित्यम्। द्विपृथक्त्वादिकं चानित्यमेव।

(८) संयोगः संयुक्तव्यवहारहेतुर्गुणः। स द्व्याश्रयोऽव्याप्यवृत्तिश्च। स त्रिविधः—अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, संयोगजश्चेति। तत्राऽन्यतरकर्मजो यथा क्रियावता श्येनेन सह निष्क्रियस्य स्थाणोः संयोगः। अत्र हि श्येनक्रिया असमवायिकारणम्। उभयकर्मजो यथा

---

नाशप्रकारोऽनित्यसंख्यावद् बोध्य। अनित्येति—तथेत्यादि। एकत्र वर्त्तमानं पृथक्त्वमेकपृथक्त्वम्, एवं द्विपृथक्त्वाद्यपि बोध्यम्। घट-पटान् पृथक्, घटः पटो नेति प्रतीत्योर्वैलक्षण्यात् पृथक्त्वम् अन्योन्याभावेऽन्तर्भवितुं न शक्नोति। ननु तत्र शब्दवैलक्षण्यमेव न त्वर्थवैलक्षण्यमिति चेन्न, तथा सति घटः पटात्पृथगित्यत्रेव घटः पटो नेत्यत्रापि पञ्चमीप्रसङ्गात्। तस्मात्तत्र यदर्थयोगे पञ्चमी सोऽर्थः पृथक्त्वम् नञर्थान्योन्याभावतो भिन्नमिति सिद्धम्॥

अथ संयोगं लक्षयति—संयोग इति। पृथक्त्वादिव्युदासायाह—संयुक्तव्यवहारेति। इदमनेन संयुक्तमिति व्यवहारेत्यर्थः। कालादिवारणायाह—गुण इति। द्व्याश्रयः—द्वौ आश्रयौ यस्य सः। अव्याप्यवृत्तिरिति—स्वात्यन्ताभावस-

---

होता नहीं, अतः मानना होगा कि पृथक्त्व एक स्वतन्त्र गुण है। वह एक पृथक्त्व से लेकर परार्ध पृथक्त्व तक के भेद से परार्धसंख्यक है। उनमें एक पृथक्त्व नित्यगत नित्य होता है और अनित्यगत अनित्य होता है। किन्तु द्विपृथक्त्वादि अनित्य ही होते हैं। दो वस्तुओंमें जो अन्यकी अपेक्षासे पृथक्त्व रहता है उसका नाम है द्विपृथक्त्व। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये।

संयोग—'यह इससे संयुक्त है' इत्यादि व्यवहारों का जो असाधारण कारण वह संयोग है। वह द्रव्यमें ही रहता है और अव्याप्यवृत्ति है। क्योंकि जहाँ संयोग रहता है वहाँ उसका अभाव भी रहता है। जैसे वृक्ष में ही शाखावच्छेदेन कपिसंयोग रहता है और मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव रहता है। संयोग तीन प्रकारका है, जैसे—अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और संयोगज। इनमें—सक्रिय पक्षी के साथ जो निष्क्रिय वृक्ष का संयोग, वह अन्यतरकर्मज संयोग है। एवं—सक्रिय दो पहलवानों का जो संयोग, वह उभयकर्मज संयोग है। तथा कारण और अकारण के संयोग से होनेवाला जो कार्य और अकार्य का संयोग वह संयोगज संयोग है, जैसे—हाथ

सक्रिययोर्मल्लयोः संयोगः । संयोगजो यथा कारणाऽकारणसंयोगात् कार्याऽकार्यसंयोगः । यथा हस्ततरुसंयोगेन कायतरुसंयोगः ।

(६) विभागोऽपि विभक्तप्रत्ययहेतुः । संयोगपूर्वको द्व्याश्रयः । सच त्रिविधोऽन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजो, विभागजश्चेति । तत्र प्रथमो यथा श्येनक्रियया शैलश्येनयोर्विभागः । द्वितीयो यथा मल्लयोर्विभागः । तृतीयो यथा हस्ततरुविभागात् कायतरुविभागः ।

---

मानाधिकरण इत्यर्थः । सः—स च । हस्तेति—हस्तः ( कायस्य ) कारणम्, तरुश्चाकारणम्, तयोः संयोगेन—कायः ( हस्तस्य ) कार्यम्, तरुश्चाकार्यम्, तयोः संयोग इत्यर्थः । संयोगनाशो विभागादेव भवतीति बोध्यम् ॥

अथ विभागं लक्षयति—**विभाग इति** । **विभक्तप्रत्ययेति**—इदमस्माद्विभक्तमिति प्रतीतीत्यर्थः । **हेतुरिति**—गुण इत्यनुपज्यते । अत्र पदकृत्यं पूर्ववत् । **तृतीयो**—द्विविधः, कारणमात्रविभागजः कारणाकारणविभागः, कारणाकारणविभागजः कार्याकार्यविभागश्च । तत्र प्रथमो यथा—कपालकर्मणा कपालद्वयविभागः, ततः कपालद्वयसंयोगनाशः, ततो घटनाशः, ततः ( तेनैव कपालद्वयविभागेन ) कपालाकाशविभागः । द्वितीयमुदाहरति—**तृतीय इति** । ननु कपालद्वयविभागो

---

( कारण ) और वृक्ष ( अकारण ) के संयोग से होनेवाला जो शरीर ( कार्य ) और वृक्ष ( अकार्य ) का संयोग वह संयोगज संयोग है।

विभाग —'ये दोनों विभक्त हैं' इत्यादि व्यवहारों का जो असाधारण कारण, वह विभाग है। अथवा क्रिया के अव्यवहित पर क्षण में उत्पन्न होनेवाला या संयोग का नाशक जो गुण, वह विभाग है। वह संयोग पूर्वक ही होता है, अतः चन्द्र और सूर्य इन दोनों को विभक्त नहीं कहा जाता, क्योंकि ये दोनों कभी संयुक्त नहीं होते हैं। संयोग के समान विभाग भी दो आश्रयों में होता है, और द्रव्य में ही रहता है, तथा तीन प्रकार का होता है, जैसे—अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और विभागज। इनमें—सक्रिय पक्षी से जो निष्क्रिय वृक्ष का विभाग वह अन्यतरकर्मज विभाग है। एवं सक्रिय दो मल्लों का जो विभाग, वह उभयकर्मज विभाग है। तथा विभागज विभाग दो प्रकार का होता है, जैसे—कारणमात्र-विभागज और कारणाकारण-विभागज। इनमें—कपालद्वय के विभाग से होनेवाला जो कपालाकाश—विभाग, वह कारणमात्र-विभागज विभाग है, और हस्तवृक्ष-विभाग से होनेवाला जो शरीर-वृक्षविभाग, वह कारणाकारणविभागज विभाग है। कुछ लोग संयोगज संयोग को

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ, विभागे च विभागजे ।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ॥

(१०-११) परत्वाऽपरत्वे पराऽपरव्यवहारासाधारणकारणे। ते तु द्विविधे दिक्कृते कालकृते च। तत्र दिक्कृतयोरुत्पत्तिः कथ्यते—एकस्यां दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोः 'इदमस्मात् संनिकृष्टम्' इति बुद्ध्याऽनुगृहीतेन दिक्पिण्डसंयोगेनाऽपरत्वं संनिकृष्टे जन्यते। विप्रकृष्टबुद्ध्या तु परत्वं विप्रकृष्टे जन्यते। संनिकर्षस्तु पिण्डस्य द्रष्टुः शरी-

---

घटनाशात्प्रागेव कपालाकाशविभागं जनयत्विति चेन्न, अवयविनि सत्यवयवस्य देशान्तरविभागासम्भवात्। न च कपालकर्मैव युगपदाकाशकपालविभागं कपालद्वयविभागञ्च जनयत्विति वाच्यम्, द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनककर्मणः द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकत्वस्यासम्भवात्, अन्यथा विकसत्कमलकुड्मलभङ्गप्रसङ्गात्। संख्यादिविभागान्ता गुणा नवद्रव्यवृत्तय इति बोध्यम्।

अथ लाघवाय युगपदेव परत्वापरत्वे लक्षयति—परत्वापरत्वे इति। परव्यवहारासाधारणं कारणं परत्वम्, एवमपरव्यवहारासाधारणं कारणमपरत्वमित्यर्थः। अत्र पदकृत्यं परिमाणलक्षणघटकपदकृत्यवद् बोध्यम्। तुना प्रकृते पूर्वतो वैलक्षण्यं द्योतयति। तत्र—दिक्कृतकालकृतानां मध्ये। उत्पत्तिः—उत्पत्तिप्रकारः। तमाह—एकस्यामिति। संनिकृष्टे—संनिकृष्टपिण्डे। विप्रकृष्टबुद्ध्येति—इदमस्माद् विप्रकृष्टमिति बुद्ध्येत्यर्थः। अनुगृहीतेन दिक्पिण्डसंयोगेनेत्यनुषज्यते। विप्रकृष्टे-विप्रकृष्टपिण्डे। तु—चा

---

भी कारणाकारण-संयोगज और कारणकारण-संयोगज के भेद से दो प्रकार का मानते हैं। इनमें—अन्य परमाणु और द्वयणुकावयव परमाणु के संयोग से होनेवाला जो अन्य परमाणु और द्वयणुक का संयोग, वह कारणाकारण-संयोगज संयोग है और दो अवयवियों के अवयवों में संयोग होने से होनेवाला जो दोनों अवयवियों का संयोग, वह कारणकारण-संयोगज संयोग है।

परत्वापरत्वे—'यह इससे पर है' इत्यादि व्यवहारों का जो असाधारण कारण, वह परत्व है। एवं 'यह इससे अपर है' इत्यादि व्यवहारों का जो असाधारण कारण, वह अपरत्व है। ये दोनों परत्व और अपरत्व दैशिक और कालिक के भेद से दो प्रकार के होते हैं। इनमें—दैशिक परत्व और अपरत्व मूर्त द्रव्य में ही होते हैं, किन्तु कालिक परत्व और अपरत्व जन्य द्रव्यमात्र में होते हैं। तथा—दैशिक परत्व, दूरत्व है, जो कि किसी में किसी की अपेक्षा से बहुतरमूर्त-संयोगान्तरितत्व के ज्ञान से उत्पन्न होता है; एवं दैशिक अपरत्व, निकटत्व है, जो कि किसी में किसी की

रापेक्षया संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वम्। तद्भूयस्त्वं विप्रकर्ष इति।

कालकृतयोस्तु परत्वाऽपरत्वयोरुत्पत्तिः कथ्यते—अनियतदिगवस्थितयोर्युवस्थविरपिण्डयोः 'अयमस्मादल्पतरकालसंबद्धः' इत्यपेक्षाबुद्ध्यानुगृहीतेन कालपिण्डसंयोगेनासमवायिकारणेन यूनि अपरत्वम्। 'अयमस्माद् बहुतरकालेन संबद्धः' इति धिया स्थविरे परत्वम्।

(१२) गुरुत्वम् आद्यपतनाऽसमवायिकारणम्। अतीन्द्रिय पृथि-

---

तदिति—संयुक्त( दिक् )संयोगेत्यर्थ'। तथा 'पिण्डस्य द्रष्टुः शरीरापेक्षये'त्यनुषज्यते। उत्पत्तिः—उत्पत्तिप्रकारः। तमाह—अनियतेति। एतेनात्र दिशो नैयत्यमनैयत्यं वाऽविवक्षितमिति सूचितम्। अपरत्वमिति—जन्यते इत्यनुषज्यते। एवमग्रेऽपि। धियेति—अनुगृहीतेन कालपिण्डसंयोगेनासमवायिकारणेनेत्यनुषज्यते। दैशिकपरत्वापरत्वे मूर्त्तद्रव्ये एव, एवं कालिकपरत्वापरत्वे जन्यद्रव्ये एव। तेषा नाशश्चापेक्षाबुद्धिनाशादिति बोध्यम् ॥

अथ गुरुत्वं लक्षयति—गुरुत्वमिति। द्वितीयपतनासमवायिकारणवेगेऽति-

---

अपेक्षा से अल्पतर-मूर्त्तसंयोगान्तरितत्व के ज्ञान से पैदा होता है। और कालिक परत्व ज्येष्ठत्व है, जो कि किसी में किसी की अपेक्षा से बहुतर-सूर्यपरिस्पन्दान्तरितत्व के ज्ञान से उत्पन्न होता है; एवं कालिक अपरत्व कनिष्ठत्व है, जो कि किसी में किसी की अपेक्षा से अल्पतर-सूर्य-परिस्पन्दान्तरितत्व के ज्ञान से पैदा होता है। किसी को पर समझने के बाद ही उसकी अपेक्षा से किसी को अपर समझा जा सकता है, एवं किसी को अपर समझने के बाद ही उसकी अपेक्षा से किसी को पर समझा जा सकता है। अतः दोनों प्रकार के परत्व और अपरत्वों की उत्पत्ति में अपेक्षा-बुद्धि कारण है, और अपेक्षा-बुद्धि के नाश से ही सभी प्रकार के परत्व और अपरत्वों का नाश होता है। दूरत्व और निकटत्व अनियत होते हैं, किन्तु ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व नियत होते हैं। अत' कुछ लोग दूरत्व और निकटत्व की उत्पत्ति में ही अपेक्षाबुद्धि को कारण मानते हैं, न कि ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व की उत्पत्ति में। किन्तु जेष्ठत्व और कनिष्ठत्व की बुद्धि में अपेक्षाबुद्धि को कारण मानते हैं। इनके मत में—बहुतर-सूर्यपरिस्पन्दान्तरितत्व ही ज्येष्ठत्व है, न कि उसके ज्ञान से जन्य। एव अल्पतर-सूर्यपरिस्पन्दान्तरितत्व ही कनिष्ठत्व है, न कि—उसके ज्ञान से उत्पाद्य।

गुरुत्वम्—किसी के प्रथम पतन का कारण जो गुण, वह गुरुत्व है। इसी को

वीजलवृत्ति । यथोक्तम्—संयोगवेगप्रयत्नाभावे सति गुरुत्वात् पतनमिति ।

(१३) द्रवत्वम् आद्यस्यन्दनासमवायिकारणम् । भूतेजोजलवृत्ति । भूतेजसोर्घृतादिसुवर्णयोरग्निसंयोगेन द्रवत्वं नैमित्तिकम् । जले नैस-

---

व्याप्तिवारणायाह—आद्येति । अतीन्द्रियत्वेऽपि—पार्थिवजलीयवस्तुवृत्तिरवःसंयोगजनिका क्रिया, असमवायिकारणिका, क्रियात्वादित्यनुमानेन सिद्धं गुरुत्वं द्विविधम्, नित्यानित्यभेदात् । तत्र परमाणुगतं नित्यम्, द्व्यणुकादिगतञ्चानित्यम् । अनित्यन्तु स्वाश्रयावयवगुरुत्वादुत्पद्यते, स्वाश्रयनाशाच्च नश्यति ॥ गुरुत्वस्य प्रथमपतनं प्रत्यसमवायिकारणत्वे सूत्रकृदुक्तिं प्रमाणयति—यथोक्तमिति ।

अथ द्रवत्वं लक्षयति—द्रवत्वमिति । द्वितीयस्यन्दनासमवायिकारणवेगेऽतिप्रसङ्गवारणायाह—आद्येति । भूतेजसोरिति—तद् द्विविधम्, नैमित्तिकसांसिद्धिकभेदात् । तत्रेत्यादिः । जले—जले च । जलपरमाणौ द्रवत्वं नित्यम्, अन्यत्र चानित्यम् । जलीयद्व्यणुकादौ तत् स्वाश्रयावयवद्रवत्वादुत्पद्यते, स्वाश्रयनाशाच्च नश्यति । पृथिवीतेजसोस्तु तेज:संयोगादुत्पद्यते, तन्नाशाच्च नश्यति । संयोगवि-

---

भारीपन या वजन भी कहते हैं । यह पृथिवी और जल में ही रहता है, तथा अतीन्द्रिय होता है । अतः इसका किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता है, किन्तु तुलादण्ड के नमन या उन्नमन के देखने से अनुमान होता है । कुछ लोग कहते हैं कि गुरुत्व का त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि हाथ पर रखने से किसी वस्तु का गुरुत्व जाना जाता है । किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि त्वगिन्द्रिय से उसका प्रत्यक्ष होता, तो स्पर्श के समान शरीर में कहीं भी वस्तु के सम्पृक्त होने पर उसके गुरुत्व का ज्ञान होता, किन्तु ऐसा नहीं होता । अतः मानना होगा कि हाथ पर रखने से जो किसी वस्तु के गुरुत्व का ज्ञान होता है, वह उस वस्तु के भार से दबते हुए हाथ को तदवस्थित रखने के लिये जितना प्रयत्न करना पड़ता है तदनुरूप गुरुत्व का अनुमान ही है । दूसरी बात यह है कि यदि त्वगिन्द्रिय से गुरुत्व का ज्ञान होता, तो वह निर्णयात्मक होता, किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि हाथ पर रखने से भी जो किसी वस्तु के गुरुत्व का ज्ञान होता है वह सम्भावनात्मक ही होता है । गुरुत्व के समान लघुत्व कोई स्वतन्त्र गुण नहीं है, क्योंकि उसको गुरुत्वाभावस्वरूप मानने से ही निर्वाह हो जाता है । गुरुत्व नित्यगत नित्य है और अनित्यगत अनित्य ।

द्रवत्व—प्रथम स्यन्दन के प्रति असाधारण कारण जो गुण, वह द्रवत्व है ।

गिकं द्रवत्वम् ।

(१४) स्नेहः चिक्कणता । जलमात्रवृत्तिः, कारणगुणपूर्वको गुरुत्वादिवद् यावद्द्रव्यभावी ।

(१५) शब्दः श्रोत्रग्राह्यो गुणः । आकाशस्य विशेषगुणः ।

---

भागपरत्वापरत्वगुरुत्ववेगस्थितिस्थापका इव नैमित्तिकद्रवत्वं सामान्यगुणः, तथा स्नेह इव सांसिद्धिकद्रवत्वं विशेषगुण इति बोध्यम् ।

अथ स्नेहं निरूपयति—स्नेह इति । कारणेति—स्वाश्रयावयवस्नेहजन्य इत्यर्थः । इदं स्निग्धमिति व्यवहारासाधारणकारणं स्नेह इति तस्य लक्षणम् । स्नेहो द्विविधः, नित्यानित्यभेदात् । तत्र नित्यो जलपरमाणौ; अनित्यश्च जलद्व्यणुकादौ, स स्वाश्रयनाशान्नश्यति । तैले उपलभ्यमानः स्नेहोऽपि जलीय एव, तस्य प्रकृष्टत्वादग्नेरानुकूल्यम् , अपकृष्टस्नेहं हि जलं वह्निं नाशयतीत्याशयः ।

अथ शब्दं लक्षयति—शब्द इति । रूपादिनिरासायाह—श्रोत्रेति । शब्दत्वादिव्युदासायाह—गुण इति । उक्तसंशयवारणायाह—विशेषेति । अत्र—विशिष्यते—व्यवच्छिद्यते ( स्वाश्रयः ) येन स विशेषः, स चासौ गुणो विशेषगुण इति

---

द्वितीय पतन और स्यन्दन के असमवायिकारण वेग में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये पूर्वत्र तथा यहाँ आद्य पद का उपादान है । द्रवत्व सांसिद्धिक और नैमित्तिक के भेद से दो प्रकार का है । इनमें—सांसिद्धिक द्रवत्व जल में रहता है, और नैमित्तिक द्रवत्व पृथिवी तथा तेज में होता है । क्योंकि घृत आदि पृथिवी में तथा सुवर्ण आदि तेज में अग्नि के संयोग से ही द्रवत्व पैदा होता है । जलीय परमाणुओं में द्रवत्व नित्य है और अन्यत्र वह अनित्य है ।

स्नेहः—'यह स्निग्ध है' इत्यादि व्यवहारों का असाधारण कारण जो गुण, वह स्नेह है । वह जल में ही रहता है और वह कारणगुणपूर्वक है, क्योंकि अवयवगत स्नेह से ही अवयवी में स्नेह उत्पन्न होता है । तथा वह गुरुत्व आदियों के समान यावद्द्रव्यभावी है क्योंकि जब तक जल रहता है, तब तक उसमें स्नेह रहता ही है । एवं वह नित्यगत नित्य है और अनित्यगत अनित्य है । अपकृष्ट स्नेहवाला जल ही अग्नि का विरोधी होता है, न कि उत्कृष्ट स्नेहवाला । अतएव उत्कृष्ट स्नेहवाले जलांशों से युक्त घृत तेल आदियों के डालने पर आग नहीं बुझती, प्रत्युत वह प्रज्वलित ही होती है ।

शब्द—कान से प्रत्यक्ष करने योग्य जो गुण, वह शब्द है । वह आकाश में ही

ननु कथमस्य श्रोत्रेण ग्रहणम् । यतो भेर्यादिदेशे शब्दो जायते, श्रोत्रं तु पुरुषदेशेऽस्ति । सत्यम् । भेरीदेशे जातः शब्दो वीचीतरङ्ग-न्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा सन्निहितं शब्दान्तरमारभते, स च शब्दः शब्दान्तरमिति क्रमेण श्रोत्रदेशे जातोऽन्त्यः शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते, न त्वाद्यो नापि मध्यमः । एवं वंशे पाट्यमाने दलद्वयविभागदेशे जातः शब्दः शब्दान्तरारम्भक्रमेण श्रोत्रदेशेऽन्त्यं शब्दं जनयति, सोऽन्त्यः शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते नाद्यो न मध्यमः । 'भेरीशब्दो मया श्रुतः' इति मतिस्तु भ्रान्तैव ।

भेरीशब्दोत्पत्तौ भेर्याकाशसंयोगोऽसमवायिकारणम् । भेरीदण्ड-संयोगो निमित्तकारणम् । एवं वंशपाटनाच्चटचटाशब्दोत्पत्तौ वंशदला-काशविभागोऽसमवायिकारणम् । दलद्वयविभागो निमित्तकारणम् ।

---

व्युत्पत्त्यभ्युपगमेन शब्दो गगनं पृथिव्यादितो व्यवच्छिनत्तीत्यपि सिद्ध्यति ।

'सम्बद्धं वर्त्तमानञ्च गृह्यते चक्षुरादिने'ति नियमात् श्रोत्रद्वारा स्वसम्बद्धशब्द-स्यैव ग्रहणेन भवितव्यम्, न च तत्सम्भवति, श्रोत्रशब्दयो विभिन्नदेशस्थितया सम्बन्धाभावादित्याशयेन शङ्कते—नन्विति । आदिना वंशपाटनपरिग्रहः । उक्त-नियमात् श्रोत्रद्वारा स्वसम्बद्धशब्दस्यैव ग्रहणेन भवितव्यमित्यभ्युपगम्यते न तु श्रोत्रशब्दयोरसम्बन्ध इत्यर्धाङ्गीकारेण परिहरति—सत्यमिति । शब्द इति—वायुसहकृत इति शेषः । स च शब्द इति—( वायुसहकृतः ) सन्निहितमित्यनुष-ज्यते । नन्वेवं सति भेरीशब्दो मया श्रुत इति प्रतीति कथमुपपद्येतेत्यत आह—भेरीशब्द इति ।

सर्वेषां शब्दानामाकाश एव समवायिकारणमिति तत्रासमवायिनिमित्तकारणे एव दर्शयति—भेरीशब्दोत्पत्ताविति । शब्दस्त्रिविधः संयोगजविभागजशब्दज-

---

रहता है । कुछ लोग कहते हैं कि—शब्द द्रव्य है, क्योंकि वह एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है, अन्यथा उसका श्रवण नहीं हो सकता और चलन द्रव्य में ही होता है । किन्तु यह ठीक नहीं है । क्योंकि शब्द यदि द्रव्य होता, तो उसमें एका-भिमुखी ही क्रिया होती, क्योंकि द्रव्य में एकाभिमुखी ही क्रिया होती है, अतः किसी द्रव्य को फेंकने या गिराने से वह किसी एक ही ओर जाता है । यदि शब्द में भी वैसी ही क्रिया मानी जायगी, तो वह दशो दिशाओं में सुनाई नहीं देगा ।

इत्थमाद्यः शब्दः संयोगजो विभागजो वा । अन्त्यमध्यमशब्दास्तु 'शब्दासमवायिकारणका अनुकूलवातनिमित्तकारणकाः । यथोक्तम्—'संयोगात्, विभागात्, शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः' इति ( वै. सू. २–२–३१ )। आद्यादीनां सर्वशब्दानामाकाशमेकमेव समवायिकारणम् । कर्मबुद्धिवत्त्रिक्षणावस्थायित्वम् । तत्राद्य–मध्यम–शब्दाः कार्यशब्दनाश्याः, अन्त्यस्तूपान्त्येन उपान्त्यस्त्वन्त्येन सुन्दोपसुन्दन्यायेन विनश्यतः । इदं त्वयुक्तम् । उपान्त्येन त्रिक्षणावस्थायिनाऽन्त्यस्य द्वितीयक्षणमात्रानुगामिना, तृतीयक्षणे चाऽसताऽन्त्यनाशजननासंभवात् । तस्मादुपान्त्यनाशादेवान्त्यनाश इति ।

विनाशित्वं च शब्दस्यानुमानात् । तथाहि—शब्दोऽनित्यः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद् घटवदिति । शब्दस्यानित्यत्वं साध्यम्, अनित्यत्वं च विनाशावच्छिन्नस्वरूपत्वं, न तु विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्वं, प्रागभावे सत्ताहीनेऽनित्यत्वाभावप्रसङ्गात् ।

---

भेदादित्यत्र सूत्रकृदुक्तिं प्रमाणयति—यथोक्तमिति । ननु तस्य तस्य शब्दस्य समवायिकारणं किमित्यत आह—आद्येति । कर्मेति—तथेत्यादि । त्रिपदं द्विपरम्, अन्यथा शब्दस्य तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वरूप क्षणिकत्वमिति सिद्धान्तव्याघातात् । एवमग्रेऽपि । तत्र—आद्यमध्यमान्त्यानां शब्दानां मध्ये । कस्यचिन्मतमाह—अन्त्य इति । द्वितीयपदं प्रथमपरम् ।

ननु शब्दो नित्य इति जैमिनिमतेन तदुत्पत्तिविनाशकथनं विरुध्यतीत्यत आह—विनाशित्वञ्चेति । अनुमानमुपपादयति—तथाहीति । शब्दस्येति—अत्रेत्यादि । अवच्छिन्नेति—उपलक्षितेत्यर्थः । प्रागभावे इति—तथा सतीत्यादिः वस्तुतस्तु प्रागभावे प्रागभावाप्रतियोगित्वरूपमनादित्वमेव, न तु प्रागभावप्रतियोगित्वे सति ध्वंसप्रतियोगित्वरूपमनित्यत्वम् । एवं ध्वंसेऽपि ध्वंसाप्रतियोगित्वरूपमनन्तत्वमेव, न तु तादृशमनित्यत्वम् । सामान्येति—तथेत्यादिः । इन्द्रियेति—तत्रे-

---

अतः मानना होगा कि शब्द द्रव्य नहीं है, किन्तु वह उत्पत्ति विनाशशील एक प्रकार का गुण है । क्योंकि तीव्र तीव्रतर तथा मन्द मन्दतररूप से गृहीत होने के कारण उसे नित्य नहीं माना जा सकता । वह संयोग या विभाग या शब्द से उत्पन्न होता है । और द्वितीय शब्द से प्रथम शब्द का तथा उपान्त्य शब्द के नाश से अन्तिम

सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वं हेतुः । इन्द्रियग्राह्यत्वादि-त्युच्यमाने आत्मनि व्यभिचारः स्यात् , अत उक्तं बाह्येति । एवमपि तेनैव योगिबाह्येन्द्रियेण ग्राह्ये परमाण्वादौ व्यभिचारः स्याद् , अतो योगिनिरासार्थमुक्तमस्मदादीति । किं पुनर्योगिसद्भावे प्रमाणम् । उच्यते । परमाणवः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वाद् घटव-दिति । तथापि सामान्यादिना व्यभिचारोऽत उक्तं सामान्यवत्त्वे सती-ति । सामान्यादित्रयस्य निःसामान्यत्वात् ।

---

त्यादिः । तेनैवेति—इदं बाह्येनैवेत्यर्थकमत्राधिकं भाति, अग्रे बाह्यपदोपादानात् । योगिसत्तामनङ्गीकुर्वन् मीमांसकः पृच्छति—किं पुनरिति । कस्यचिदिति—जीवस्येति शेषः, अन्यथा तत्रेश्वरीयप्रत्यक्षविषयतायाः सिद्धत्वादेतेन सिद्धसाधनप्रस-ङ्गात् । प्रत्यक्षाः—प्रत्यक्षविषयाः । घटवदितीति—अनुमानमिति शेषः । अनेन परमाणुप्रत्यक्षकारकः कश्चिज्जीवः सिद्ध्यति, स च योगी एवेति भावः । नन्वेव-मपि कथन्तत्र व्यभिचारवारणमित्यत आह—सामान्यादित्रयस्येति । शब्दो द्विविधः, ध्वनिरूपो वर्णरूपश्च । तत्राद्यः, मृदङ्गादिजन्यः, द्वितीयश्च कण्ठसंयोगादि-जन्यः । ननु शब्दस्यानित्यत्वे सोऽयं ककार इत्यादिप्रत्यभिज्ञा कथमुपपद्येतेति चेन्न, साजात्यावलम्बनेन तदिदमौषधमित्यादिप्रत्यभिज्ञावत्तदुपपत्तेः ॥

---

शब्द का नाश होता है। तथा वह तृतीयक्षणध्वंसी होता है। अन्यत्र उत्पन्न शब्द वीचीतरङ्गन्याय से या कदम्बमुकुलन्याय से अन्यत्र स्थित श्रोता के कान तक जाता है। यहाँ—प्रथमकल्प का तात्पर्य यह है कि—जैसे जल में किसी अतिवेगशील इढ़तर बड़े द्रव्य के गिरने से उसे वेष्टित करके एक गोल लहर उठती है, बाद में उससे दूसरी लहर प्रथम लहर की अपेक्षा से अधिक—देशव्यापी होकर उठती है, इस तरह लहर धारा चल पड़ती है, जो तट तक जाकर खतम हो जाती है वैसे एक शब्द के उत्पन्न होने पर उससे दूसरा शब्द दशों दिशाओं में उत्पन्न होता है, इस तरह अनन्त आकाश में शब्द की धारा चल पड़ती है। एवं द्वितीय पक्ष का अभि-प्राय यह है कि—जैसे कदम्ब पुष्प में सूत्र और केसर शिखाएँ निकलती हैं, वैसे एक शब्द के उत्पन्न होने पर उससे दशों दिशाओं में शब्द उत्पन्न होते हैं, इस तरह अनन्त आकाश में शब्दधारा चल पड़ती है। शब्द दो प्रकार के होते हैं, जैसे—वर्ण और ध्वनि। इनमें पद के अंशभूत क, ख आदि हैं वर्ण और मृदङ्ग आदि के शब्द हैं ध्वनि।

(१६) अर्थप्रकाशो बुद्धिः । नित्या, ईश्वरस्य नित्या, अन्यदीया तु अनित्या ।

(१७) प्रीतिः सुखम् । तच्च सर्वात्मनामनुकूलवेदनीयम् ।

---

अथ बुद्धिं लक्षयति—अर्थेति । नित्येति—सा द्विविधा नित्या अनित्या च । तत्रेत्यादिः । नित्या—प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगिनी । अहं जानामीत्यादिप्रतीत्या आत्मगुणो बुद्धिरात्ममनः—संयोगेन, त्वङ्मनःसंयोगेन च जायते, अत एव सुषुप्तौ न तदुत्पत्तिः । सा च स्वोत्पत्तिक्षणात्तृतीयक्षणे नश्यति; अपेक्षाबुद्धिस्तु चतुर्थक्षणे नश्यति, द्वित्वविशिष्टद्रव्यप्रत्यक्षानुरोधात् । नाशे हेतुश्च स्वोत्तरवर्त्तियोग्यविभुविशेषगुण एव । सा च पुनर्द्विविधा, अनुभवस्मरणभेदात् । तथा अनुभवः स्मरणञ्चापि द्विविधम्, यथार्थायथार्थभेदात्, व्यवसायानुव्यवसाय-भेदाच्च । तत्र यथार्थानुभवाः प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दरूपाः चतुर्विधा प्रमाणप्रसङ्गे पूर्वं निरूपिता । अयथार्थानुभवाश्च संशयविपर्ययतर्कभेदात् त्रिविधाः, प्रमाणनिरूपणा-वसरे मया प्रतिपादिताः । तत्रानुभूतविषयस्मरणेनादृष्टेन धातुदोषेण वा जन्यः स्वप्नः, विशेषादर्शनजन्यः किञ्चिदित्याकारकोऽनध्यवसायश्च विपर्ययेऽन्तर्भवतः । एवं यथार्थेनायथार्थेन चाऽनुभवेन ( संस्कारद्वारा ) जन्यं स्मरणम् यथार्थमयथार्थं वा । तथा–ज्ञानरहितविषयावभासकं ज्ञानं व्यवसायः, यथा–अयं घट इति । ज्ञानसहितवि-षयावभासकञ्च ज्ञानमनुव्यवसायः, यथा घटमहं जानामीति । इत्यवधेयम् ॥

अथ सुखं निरूपयति—प्रीतिरिति । निरन्तरप्रेमविषय इत्यर्थः । इदमपि अहं

---

अर्थप्रकाश—सभी व्यवहारों का कारण जो गुण, वह ज्ञान है । इसी के सहारे पहले वस्तु का प्रकाशन होता है, तब उसकी इच्छा होती है, बाद उसके लिये प्रयत्न होता है । अतः इच्छा आदि के समान, ज्ञान भी आत्मा का ही गुण है । वह दो प्रकार का है, जैसे—नित्य और अनित्य । इनमें—परमात्मा का ज्ञान नित्य है, और जीवात्मा का ज्ञान अनित्य है । जब—सुषुप्तिकाल में पुरीतत् नामक नाडी के भीतर गया हुआ मन उससे बाहर होकर आत्मा तथा त्वक् से संयुक्त होता है, तभी ज्ञान उत्पन्न होता है । क्योंकि आत्ममनः संयोग तथा त्वङ्मन संयोग ज्ञान मात्र के प्रति कारण है । ज्ञान अपनी उत्पत्ति के तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है, किन्तु अपेक्षा बुद्धि चतुर्थ क्षण मे नष्ट होती है ।

प्रीति—जिसके लिये सभी प्राणी लालायित तथा सचेष्ट रहते हैं और जिसके उत्पन्न होते ही मुखकमल खिल जाता है तथा मैं सुखी हूँ यह अनुभव होता है, वही

(१८) पीडा दुःखम् । तच्च सर्वात्मनां प्रतिकूलवेदनीयम् ।

सुखीत्यादिप्रतीत्या आत्मधर्मः; अनित्यमेव च, परमात्मन्यवृत्तित्वात् । एवम् ज्ञायमानसत्ताकमेव, सुखोत्पत्त्यनन्तरम् अहं सुखीत्यादिप्रतीतेरवश्यम्भावात्; अन्येच्छानधीनेच्छाविषयश्च, सर्वदा काम्यत्वात्; सुखेच्छाधीनेच्छाविषये सुखसाधने तु सुखसाधनतास्थितिकालपर्यन्तमेवेच्छा । न चेदं दुःखाभावरूपम्, तथा सति विनिगमनाविरहाद् दुःखस्यापि सुखाभावरूपत्वेऽन्योन्याश्रयप्रसङ्गात् । तथा चेदं भावरूपं गुणान्तरमेवेत्याशयेन सुखं लक्षयति—तच्चेति । सर्वपदेन मुक्तातिरिक्तसंग्रहः । एवमग्रेऽपि । दुःखेऽतिप्रसङ्गवारणायाह—अनुकूलेति ।

अथ दुःखं निरूपयति—पीडेति । इदमपि अहं दुःखीत्यादिप्रतीत्या आत्मधर्मः, तथाऽनित्यश्च, ईश्वरावृत्तित्वात्, एवं ज्ञायमानसत्ताकमेव, दुःखोत्पादानन्तरम् अहं दुःखीत्यादिप्रतीतिरवश्यञ्जननात्; अन्यद्वेषानधीनद्वेषविषयश्च, सर्वदा द्वेष्यत्वात् । दुःखद्वेषाधीनद्वेषविषये दुःखसाधने तु दुःखसाधनतास्थितिकालपर्यन्तमेव द्वेषः । उक्तरीत्या चैतदपि भावरूपं गुणान्तरमेवेत्यभिप्रेत्य दुःखं लक्षयति—तच्चेति । सुखेऽतिव्याप्तिवारणायाह—प्रतिकूलेति । दुःखं त्रिविधम्, आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदात् । तत्राद्यं द्विविधम्, शारीरिकमानसिकभेदात् । तत्र-रोगजं दुःखं शारीरिकम्, एवं कामादिजं तन्मानसिकम् । तथा सर्पादिजं दुःखमाधिभौतिकम् । एवं ग्रहादिज तदाधिदैविकमिति सांख्यकृत ।

सुख है । वह धर्म से ही होता है, और वह नित्य प्रेम का विषय है । किन्तु उसके साधन में जब तक सुखसाधनता रहती है, तभी तक उसमें प्रेम रहता है, अत. वह अनित्य प्रेम का विषय है । सुख की अज्ञात सत्ता नहीं होती, क्योंकि जब सुख होता है, उसके अव्यवहित पर क्षण में मैं सुखी हूँ ऐसा ज्ञान अवश्य हो जाता है। सुख जीवात्मा का ही गुण है, क्योंकि धर्म न रहने के कारण वह परमात्मा में नहीं हो सकता । वस्तुतस्तु अन्येच्छानधीनेच्छाविषय जो गुण वह सुख है ।

पीडा—जिसको कोई नहीं चाहता अर्थात् जिसकी निवृत्ति तथा अनुत्पाद के लिये सभी प्राणी निरन्तर सयत्न रहते हैं, और जिसके उत्पन्न होने ही मुख कमल सूख जाता है तथा मैं दुःखी हूँ यह ज्ञान होता है वही दुःख है । वह अधर्म से ही होता है, और वह सदा द्वेष का विषय है । किन्तु उसके साधन तभी तक द्वेष के विषय होते हैं, जब तक कि उनमें दुःखसाधनता रहती है, अत· वे तात्कालिक द्वेष के विषय हैं । दुःख की भी अज्ञात सत्ता नहीं होती, क्योंकि जब दुःख होता है

(१९) राग इच्छा ।

(२०) क्रोधो द्वेषः ।

---

अथेच्छां निरूपयति—राग इति । इच्छाऽपि अहमिच्छामीत्यादिप्रतीत्या आत्मधर्मः । सा च द्विविधा, नित्यानित्यभेदात् । तत्रेश्वरीया नित्या, अन्यदीया त्वनित्या । ज्ञानजन्यत्वे सति प्रयत्नजननस्वरूपयोग्यत्वं च तस्या लक्षणम् । साऽपि ज्ञानवत् सविषयिणी, तृतीयक्षणे विनाशिनी च । तथेयमेव विषयभेदेन-क्षुधा-तृषा-तृष्णा-हिंसा-करुणादिशब्दैर्व्यवह्रियते । सा च पुनर्द्विविधा, फलविषयिणी, उपाय-विषयिणी च । तत्राद्या सुखरूपस्य दुःखाभावरूपस्य वा फलस्य ज्ञानेन जन्या । द्वितीया तु फलेच्छया फलसाधनताज्ञानेन च जन्येति भावः ।

अथ द्वेषं निरूपयति—क्रोध इति । ज्ञानजन्यत्वे सति निवृत्तिजननस्वरूप-योग्यत्वं द्वेषस्य लक्षणम् । सोऽपि अहं द्वेष्मीत्यादिप्रतीत्या आत्मगुणः, तथा ज्ञाना-दिवत्सविषयकः, तृतीयक्षणविनाशी च । स च द्विविधः, दुःखविषयकः, दुःखसा-धनविषयकश्च । तत्राद्यः दुःखज्ञानेन जन्यः, द्वितीयस्तु दुःखद्वेषेण दुःखसाधनताज्ञानेन

---

उसके अव्यवहित परक्षण में मैं दुःखी हूँ ऐसा ज्ञान अवश्य हो जाता है । दुःख भी जीवात्मा का गुण है, क्योंकि अधर्म न रहने के कारण वह परमात्मा में नहीं हो सकता । वस्तुतस्तु अन्यद्वेषानधीन-द्वेष-विषय जो गुण, वह दुःख है ।

राग—ज्ञान से उत्पाद्य और प्रयत्न का उत्पादक जो गुण, वह इच्छा है । वह ज्ञानादि के समान सविषयक होती है, और नित्य तथा अनित्य के भेद से दो प्रकार की है । जिनमें नित्य इच्छा है परमात्मा की, और अनित्य इच्छा है जीवों की । विषय भेद से इच्छा के विभिन्न नाम होते हैं, जैसे—काम, माया, स्पृहा, लोभ, तृष्णा, तृषा, क्षुधा, हिंसा, आशा, करुणा, आसक्ति, अनुरक्ति, अभिप्राय, अभिसन्धि, आकूत और तात्पर्य । इच्छा प्रकारान्तर से भी दो प्रकार की है, जैसे—फलेच्छा और उपायेच्छा । इनमें—सुख और दुःखाभाव की जो इच्छा, वह फलेच्छा है । तथा उन दोनों के साधनों की जो इच्छा वह उपायेच्छा है । एवं फलेच्छा से ही उपायेच्छा होती है । इच्छा भी तृतीय क्षण में नष्ट हो जाती है ।

क्रोध—ज्ञान से उत्पाद्य तथा निवृत्तिका उत्पादक जो गुण वह द्वेष है । और वह जीवों का ही गुण है, क्योंकि परमेश्वर को किसी से द्वेष नहीं होता । द्वेष भी ज्ञानादि के समान मानस-प्रत्यक्ष विषय होता है । द्वेष दो प्रकार का है, जैसे—फलद्वेष और उपायद्वेष । इनमें—दुःख में होने वाला द्वेष फलद्वेष है, तथा उसके साधनों में होनेवाला द्वेष उपायद्वेष है । एवं फलद्वेष से ही उपायद्वेष होता है ।

(२१) उत्साहः प्रयत्नः ।
बुद्ध्यादयः षड् मानसप्रत्यक्षाः ।

च जन्यः । एवमयमेव प्रकारभेदेन द्रोह-अमर्ष-ईर्ष्यादिशब्दैर्व्यवह्रियते । तथाऽय-मनित्य एव, ईश्वरावृत्तित्वादिति बोध्यम् ।

अथ प्रयत्नं निरूपयति—उत्साह इति । इच्छाद्वेषजीवनादृष्टान्यतमजन्यत्वे सति चेष्टाश्वासान्यतरजनकत्वं प्रयत्नस्य लक्षणम् । चेष्टा च हिताहितप्राप्तिपरिहारा-नुकूला क्रिया । प्रयत्नोऽपि 'अहं यते' इत्यादिप्रतीत्या आत्मगुणः, ज्ञानादिवत्तृतीय-क्षणविनाशी च । स च त्रिविधः, प्रवृत्ति-निवृत्ति-जीवनयोनिभेदात् । तत्रेच्छाज-न्यो हितप्राप्त्यनुकूलक्रियाजनकः प्रयत्नः प्रवृत्तिः । एवं द्वेषजन्योऽहितपरिहारानुकूल-क्रियाजनकः प्रयत्नो निवृत्तिः । तथा जीवनादृष्टजन्योऽतीन्द्रियः प्राणसञ्चरणकारणी-भूतः प्रयत्नो जीवनयोनिः ॥ स च पुनर्द्विविधः, नित्योऽनित्यश्च । तत्रेश्वरीयो नित्यः, अन्यदीयस्त्वनित्य इति बोध्यम् ।

ननु बुद्ध्यादिषट्के किं प्रमाणमित्यत आह—बुद्ध्यादय इति । प्रत्यक्षाः—प्रत्यक्षविषयाः ।

विषय भेद से द्वेष के भी विभिन्न नाम होते हैं, जैसे—क्रोध, द्रोह, अमर्ष और ईर्ष्या । द्वेष भी तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है ।

उत्साह—इच्छा या द्वेष से उत्पाद्य तथा चेष्टा का उत्पादक जो गुण, वह प्रयत्न है और हित की प्राप्ति या अहित के परिहार के अनुकूल जो क्रिया वह चेष्टा है । प्रयत्न तीन प्रकार का है, जैसे—प्रवृत्ति, निवृत्ति और जीवनयोनि । इनमें—जिस प्रयत्न से किसी को पाने में अनुकूल होनेवाली चेष्टा होती है वह प्रयत्न है प्रवृत्ति । एवं जिस प्रयत्न से किसी को छोडने में अनुकूल होनेवाली चेष्टा होती है वह प्रयत्न है निवृत्ति । इष्ट साधनता तथा कृति साध्यता के ज्ञान से इच्छा होती है, और उससे प्रवृत्ति होती है । कुछ लोग कहते हैं कि—बलवदनिष्टाननुबन्धित्व तथा कृतिसाध्यता के ज्ञान से इच्छा होती है, और उनसे प्रवृत्ति होती है । कुछ लोगों का मत है कि—आप्ताभिप्राय के ज्ञान से इच्छा तथा उससे प्रवृत्ति होती है । अनिष्ट-साधनता के ज्ञान से द्वेष तथा उससे निवृत्ति होती है । एवं जिस प्रयत्न से श्वास-प्रश्वासात्मक प्राणसञ्चार होता रहता है वह प्रयत्न है जीवनयोनि । जीवात्मा का जो अनित्य प्रयत्न उसीके उक्त तीनों भेद होते हैं, क्योंकि परमात्मा के नित्य प्रयत्न का कोई भेद नहीं है ।

(२२-२३) धर्माऽधर्मौ सुखदुःखयोरसाधारणकारणे । तौ चाऽप्रत्यक्षावप्यागमगम्यौ अनुमानगम्यौ च । तथाहि देवदत्तस्य शरीरादिकं देवदत्तविशेषगुणजन्यं, कार्यत्वे सति देवदत्तस्य भोगहेतुत्वाद् देवदत्तप्रयत्नजन्यवस्तुवत् । यश्च शरीरादिजनकः आत्मविशेषगुणः, स एव धर्मोऽधर्मश्च । प्रयत्नादीनां शरीराद्यजनकत्वादिति ।

---

अथ धर्माधर्मौ निरूपयति—धर्माधर्माविति । सुखस्यासाधारणकारणं धर्मः, एवं दुःखस्यासाधारणकारणमधर्म इत्यर्थः । तत्र कालादिवारणायाह—असाधारणेति । ननु तयोः किं प्रमाणमित्यत आह—तौ चेति । आगमेति—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इत्याद्यागमेत्यर्थः । अनुमानमुपपादयति—तथाहीति । तत्र-यज्ञदत्तशरीरादिकमादाय बाधो मा भूदित्यर्थमाह—देवदत्तस्येति । शरीरेति—आद्येत्यादिः, अन्यथा तस्य स्वयत्नकृताधुनिकशरीरमादाय सिद्धसाधनापत्तेः । परमेश्वरविशेषगुणजन्यत्वमादाय सिद्धसाधनं मा भूदित्यर्थमाह—देवदत्तेति । परिमाणादिनाऽर्थान्तरं मा भूदित्यर्थमाह-विशेषेति । तदात्मादौ व्यभिचारवारणायाह—कार्यत्वे सतीति । यज्ञदत्तशरीरादौ व्यभिचारवारणायाह—देवदत्तस्येति । साध्यवैकल्यवारणायाह—देवदत्तेति । नन्वेतेन तादृशः कश्चिद्विशेषगुणः सिद्धयति, न तु धर्मादिरित्यत आह—यश्चेति । शरीरेति—आद्येत्यादिः । एवमग्रेऽपि । प्रयत्नेति—जीवेत्यादिः । आद्यशरीराद्युत्पत्तेः प्राग् जीवप्रयत्नादीनामसम्भवात् तेषामाद्यशरीरादिजनकत्वं न सम्भवतीति भावः । अतिपूर्ववर्त्ति शास्त्रविहितं कर्म अतिपरवर्त्ति सुखं तावज्जनयितुं न शक्नोति, यावत्तेन मध्यवर्त्ति स्वव्यापारीभूतं पुण्यं नोत्पाद्यते । एवमतिपूर्ववर्त्ति शास्त्रनिषिद्धं कर्म अति

---

धर्माधर्मा—जो सत्कर्म से उत्पन्न होकर सुख को पैदा करता है, वह धर्म है, और जो असत्कर्म से पैदा होकर दुःख को उत्पन्न करता है, वह अधर्म है। अप्रत्यक्ष होने के कारण ही इन दोनों को अदृष्ट कहते हैं। यह निश्चित है कि-सुकर्म से सुख और दुष्कर्म से दुःख मिलता है। किन्तु अतिव्यवहित पूर्वकालवर्त्ती सुकर्म या दुष्कर्म अतिव्यवहित परकालवर्त्ती सुख या दुःख के प्रति कैसे कारण होंगे ? अतः कल्पना करते हैं कि-सुकर्म दुष्कर्म से होनेवाले धर्म तथा अधर्म नाम के गुण जीवात्माओं में रहते हैं, जिनके रहने से ही सुकर्म और दुष्कर्म के नष्ट हो जाने पर भी सुख तथा दुःख की निष्पत्ति होती है। शास्त्र विहित कर्म को सुकर्म तथा शास्त्र निषिद्ध कर्म को दुष्कर्म कहते हैं।

(२४) संस्कारव्यवहारासाधारणकारणं संस्कारः। संस्कारः त्रिविधो वेगो, भावना, स्थितिस्थापकश्च। तत्र वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः। स च क्रियाहेतुः। भावनाख्यस्तु संस्कार आत्ममात्रवृत्तिरनुभवजन्यः स्मृतिहेतुः, स चोद्बुद्ध एव स्मृतिं जनयति।

---

परवर्त्ति दुःखं तावज्जनयितुं न शक्नोति, यावत्तन्मध्यवर्त्ति स्वव्यापारीभूतं पापं नोत्पाद्यते। कारणस्य कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वनियमात्। तस्माद् धर्माधर्मावश्यम्मन्तव्यौ। तौ चानित्यावेव, ईश्वरावृत्तित्वात्॥

अथ संस्कारं विभजते—संस्कार इति। अयं सस्कारीत्यादिव्यवहारासाधारणकारणं संस्कार इत्यन्ये। वेगो द्विविधः, कर्मजो वेगजश्च। तत्राद्यः बाणादावुत्पन्नः प्रथमो वेगः, द्वितीयश्च तत्रोत्पन्नो द्वितीयादिर्वेगः। स चातीन्द्रियः। आत्मेति—संसार्यात्मेत्यर्थः। अनुभवस्मरणयोः सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभावादनुभवजन्योऽनुभवव्यापारीभूत स्मृतिजनकोऽयं परमेश्वरस्य संस्काराभावात् मुक्तस्य च संस्कारनाशात् संसार्यात्ममात्रवृत्तिरेवेति भावः। अनुभवेन जनिता भावना स्मरणेन नश्यति, तेन चापरा चोत्पद्यते इति भावना प्रति ज्ञानमात्रं कारणमिति कश्चित्, तन्न, तथा सत्यनन्तभावनाकल्पनाया गौरवात्। किन्तु तांप्रति अनुभव एव कारणम्, अत एव पुनः पुनः स्मरणेन सा दृढा दृढतरा च भवति, भावनाया नाशश्च कालेन रोगेण चरमस्मरणेन वा भवतीत्याशयेनाह—अनुभवजन्य इति। उपेक्षान्यनिश्चयजन्य इत्यर्थः। अयमप्यतीन्द्रियः। स्मृतिपदं प्रत्यभिज्ञाया अप्युपलक्षणम्।

---

संस्कार—संस्कार के तीन भेद होते हैं, जैसे—वेग, भावना और स्थितिस्थापक। इनमें—वेग दो प्रकार का होता है, जैसे कर्मज और वेगज। इनमें—बाण आदि में क्रिया से उत्पन्न जो प्रथम वेग, वह कर्मज वेग है और उसीमें पूर्व वेग से उत्पन्न जो द्वितीय आदि वेग, वह वेगज वेग है। जब तक बाण आदि में वेग की धारा चलती रहती है, तब तक उसमें क्रिया की धारा भी चलती रहती है और जब अपने आश्रय के साथ दृढ मूर्तद्रव्य का नोदन नामक संयोग के होने से वेग धारा नष्ट हो जाती है, तब क्रिया धारा भी नष्ट हो जाती है। क्योंकि वेग ही क्रिया के प्रति कारण है। वेग पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन में रहता है, तथा वह अतीन्द्रिय है। अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु क्रिया की अधिकता या अल्पता के देखने से अनुमान ही होता है। एवं—जो अनेक संस्कार अनुभव से जन्य तथा स्मृति का जनक हो, वह संस्कार भावना है और वह केवल आत्मा में रहती है।

उद्बोधश्च सहकारिलाभः । सहकारिणश्च संस्कारस्य सदृशदर्शनादयः । यथोक्तम्—'सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः' इति । स्थितिस्थापकस्तु स्पर्शवद्द्रव्यविशेषवृत्तिः । अन्यथाभूतस्य स्वाश्रयस्य धनुरादेः पुनस्तादवस्थ्यापादकः ।

एते च बुद्ध्यादयोऽधर्मान्ता भावना च आत्मविशेषगुणाः ।

गुणा उक्ताः ।

---

ननु तेन सर्वदा स्मरणं कुतो नोत्पद्यते इत्यत आह—स चेति । तत्र प्रमाणमाह—यथोक्तमिति । स्मृति बीजस्य—भावनाख्यसंस्कारस्य । बोधकाः-उद्बोधकाः । द्रव्यविशेषेति—पृथिवीजलतेजोवाय्वित्यर्थः । केचित्तु तस्य पृथिवीमात्रवृत्तित्वमभ्युपगच्छन्ति । अस्य नामानुसारि उदाहरणमाह—अन्यथेति । अयं स्वाश्रयावयवस्थितिस्थापकजन्योऽतीन्द्रिय· क्वचित् स्पन्दजनकश्च । एवमयं वेगश्च संयोगतः स्वतो वा नश्यतः । सर्वे संस्काराः कार्यानुमेयाः ॥

बुद्ध्यादीनामाश्रयस्यानुक्तत्वादिदानीमाह—एते चेति । एतेनैते विशेषगुणाः सामान्यगुणा वेति संशयोऽपि निराकृतः ।

गुणा इति—एवमित्यादिः । एतेन कृतगुणनिरूपणकरिष्यमाणकर्मनिरूपणयोः सङ्गतिः सूचिता ॥

---

यदि भावना नामक संस्कार को न माना जायगा, तो अनेक दिन पूर्व अनुभूत किसी भी वस्तु का अनेक दिन के बाद स्मरण नहीं हो सकेगा । अतः उसको मानना आवश्यक है । जब वह सदृश दर्शन आदि सहकारियों के लाभ से उद्बुद्ध होता है, तब स्मरण होता है । भावना के उत्पाद और नाश के विषय में मतभेद है, जैसे—कुछ लोग कहते है कि—ज्ञानमात्र से भावना उत्पन्न होती है, और वह समान विषयक स्मरण मात्र से नष्ट हो जाती है, और कुछ लोग कहते है—अनुभव मात्र से भावना की उत्पत्ति होती है, और समान विषयक अन्तिम स्मरणमात्र से उसका नाश होता है । कहीं कहीं काल या रोग से भी उसका नाश हो जाता है । किन्तु यह सर्वसम्मत है कि भावना की उत्पत्ति अपेक्षात्मक तथा निश्चयात्मक ज्ञान से ही होती है । एवं जो संस्कार अन्यथाभूत वस्तु को पूर्वावस्थापन्न बनाता है, वह संस्कार स्थितिस्थापक है। इस संस्कार के रहने के कारण ही—झुकाकर छोड़ी हुई पेड़ की शाखा पूर्वस्थान में स्थित हो जाती है । यह पृथिवी, जल, तेज और वायु में रहता है । कुछ लोग पृथिवी मात्र में इसकी सत्ता मानते हैं । इस तरह गुणों का निरूपण समाप्त हुआ ।

कर्माणि

८. कर्माणि उच्यन्ते । चलनात्मकं कर्म । गुण इव द्रव्यमात्रवृत्ति । अविभुद्रव्यपरिमाणेन मूर्तत्वापरनाम्ना सहैकार्थसमवेतं, विभागद्वारा पूर्वसंयोगनाशे सत्युत्तरदेशसंयोगहेतुश्च । तच्च उत्क्षेपण–अपक्षेपण–आकुञ्चन–प्रसारण–गमनभेदात् पञ्चविधम् । भ्रमणादयस्तु गमनग्रहणेनैव गृह्यन्ते ।

---

अथ कर्माणि निरूपयितुं प्रतिजानीते—कर्माणीति । अथेत्यादिः । तत्र कर्म लक्षयन् तदाश्रयमाह—चलनेति । तत्रापि केषु द्रव्येषु तद् वर्त्तते इत्याह—अविभ्विति । तत्रेत्यादि· । मूर्त्तत्वापरनाम्ना—इयत्तावच्छिन्नपरिमाणं मूर्त्तत्वन्तदपरनाम्ना । एवञ्च कर्म द्रव्याणाम्मध्ये पृथिवीजलतेजोवायुमनःसु वर्त्तते इति फलितम् । नोदनाद्यसंयोगेनाद्यं कर्म, द्वितीयादि च वेगतो जन्यते; क्रियातो विभागः, विभागात् पूर्वसंयोगनाशः ततः उत्तरदेशसंयोगः, ततश्च कर्मविभागयोर्नाश इति कर्मप्रक्रियामाह—विभागेति । स्वजन्येत्यादिः । कर्म विभजते—तच्चेति । ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षेपणम्, अधोदेशसंयोगहेतुरपक्षेपणम्, शरीरस्य सन्निकृष्टसंयोगहेतुराकुञ्चनम्, विप्रकृष्टसंयोगहेतु प्रसारणम्, तथा उत्क्षेपणादिभिन्नमुत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापारमात्रं गमनमित्याशयेनाह—उत्क्षेपणेत्यादि । ननु भ्रमणादीनामपि कर्मणां सत्त्वात् कथन्तस्य पञ्चप्रकारकत्वमित्यत आह—भ्रमणादय

---

अब कर्मों का निरूपण करते हैं—कर्माणि । चलन अर्थात् स्पन्दन है स्वरूप जिसका, वह कर्म है । वह पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँच द्रव्यों में ही रहता है । उसकी उत्पत्ति तथा नाश की प्रक्रिया यह है कि—प्रथम क्षण में कर्म की उत्पत्ति होती है, द्वितीय क्षण में उससे उसके आश्रयभूत द्रव्य का द्रव्यान्तर से विभाग होता है, तृतीय क्षण में उससे—उस कर्म के आश्रयभूत द्रव्य में पहले से विद्यमान जो पूर्व संयोग—उसका नाश होता है, चतुर्थ क्षण में उस कर्म के आश्रयभूत द्रव्य का अपर किसी द्रव्य के साथ नवीन संयोग उत्पन्न होता है, और पञ्चम क्षण में उस कर्म का नाश हो जाता है । कर्म उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन के भेद से पाँच प्रकार का है, क्योंकि—भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, तथा तिर्यग्-गमन का गमन में ही अन्तर्भाव हो जाता है । इनमें—उत्क्षेपण पद से ऊपर की ओर फेंकना, अपक्षेपण पद से नीचे की ओर फेंकना, आकुञ्चन पद से सिमटना, प्रसारण पद से फैलाना, गमन पद से चलना, भ्रमण पद से चक्रा-

सामान्यम्

६. अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम् । द्रव्यादित्रयवृत्ति । नित्यम्, एकम्, अनेकानुगतं च । तच्च द्विविधं परम् अपरं च । परं सत्ता बहुविषयत्वात् । सा चाऽनुवृत्तिप्रत्ययमात्रहेतुत्वात् सामान्यमात्रम् ।

---

इति । तत्रेत्यादिः । आदिना रेचनस्यन्दनोर्ध्वज्वलनतिर्यग्गमनानां सङ्ग्रहः । सर्वाणि कर्माण्यनित्यानि । तत्रातीन्द्रियवृत्तीनि अतीन्द्रियाणि, प्रत्यक्षवृत्तीनि च प्रत्यक्षाणि । कर्मत्वोत्क्षेपणत्वादिजातयस्तु प्रत्यक्षसिद्धा एवेति बोध्यम् ।

अथ सामान्यं निरूपयति—**अनुवृत्तीति** । द्रव्यं सत्, गुणाश्च सन्त इत्याद्यनुगतप्रतीतिः सामान्ये प्रमाणमिति भावः । तस्य लक्षणमाह—**नित्यमिति** । **एकमिति**—इदं स्वरूपकथनपरम्, यथा द्रव्यत्वमेकं गुणत्वं चैकमित्यादिः न तु लक्षणघटकं, निष्प्रयोजनत्वादित्याशयः । **अनेकानुगतम्**—अनेकसमवेतम् । तथा च नित्यत्वे सति अनेकनिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तितावत्त्वं सामान्यस्य लक्षणम् । तत्र पटादावतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम्, गगनपरिमाणादावतिप्रसङ्गवारणायानेकनिरूपितेति, अत्यन्ताभावेऽतिव्याप्तिवारणाय च समवायसम्बन्धावच्छिन्नेति । विभुद्वयसंयोगस्वीकर्तृमते तु नित्यसंयोगेऽतिप्रसङ्गवारणाय संयोगभिन्नत्वे सतीत्यपि देयम् । **परं सत्तेति**—तत्र-परं सामान्यविशिष्टसामान्यम्, वैशिष्ट्यञ्च स्वभिन्नत्वस्वव्यापकत्वोभयसम्बन्धेन, यथेत्यादिः । **बहुविषयत्वात्**—( द्रव्यत्वाद्यपेक्षया ) बह्वाश्रयकत्वात् । **मात्रपदेन** जातिमद्व्यक्तिप्रतियोगिकव्यावृत्तिप्रत्ययव्यवच्छेदः । अन्यथा सत्ताया अपि अभावात् सामान्यादितश्च व्यावृत्तिबोधकतया विशेषत्वापत्तेः । सामान्यं सद्, विशेषः सन्नित्यादिप्रतीतिस्तु एकार्थसमवायसम्बन्धेन सत्तामवगाह्योपपद्यते इति बोध्यम् । **सामान्यमात्रमिति**—न तु विशेष

---

कार घूमना, रेचन पद से पक्षी का आकाश से उतरना, स्यन्दन पद से पानी का बहना, ऊर्ध्वज्वलन पद से आग की लपट का ऊपर जाना, और तिर्यग्-गमन पद से वायु का टेढ़ा चलना विवक्षित है । कर्मत्व तथा उत्क्षेपणत्वादि जातियाँ प्रत्यक्ष सिद्ध हैं ।

अनुवृत्ति—जिसके सहारे वस्तुतः विभिन्न चीजों में समान प्रतीति होती है, वह जाति है । अथवा जो संयोग से भिन्न तथा नित्य हो और अनेकों में समवाय सम्बन्ध से रहता हो, वह जाति है । वह द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों पदार्थों में ही रहती है और पर तथा अपर के भेद से वह दो प्रकार की होती है । इनमें—

अपरं द्रव्यत्वादि। अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद् विशेषः।

अत्र कश्चिदाह। 'व्यक्तिव्यतिरिक्तं सामान्यं नास्ति' इति। तत्र

---

इति शेषः। अपरमिति—एवमपरं सामान्यविशिष्टसामान्यम्, वैशिष्ट्यञ्च स्वभिन्नत्वस्वव्याप्यत्वोभयसम्बन्धेन, यथेन्यादिः। द्रव्यत्वादीति—अत्र घटत्वादीति पाठो युक्तः, द्रव्यत्वादेः परत्वस्यापरत्वस्य च सद्भावात्। अल्पविषयत्वात्—(सत्ताऽपेक्षया) अल्पाश्रयकत्वात्। व्यावृत्तेः—पृथिव्यादयः रूपादिभ्यो भिद्यन्ते द्रव्यत्वादित्यादि-तादृशव्यावृत्तिप्रतीतेः। अपिना पृथिवी द्रव्यम्, जलञ्च द्रव्यमित्याद्यनुगतप्रतीतेः समुच्चयः। सामान्य द्विविधं, प्रत्यक्षवृत्ति, अतीन्द्रियवृत्ति च। तत्राद्यं प्रत्यक्षम्, द्वितीयञ्चातीन्द्रियम्॥ व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः। रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः॥ यथा—स्वाश्रयव्यक्तेरैक्यादाकाशत्वं, घटत्वेन तुल्यत्वात् कलशत्वञ्च न जातिः। एवं—जातित्वनिर्णायकप्रमाणाभावसहकृतात् परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणधर्मयोरेकत्रसमावेशरूपात् सङ्करात् भूतत्वमूर्त्तत्वोभयम्, अनवस्थापातात् जातित्वञ्च न जातिः। एवं—स्वतोव्यावर्त्तकत्वव्याघातात्मकरूपहान्यापत्तेः विशेषत्वम्, समवायाभावरूपादसम्बन्धात् समवायत्वाभावत्वे च न जातिः॥

अत्र—सामान्यविषये। कश्चिद्—अपोहवादी बौद्धः। वयम्—जातिवा-

---

किसी जाति की अपेक्षा से अधिक देश में रहनेवाली जो जाति, वह पर जाति है। जैसे—सत्ता। क्योंकि वह द्रव्यत्वादि जातियों की अपेक्षा से अधिक देश में रहनेवाली जाति है। एवं—किसी जाति की अपेक्षा से अल्प देश में रहनेवाली जो जाति, वह अपर जाति है। जैसे—घटत्वादि। क्योंकि वह पृथिवीत्वादि जातियों की अपेक्षा से अल्प देश में रहनेवाली जाति है। किन्तु द्रव्यत्वादि जाति पर तथा अपर भी है क्योंकि वह सत्ता जाति की अपेक्षा से अल्प देश में और घटत्वादि जातियों की अपेक्षा से अधिक देश में रहनेवाली जाति है। व्यक्त्यभेद, तुल्यत्व, सङ्कर, अनवस्था, रूपहानि और असम्बन्ध जातिबाधक होते हैं। अतः—आकाशत्व कलशत्व, भूतत्व, विशेषत्व और समवायत्वया अभावत्व जाति नहीं हैं। कुछ लोग कहते हैं कि—व्यक्ति से अतिरिक्त जाति नाम की कोई चीज नहीं है, और तद्भिन्नभिन्नत्व से ही तत् में समान प्रतीति की उपपत्ति होती है। किन्तु यह ठीक नहीं

वयं ब्रूमः । किमालम्बना तर्हि भिन्नेषु विलक्षणेषु पिण्डेष्वेकाकारा बुद्धिः, विना सर्वानुगतमेकं किञ्चित्, यच्च तदालम्बनं तदेव सामान्यमिति ।

ननु तस्यातद्व्यावृत्तिकृतैवैकाकारा बुद्धिरस्तु । तथाहि—सर्वेष्वेव हि गोपिण्डेषु अगोभ्योऽश्वादिभ्यो व्यावृत्तिरस्ति । तेनाऽगोव्यावृत्तिविषय एवाऽयमेकाकारः प्रत्ययोऽनेकेषु गोपिण्डेषु, न तु विधिरूपगोत्वसामान्यविषयः । मैवम् । विधिमुखेनैवैकाकारस्फुरणात् ।

विशेषः

१०. विशेषो नित्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः । व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुः । नित्यद्रव्याणि त्वाकाशादीनि पञ्च पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणुरूपाः ।

---

दिनो नैयायिकाः । तर्हि—व्यक्तिव्यतिरिक्तसामान्यास्वीकारे । भिन्नेष्विति—परस्परमित्यादिः ।

तत्रैकाकारबुद्धेरालम्बनमतद्व्यावृत्तिरेव न तु सामान्यमित्याशयेन बौद्धः शङ्कते—नन्विति । एवेन—सामान्यकृतत्वव्यवच्छेदः । तमुपपादयति—तथाहीति । अयम्—अयं गौरयं गौरित्ययम् । भावमात्रविषयकत्वेन प्रतिभासमानाया बुद्धेर्भावमात्रेणालम्बनेन भवितव्यं, न त्वभावेनापीत्याशयेन नैयायिकः समाधत्ते—मैवमिति । तत्रेति शेषः । एवञ्च तत्रैकाकारबुद्धेरतद्व्यावृत्तिनिमित्तकत्वासम्भवात् तन्निमित्ततया सामान्यं सिद्ध्यतीति भावः ।

अथ विशेषं निरूपयति—विशेष इति । स चान्त्योऽनन्तोऽतीन्द्रियश्च । तस्य च स्वतो व्यावृत्तत्वम् लक्षणम् । ननु विशेषसत्त्वे किम्प्रमाणमित्यत आह—व्यावृत्तीति । नित्यद्रव्यानुयोगिकनित्यद्रव्यान्तरप्रतियोगिकेत्यादिः । मात्रपदेन 'कालो विशिष्टो दिक् च विशिष्टेत्याद्यनुवृत्तिबुद्धिव्यवच्छेदः । अयमाशयः—अयं घटस्त-

---

है । क्योंकि यदि गोभिन्न-भिन्नत्व से गो में समान प्रतीति होती, तो वह निषेध-मुख से ही होती, न कि विधिमुख से । अतः मानना होगा कि—व्यक्ति से भिन्न जाति नाम की कोई वस्तु है ।

विशेषः—जो नित्य हो तथा स्वतोव्यावृत्त हो और नित्य द्रव्यमात्र में समवाय सम्बन्ध से रहता हो, वह विशेष है और नित्य द्रव्य है—आकाशादि पाँच तथा पृथिव्यादि चारों के परमाणु । यदि इस विशेष नामक पदार्थ को न माना जायगा,

## समवायः

११. अयुतसिद्धयोः संबन्धः समवायः, स चोक्त एव ।

स्माद् घटात् भिन्नो भिन्नावयवारब्धत्वादित्यनुमानेन घटादीनां द्व्यणुकान्तानां परस्परं भेदसाधनेऽपि निरवयवपरमाण्वादीनां मिथो भेदसाधनाय विशेषोऽभ्युपगम्यते, तथा चायं परमाणुः तत्परमाणुतो भिन्नः तद्विशेषादित्याद्यनुमानेन तेषां स सिद्ध्यति, अन्यथा द्व्यणुकादीनामपि परस्परं भेदासिद्ध्या घटादीनामपि तदसिद्धिप्रसङ्गः । स च विशेषः स्वत एव व्यावृत्त, तथा हि अयं विशेषस्तस्माद् विशेषाद् भिन्नः स्वस्मादित्याद्यनुमानेन विशेषाणामपि मिथो भेद सिद्ध्यतीति तदर्थं विशेषान्तरापेक्षाऽभावान्नानवस्था । स्वतो व्यावृत्तत्वञ्च-स्वप्रयोज्यत्वनिष्ठस्वसजातीयप्रतियोगिकभेदकत्वमिति ॥

अथ समवायं निरूपयति—अयुतेति । उक्त इति—उपपादित इत्यर्थः । प्रमाणलक्षणनिर्वचनावसर इत्यादि । अत्र—वैशेषिकमते घटाकाशसंयोगस्य प्रत्यक्षवारणाय सम्बन्धप्रत्यक्षे यावत्सम्बन्धिप्रत्यक्षस्य कारणत्वेन, अनन्तानामेकसमवायसम्बन्धिनामेकदा प्रत्यक्षासम्भवात् समवायस्याप्रत्यक्षतया, रूपी घट इत्यादिविशिष्टबुद्धिः विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वाद् दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिवदित्यनुमानेन, युतसिद्धयोरेव संयोग इति नियमेन संयोगबाधात्, साध्यघटकतया लाघवज्ञानसहकारादेको नित्यः समवायः सिद्ध्यति । नैयायिकमते तु तादृशसंयोगस्य प्रत्यक्षवारणाय संयोगप्रत्यक्षे यावत्सम्बन्धिप्रत्यक्षस्य हेतुतया, इह घटे घटत्वमित्यादिप्रत्यक्षेणैव तादृशः समवायः सिद्ध्यति । तस्य वृत्तितानियामकत्व

---

तो अवयवों के भेद से अवयवियों में परस्पर भेद की सिद्धि होने पर भी निरवयव द्रव्यों में परस्पर भेद की सिद्धि न हो सकेगी, और ऐसी स्थिति में अवयवियों में भी परस्पर भेद की सिद्धि न हो सकेगी, क्योंकि परमाणुओं में परस्पर भेद की सिद्धि न हो सकने के कारण द्व्यणुकों में भी परस्पर भेद की सिद्धि न हो सकेगी। अतः मानना होगा कि—एक विशेष नामक स्वतन्त्र पदार्थ है, और उसके भेद से नित्य द्रव्यों में परस्पर भेद की सिद्धि होती है। विशेषों में परस्पर भेद की सिद्धि के लिये विशेषान्तर की अपेक्षा नहीं होती है, क्योंकि वे स्वतोव्यावृत्त हैं।

अयुतसिद्धयोः—जिन दोनों के मध्य में अविनश्यदवस्थापन्न एक अपराश्रित होकर ही रहता है, वे दोनों अयुतसिद्ध कहलाते हैं। जैसे—अवयवावयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, और विशेष-नित्यद्रव्य। इन दोनों का जो

नन्ववयवाऽवयविनावप्ययुतसिद्धौ, तेन तयोः संबन्धः समवाय इत्युक्तम्। न चैतद्युक्तम्, अवयवातिरिक्तस्याऽवयविनोऽभावात्। परमाणव एव बहवस्तथाभूताः संनिकृष्टाः 'घटोऽयं, घटोऽयम्' इति गृह्यन्ते।

अत्रोच्यते। अस्त्येकः स्थूलो घट इति प्रत्यक्षा बुद्धिः। न च सा परमाणुष्वनेकेष्वस्थूलेष्वतीन्द्रियेषु भवितुमर्हति। भ्रान्तेयं बुद्धिरिति चेत्। न। बाधकाभावात्।

---

सम्बन्धः स्वरूपमेव, स्वरूपसम्बन्धत्वञ्च सम्बन्धान्तरमन्तरा विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वम्। समवायस्य लक्षणञ्च नित्यत्वे सति सम्बन्धप्रतियोग्यनुयोगिभिन्नत्वे सति सम्बन्धत्वम्, तत्र क्रमशः-संयोगे, महाकालाद्यात्मकस्वरूपसम्बन्धे, परमाण्वादौ चातिव्याप्तिवारणाय दलानीति बोध्यम्॥

बौद्धः शङ्कते—**नन्विति। अपिना** गुणगुण्यादिसमुच्चयः। नन्ववयवातिरिक्तावयविनोऽसत्त्वे घटोऽयमित्यादिप्रतीत्या को गृह्यतेत्यत आह—**परमाणव इति। तथाभूताः**—विलक्षणसंयोगमापन्ना घटीभूता। **गृह्यन्ते इति**—प्रतीयेत्यादिः।

नैयायिकः समाधातुं प्रतिजानीते—**अत्रोच्यते इति।** अवयवातिरिक्तावयविनि प्रत्यक्षमेव प्रमाणमित्याशयेन वचनकर्म निर्दिशति—**अस्तीति। परमाणुष्विति**—विलक्षणसंयोगेन घटभावमापन्नेष्वपीत्यादिः। **भ्रान्तेति**—अतस्मिंस्तद्बुद्धिरूपत्वेनेत्यादिः। **बाधकाभावादिति**—अत्रेत्यादिः। इतीति शेषः। असति बाधके ज्ञानाना भ्रमत्वे समेषां ज्ञानानां भ्रमत्वमापद्येतेति भावः।

---

सम्बन्ध, वह समवाय है, अर्थात् अवयव में अवयवी का, गुणी में गुण का, क्रियावान् में क्रिया का, व्यक्ति में जाति का और नित्यद्रव्य में विशेष का जो सम्बन्ध, वह समवाय है। इसके विषय में विशेष बातें बतलायी जा चुकी है। कुछ लोग कहते हैं कि—'अवयव में अवयवी का जो सम्बन्ध वह समवाय है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अवयव से भिन्न अवयवी नहीं है। और विलक्षण—संयोगापन्न परमाणु-पुञ्ज ही सन्निकृष्ट होने पर 'यह घट है' इस प्रतीति का विषय होता है। किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि—'यह एक स्थूल घट है' ऐसी जो प्रतीति होती है, वह-अनेक-अस्थूल-अतीन्द्रिय-परमाणुओं में नहीं हो सकती। 'वह प्रतीति भ्रम है' यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि—उसका कोई बाधक नहीं है। अतः मानना होगा कि-अवयव से भिन्न अवयवी है, और 'अवयव में जो अवयवी का सम्बन्ध,

तदेवं षट् पदार्था द्रव्यादयो वर्णिताः। ते च विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वाद् भावरूपा एव।

अभावरूपः सप्तमः पदार्थः

१२. इदानीं निषेधमुखप्रमाणगम्योऽभावरूपः सप्तमः पदार्थः प्रतिपाद्यते। स च अभावः संक्षेपतो द्विविधः। संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्चेति। संसर्गाभावोऽपि त्रिविधः प्रागभावः, प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावश्चेति।

---

प्रकृतमुपसंहरति—तदेवमिति। तस्मादुक्तप्रकारेणेत्यर्थः।

अथाभावं निरूपयितुं प्रतिजानीते—इदानीमिति। एतेन नञर्थानुल्लिखितधीविषयभावनिरूपणानन्तरं नञर्थोल्लिखितधीविषयाभावनिरूपणं सङ्गतमिति प्रत्यपादि। संसर्गाभावोऽपीति—तत्रेत्यादिः। नन्वभावाना भावातिरिक्तपदार्थत्वकल्पनापेक्षया क्लृप्तभावपदार्थरूपाधिकरणात्मकत्वमेवास्त्विति चेन्न, तथा सति वाय्वादिनिष्ठरूपाद्यभावाना चक्षुरिन्द्रियाग्राह्यवाय्वादिरूपतयाऽप्रत्यक्षत्वापत्तेः। अभावत्वमखण्डोपाधिः, संसर्गाभावत्वञ्च संसर्गारोपजन्यप्रतीतिविषयाभावत्वम्। तस्य वृत्तितानियामकश्च सम्बन्धः स्वरूपमेव। न चाभावस्य 'प्रतियोग्यनुयोगिरूप' स्वरूपसम्बन्धाभ्युपगमे घटाभाववति भूतले घटानयनानन्तरमपि नित्यघटाभावरूपप्रतियोगिनो भूतलरूपानुयोगिनश्च सत्त्वेन घटाभावसम्बन्धस्यापि सत्त्वाद् घटाभाववद्भूतलमिति बुद्धेः प्रमात्वमापद्येतेति वाच्यम्, घटाभाववद्भूतलमित्यादिप्रमाकालीनतत्तद्भूतलादेरेव तत्तदभावसम्बन्धतया तदानीं तत्कालीनतद्भूतलरूपस्वरूपसम्बन्धाभावेनादोषात्। अत्र—विरोधाद् ध्वंसप्रागभावयोरप्यधिकरणे नात्यन्ताभाव इति प्राचीनाः। तथा—विरोधे प्रमाणाभावात् तत्राप्यत्यन्ताभाव इति नवीनाः। एवम्—अभावाधिकरणकाभावमात्रम् अधिकरणात्मकमित्यन्ये। तथा—घटाभावे पटाभावोऽतिरिक्तः, घटाभावस्तु तत्राधिकरणात्मकः; भेदाधिकरणकोऽभावप्रतियोगिको भेदश्चाधिकरणरूप एव, अन्यथाऽनवस्थापातादिति परे। एवम्—अत्यन्ताभावस्यात्यन्ताभावः

---

यह समवाय है' यह कथन उचित ही है। इस तरह जिन द्रव्य आदि छः पदार्थों का वर्णन किया, वे विधिमुख प्रतीति विषय होने के कारण भावरूप ही हैं।

इदानीम्—अब निषेधमुख-प्रतीतिविषय अभावरूप सप्तम पदार्थ का प्रतिपादन करते हैं कि—अभाव दो प्रकार का है, जैसे—संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव।

उत्पत्तेः प्राक् कारणे कार्यस्याभावः **प्रागभावः** । यथा तन्तुषु पटाभावः । स चाऽनादिरुत्पत्तेरभावात् । विनाशी च कार्यस्यैव तद्विनाशरूपत्वात् ।

उत्पन्नस्य कारणेऽभावः **प्रध्वंसाभावः** । प्रध्वंसो विनाश इति यावत् । यथा भग्ने घटे कपालमालायां घटाभावः । स च मुद्गरप्रहा-

---

प्रतियोगिस्वरूपः, तस्य प्रतियोगिना विरोधात् । अन्योन्याभावस्यात्यन्ताभावस्तु प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूपः, तस्य प्रतियोगितावच्छेदकेन विरोधादित्यपरे । तथा—अभावाभावोऽभावात्मक एव, न तु प्रतियोग्याद्यात्मक इति प्राञ्चः । एवं—यत्रादौ घटाभाव, मध्ये च घट आनीतः, अन्ते च सोऽपसारितस्तत्रादावन्ते च प्रतीयमानोऽभाव उत्पादविनाशशाली चतुर्थः संसर्गाभाव इति केचित् ॥

अथ प्रागभावं लक्षयति—**उत्पत्तेरिति** । एतेन ध्वंसव्यवच्छेदः । तत्र भेदादिवृत्तित्वाभावात्तत्र व्यवच्छेदायाह—**कारणे इति** । तथा चान्योन्याभावादेः स्वप्रतियोगिकारण एव नातिप्रसङ्गः । यस्य प्रागभावस्तस्यैवोत्पत्तिरिति नियमात्—प्रागभावस्योत्पत्त्यभ्युपगमे तस्यापि प्रागभावान्तरमेवं तस्यापि प्रागभावान्तरमिति रीत्याऽनवस्था प्रसज्येतेति तस्योत्पत्तिर्नाभ्युपगम्यते इत्याशयेनाह—**उत्पत्तेरभावादिति** । प्रागभावस्य विनाशमन्तरा कार्यमेव नोपपद्येत, भावाभावयोर्विरोधादित्याशयेनाह—**विनाशी चेति** । विनाश्यभावत्वं प्रागभावस्य लक्षणमित्यन्ये ।

अथ प्रध्वंसाभावं लक्षयति—**उत्पन्नस्येति** । अनेन प्रागभावव्यावृत्तिः । तत्रात्यन्ताभावादिव्यवच्छेदायाह—**कारणे इति** । भावोत्पत्तौ समवाय्यसमवायिनिमित्ताख्यं कारणत्रयमपेक्षितम्, अभावोत्पत्तौ तु निमित्ताख्यमेकमेव कारणमित्याशयेनाह—**मुद्गरेति** । प्रध्वंसस्य विनाशित्वे नष्टकार्यस्य पुनरुत्पत्तिः प्रसज्येतेत्यभि-

---

इनमें—अन्योन्याभाव से भिन्न जो अभाव वह संसर्गाभाव है और वह तीन प्रकार का है, जैसे—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव । इनमें—किसी वस्तु की उत्पत्ति के पहले स्वसमवायि-कारण में जो उस वस्तु का अभाव, वह प्रागभाव है । जैसे—तन्तुओं में भावी पट का अभाव । प्रागभाव अनादि है, क्योंकि यदि उसकी उत्पत्ति मानी जायगी, तो उसके प्रागभाव की भी कल्पना करनी होगी और इस तरह अनवस्था दोष हो जायगा । एवं-प्रागभाव विनाशी भी है, क्योंकि उत्पन्न स्वप्रतियोगी ही उसके विनाश का स्वरूप है । तथा—उत्पन्न किसी वस्तु का जो स्वसमवायिकारण में अभाव, वह प्रध्वंसाभाव है । जैसे—कपालों में भग्न घट का

रादिजन्यः। स चोत्पत्तिमानप्यविनाशी नष्टस्य कार्यस्य पुनरनुत्पत्तेः।

त्रैकालिकोऽभावोऽत्यन्ताभावः। यथा वायौ रूपाभावः।

अन्योन्याभावस्तु तादात्म्यप्रतियोगिकोऽभावः। 'घटः पटो न भवति' इति।

तदेवमर्था व्याख्याताः।

---

प्रायेणाह—अविनाशीति। विनाशस्य प्रध्वंसित्वेऽनवस्थाऽन्यापद्येतेति भावः। जन्याभावत्वं प्रध्वंसाभावत्वमित्यन्ये। अथात्यन्ताभावं लक्षयति—त्रैकालिक इति। अनेन ध्वंसप्रागभावयोर्व्यवच्छेदः। अभाव इति—संसर्गाभाव इत्यर्थः। अन्यथाऽन्योन्याभावस्यापि नित्यत्वेन तत्रातिव्याप्तेः।

अथान्योन्याभावं लक्षयति—अन्योन्येति। तुना प्रकृते पूर्वतो वैलक्षण्यं द्योतयति। तादात्म्येति—तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक इत्यर्थः। अन्यथाऽस्यासत्तादात्म्यप्रतियोगिकत्वेन तुच्छत्वापत्तेः। घट इति— यथेत्यादिः।

एवमुपपादितं तुरीयं प्रमेयमुपसंहरति—तदेवमिति।

---

अभाव। प्रध्वंसाभाव उत्पत्तिमान् होने पर भी अविनाशी है, क्योंकि यदि उसका भी नाश माना जायगा, तो नष्ट कार्य की पुनः उत्पत्ति हो जायगी और अनवस्था दोष हो जायगा। एवं—नित्य जो संसर्गाभाव, वह अत्यन्ताभाव है। जैसे—वायु में रूप का अभाव। अत्यन्ताभाव के नित्य होने पर भी घट की सत्ता में घटात्यन्ताभाव की प्रतीति नहीं होती है, क्यों कि—'घटात्यन्ताभाववद् भूतलम्' इत्याकारक—प्रमाकालीन जो भूतल, वही घटात्यन्ताभाव का सम्बन्ध है और वह उस काल में नहीं है। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये। प्राचीन लोग कहते हैं कि—ध्वंस और प्रागभाव के अधिकरण में अत्यन्ताभाव नहीं रहता है। किन्तु नवीन लोग कहते हैं कि—वहाँ भी वह रहता है। एवं—तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक जो अभाव वह अन्योन्याभाव है। जैसे—घट पट नहीं है। अन्योन्याभाव नित्य है, क्योंकि जो जिससे भिन्न है वह उसका स्वरूप कभी नहीं हो सकता। कुछ लोग कहते हैं कि—अभाव अधिकरण स्वरूप ही है, न कि अतिरिक्त पदार्थ। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि वैसी स्थिति में-वायु को चाक्षुष प्रत्यक्ष विषय न होने के कारण उसमें रहनेवाला रूपाभाव भी चाक्षुष प्रत्यक्ष विषय न हो सकेगा, क्योंकि वह भी वायुस्वरूप ही होगा। अतः मानना होगा कि-अभाव अधिकरण स्वरूप नहीं है, किन्तु वह एक स्वतन्त्र पदार्थ है।

बुद्धिः

१३. ननु ज्ञानाद् ब्रह्मणो वा अर्था व्यतिरिक्ता न सन्ति। नैवम्। अर्थानामपि प्रत्यक्षादिसिद्धत्वेनाशक्यापलापत्वात्।

बुद्धिः उपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इत्यादिभिः पर्यायशब्दैर्योऽभिधीयते

---

अथोक्तक्रमेण प्रपञ्चितस्य द्रव्यादिपदार्थसार्थस्य विज्ञानतो ब्रह्मतो वा व्यतिरेकेण सत्त्वमसहमानौ योगाचारवेदान्तिनौ प्रत्यवतिष्ठेते—नन्विति। ज्ञानेन सहार्थोपलम्भनियमात् सकलवस्तुनः क्षणिकानेकविज्ञाने अनाद्यविद्यया कल्पिततया तस्य विज्ञानव्यतिरेकेण सत्त्वं नास्ति, किन्त्वसत्त्वमिति विज्ञानवादिबौद्धाभिप्रायः। एवं ब्रह्मज्ञानेन प्रपञ्चविलयनात् समस्तजगतो नित्यैकविज्ञानरूपे ब्रह्मण्यनाद्यज्ञानेन कल्पिततया तस्य ब्रह्मव्यतिरेकेण सत्त्व नास्ति, किन्तु सदसद्विलक्षणस्वरूपं मिथ्यात्वमिति ब्रह्मवादिनो भावः। ननु तदुभयमते लौकिकव्यवहारः कथमुपपद्यते इति चेन्न, जागरणकालेऽसता स्वाप्निकपदार्थेन स्वप्नकाले व्यवहारस्येव, 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥' इत्यादिवचनेन बोधिते परमजागरणकालेऽसता जाग्रतिकपदार्थेन जागरणकाले व्यवहारस्योपपत्तेः सम्भवात्। नैयायिकः परिहरति—नैवमिति। तत्र हेतुमाह—अर्थानामिति। अपिना ज्ञानादिपरिग्रहः। सकलवस्तुनोऽसत्त्वे तस्य गगनकुसुमस्येव प्रत्यक्षाद्यसम्भवाद् योगाचारमत न युक्तम्। न च वेदान्तिमतं सम्यक्, 'परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः' इति न्यायेन सत्त्वासत्त्वव्यतिरिक्तस्य तृतीयप्रकारस्यासम्भवात्। तथा च द्रव्यादिपदार्थाना ज्ञानादिव्यतिरेकेण सत्त्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणबलेनाभ्युपगन्तव्यमेवेत्याशयः।

अथ बुद्धिं निरूपयति—बुद्धिरिति। प्रकृतेः साक्षात्परिणामो बुद्धिः, एवं

---

ननु—योगाचार नामक बौद्ध कहते हैं कि—जैसे फेन, बुलबुला आदि जल के ही आकार विशेष हैं, न कि जल से अतिरिक्त कोई वस्तु; वैसे समस्त दृश्य वस्तुएँ क्षणिक विज्ञान स्वरूप आत्मा के ही आकार विशेष हैं, न कि ज्ञान से अतिरिक्त कोई वस्तु। एवं शाङ्कर वेदान्ती कहते हैं कि—जैसे शुक्ति में अध्यस्त रजत शुक्ति से भिन्न नहीं है, वैसे ब्रह्म में अध्यस्त संसार ब्रह्म से भिन्न नहीं है। किन्तु इन दोनों का कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा जो सांसारिक विषय सभी लोगों की प्रमा के विषय होते हैं, उनका अपलाप कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति नहीं कर सकता।

बुद्धि.—बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान और प्रत्यय आदि पर्याय शब्दों से जिसका

सा बुद्धिः। अर्थप्रकाशो वा बुद्धिः। सा च संक्षेपतो द्विविधा। अनुभवः, स्मरणं च। अनुभवोऽपि द्विविधो यथार्थोऽयथार्थश्चेति।

तत्र यथार्थोऽर्थाविसंवादी। स च प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्जन्यते। यथा चक्षुरादिभिरदुष्टैर्घटादिज्ञानम्। धूमलिङ्गज्ञानादग्निज्ञानम्। गोसादृश्यदर्शनाद् गवयशब्दवाच्यताज्ञानम्। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिवाक्याज् ज्योतिष्टोमस्य स्वर्गसाधनताज्ञानं च।

---

बुद्धे विषयाकारपरिणामो ज्ञानम्, तथा विषयाकारेण परिणममानायां बुद्धौ प्रतिबिम्बितस्य चेतनपुरुषस्य बुद्धिवृत्त्यनुकार उपलब्धिरिति साङ्ख्यमतमपाकर्त्तुम्, प्रत्ययपदेनात्र शास्त्रे सूत्रादिबोधो मा भूदिति सूचयितुञ्चाह—पर्यायेति। परस्परेत्यादिः। ज्ञानस्य ज्ञाततालिङ्गकानुमितिविषयत्वमिति मीमांसकमतं निराकर्त्तुमाह—अर्थप्रकाश इति। बुद्धिं विभजते—सा चेति। सा च विस्तरतः (साक्षात्कृत्यनुमित्यादिभेदाद्) बहुविधेति सूचयितुमाह—संक्षेपत इति।

अथ यथार्थानुभवं लक्षयति—तत्रेति।। यथार्थायथार्थानुभवयोर्मध्ये इत्यर्थः। यथार्थः—यथार्थानुभवः। अर्थाविसंवादीति—अर्थस्य अविसंवादः (अबाधः) अर्थाविसंवादः, सोऽस्त्यस्येति अर्थाविसंवादीति व्युत्पत्तिः। अनुभव इति शेषः। तस्योत्पत्तिप्रकारमाह—स चेति। यथार्थानुभवश्चेत्यर्थः। साक्षात्कृत्यनुमित्युपमितिशाब्दान्यतमो यथार्थानुभवः प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दान्यतमप्रमाणेन यथासम्भवं जन्यते इत्याशयः। उदाहरणैस्तं स्पष्टयति—यथेति। ज्ञानमिति—जन्यते इत्यनुपज्यते। एवमग्रेऽपि।

---

अभिधान होता है वह बुद्धि है,। अथवा अर्थ का प्रकाशन जिससे होता है, वह बुद्धि है। वह दो प्रकार की है, जैसे—अनुभव और स्मरण। इनमें-अनुभव भी दो प्रकार का है, जैसे—यथार्थ और अयथार्थ। इनमें—जो वस्तु जहाँ और जैसी हो उस वस्तु का वहीं और उसी प्रकार से जो अनुभव वह यथार्थानुभव है और वह प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों से उत्पन्न होता है। जैसे—अदुष्ट चक्षु आदियों से होनेवाला घट आदियों का ज्ञान, धूम हेतु से होनेवाला अग्नि का ज्ञान, गोसादृश्य दर्शन से होनेवाला गवयशब्द-वाच्यता का ज्ञान और 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्य से होनेवाला ज्योतिष्टोम याग में स्वर्गसाधनता का ज्ञान। अथवा दोषाभाव सहकृत गुणों से जन्य जो अनुभव, वह यथार्थानुभव है। वह प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्दबोध के भेद से चार प्रकार का

**अयथार्थस्तु** अर्थव्यभिचारी अप्रमाणजः। स त्रिविधः **संशयः, तर्को, विपर्ययश्चेति**। संशयतर्कौ वक्ष्येते।

विपर्ययस्तु अतस्मिंस्तद्ग्रहः। भ्रम इति यावत्। यथा पुरोवर्तिन्यरजते शुक्त्यादौ रजतारोप 'इदं रजतम्' इति।

स्मरणमपि **यथार्थम्, अयथार्थं** चेति द्विविधम्। तदुभयं जा-

---

अथायथार्थानुभवं लक्षयति—**अयथार्थ** इति। अयथार्थानुभव इत्यर्थः। तुनात्र पूर्वस्माद्वैलक्षण्यं सूचयति। **अर्थव्यभिचारीति**—अर्थस्य व्यभिचारः (बाधः) अर्थव्यभिचारः, सोऽस्यास्तीति अर्थव्यभिचारीति व्युत्पत्तिः। **अप्रमाणजः**—प्रमाणाभास(दुष्टचक्षुरादि) जः। तस्य भेदमाह—**स** इति। अयथार्थानुभव इत्यर्थः। **संशयेति**—तत्रेत्यादिः। **वक्ष्येते** इति—तयोः प्रमाणप्रमेयेति सूत्रे साक्षादेवोद्देशादिति शेष.।

अथ विपर्ययं लक्षयति—**विपर्यय** इति। विपर्ययपदार्थमाह—**भ्रम** इति। तमुदाहरति—**यथेति**।

अथ स्मरणं विभजते—**स्मरणमिति**। अनुभववदित्यादिः। ननु कदा तदुभयं सम्भवति, कदा च तयोरन्यतरत् सम्भवतीत्यत आह—**तदुभयमिति**। यथार्थानुभवजनितं यथार्थस्मरणम्, अयथार्थानुभवजनितमयथार्थस्मरणञ्चेत्युभयमि-

---

है। इनमें-प्रत्यक्ष के लिये विशेषण युक्त विशेष्य के साथ जो इन्द्रिय का सन्निकर्ष, वह गुण है, अनुमिति के लिये साध्ययुक्त धर्मी में जो परामर्श, वह गुण है, उपमिति के लिये वाच्य में सादृश्य का ज्ञान, गुण है और शाब्दबोध के लिये विशेष्य में विशेषण का यथार्थ-ज्ञानस्वरूप यथार्थ योग्यताज्ञान, गुण है। एवं—जो वस्तु जहाँ न हो या जैसी न हो उस वस्तु का वहाँ या उस प्रकार से जो अनुभव वह अयथार्थानुभव है। अथवा गुणाभाव सहकृत दोषों से जन्य जो अनुभव वह अयथार्थानुभव है। वह तीन प्रकार का है, जैसे-संशय, तर्क और विपर्यय। इनमें-संशय और तर्क का विवेचन यथास्थान करेंगे। जो वस्तु जहाँ न हो या जैसी न हो उस वस्तु का वहाँ या उस प्रकार से जो निश्चयात्मक अनुभव, वह विपर्यय है। जैसे—सीप में जो 'यह चाँदी है' ऐसा निश्चय, वह विपर्यय है। रजतस्मरणात्मक ज्ञानलक्षणा नामक अलौकिक एवं सीप के साथ चक्षु संयोगात्मक लौकिक इन दोनों सन्निकर्षों से इस विपर्यय की उत्पत्ति होती है। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये। एवं-संस्कारमात्र से जन्य जो ज्ञान, वह स्मरण है। वह दो प्रकार का है, जैसे—यथार्थ और

गरे। स्वप्ने तु सर्वमेव ज्ञानं स्मरणमयथार्थं च। दोषवशेन तदिति स्थान इदमित्युदयात्।

सर्वं च ज्ञानं निराकारमेव। न तु ज्ञानेऽर्थेन स्वस्याकारो जन्यते, साकारज्ञानवादनिराकरणात्। अत एवाकारेणार्थानुमानमपि निर-

---

स्यर्थ.। जागरे—जागरणकाले। स्वप्ने—स्वप्नसमये। स्मरणमिति—तदा अननुभूतविषयकज्ञानस्योदयासम्भवेन दृश्यमानज्ञानस्यानुभूतविषयकत्वनियमेन संस्कारमात्रजन्यत्वादिति शेष। केचित्तु "अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात् करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्" इति नैषधमहाकाव्यपद्यांशम् प्रमाणतया मन्यमाना. स्वप्नकालेऽननुभूतविषयकमपि प्रत्यक्षात्मक ज्ञानं जायते इत्यभिप्रयन्ति। तस्यायथार्थत्वे हेतुमाह—दोषवशेनेति। असन्निहितानां कामिन्यादीना सन्निहितत्वेन भासमानत्वादिति भाव.। पुरीतद्भिन्नदेशावच्छिन्नेन मनसा आत्मन संयोगस्य ज्ञानकारणत्वात्, सुषुप्तौ मनस. पुरीतति वृत्तितया तादृशेन मनसा आत्मनः संयोगस्याभावात् ज्ञानं न जायते। स्वप्ने तु मनस. पुरीतद्भिन्नदेशेऽवस्थानात्तादृशेन मनसाऽऽत्मन. संयोगस्य सत्त्वात् ज्ञानं भवतीति बोध्यम्।

विषयेण ज्ञाने स्वाकारस्य समर्पणात् सर्वं ज्ञान साकारम्, तथा ज्ञानाकारेण विषयस्यानुमानात् तस्यानुमेयत्वमिति बौद्धमतं प्रतिक्षेप्तु प्रतिजानीते—सर्वमिति। एवव्यवच्छेद्यमाह—न त्विति। कुत इत्यतआह—साकारेति। अतीतानागतविषयेण ज्ञाने स्वाकारस्य समर्पणासम्भवेनेत्यादिः। अत एव—ज्ञानस्य निराकारत्वादेव। आकारेणेति—ज्ञानस्येत्यादिः। तन्निरासे द्वितीयं हेतुमाह—प्रत्यक्षेति। तथेत्यादि। सिद्धसाधनरूपदूषणापत्तिभीत्यापि प्रत्यक्षसिद्धं वस्त्व-

---

अयथार्थ। इनमें—यथार्थानुभव-जनित संस्कारमात्र से जन्य जो स्मरण, वह यथार्थ स्मरण है और अयथार्थानुभवजनित संस्कारमात्र से जन्य जो स्मरण, वह अयथार्थ स्मरण है। जागरण काल में उक्त दोनों प्रकार के स्मरण होते हैं। किन्तु स्वप्नकाल में सभी ज्ञान अयथार्थ-स्मरणात्मक ही होते हैं। क्योंकि वहाँ दोषवश तत् के स्थान में इदम् की प्रतीति होती है।

सर्वञ्च—सभी ज्ञान निराकार ही होते हैं, न कि विषयों के आकार से आकार वाले ज्ञान होते हैं। क्योंकि अतीतानागत-विषयक ज्ञान अविद्यमान विषयों के आकार से आकारवाले नहीं हो सकते। अतः ज्ञान के आकार से अर्थ के आकार

स्तम् । प्रत्यक्षसिद्धत्वाद् घटादेः । सर्वं ज्ञानमर्थनिरूप्यम्, अर्थप्रतिबद्धस्यैव तस्य मनसा निरूपणात् । 'घटज्ञानवानहम्' इत्येतन्मात्रं गम्यते, न तु 'ज्ञानवानहम्' इत्येतावन्मात्रं ज्ञायते ।

मनः

१४. अन्तरिन्द्रियं मनः । तच्चोक्तमेव ।

प्रवृत्तिः

१५. प्रवृत्तिः धर्माऽधर्ममयी यागादिक्रिया, तस्या जगद्व्यवहारसाधकत्वात् ।

---

नुमातुं न शक्यते इत्याशयः । ननु ज्ञानानां साकारत्वाभावे कथन्तेषां मिथो भेद उपपद्येतेत्यत आह—**सर्वं ज्ञानमिति** । निराकाराणामपि ज्ञानानां विषयैः सम्बन्धात्तेषाम्परस्परम्भेद उपपद्यते इति भावः । उक्तञ्च—'अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्' इति । कुत इत्यत आह—**अर्थ-प्रतिबद्धस्येति** । अर्थसम्बद्धस्येत्यर्थः । **तस्य**—ज्ञानस्य । निरूपणप्रकारं दर्शयति—**घटज्ञानेति** । एतेनार्थस्य प्रत्यक्षविषयत्वेऽपि प्रमाणं दर्शितम् । **गम्यते, ज्ञायते इति**—अनुव्यवसीयते इत्यर्थः ।

अथ मनो निरूपयति—**अन्तरिति** । ननु कान्यस्य लक्षणप्रमाणादीनीत्यत आह—**तच्चेति** । लक्षणप्रमाणादिमत्तया द्रव्यनिरूपणसमये इति शेषः ।

अथ प्रवृत्तिं निरूपयति—**प्रवृत्तिरिति** । शरीरादेरिति शेषः । **धर्माधर्ममयी**—पुण्यापुण्यजनिका । अत्र गौतमसूत्रम्—'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः' इति । तत्र-बुध्यतेऽनेनेति बुद्धिरिति व्युत्पत्त्या बुद्धिशब्दो मनःपरः । शरीरशब्दश्च चेष्टावत्त्वेन हस्तादिसाधारणः । आरम्भशब्दश्च द्वन्द्वान्ते वर्त्तमानात्प्रत्येकमन्वेतीति

---

का अनुमान होता है यह कथन भी ठीक नहीं है । क्योंकि घटादियों के आकार प्रत्यक्ष सिद्ध हैं । किन्तु सभी ज्ञान विषयनिरूप्य होते हैं । क्योंकि विषय-सम्बद्ध ही ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष होता है । जैसे—सभी लोग 'मैं घटज्ञान वाला हूँ, ऐसा ही प्रत्यक्ष करते हैं, न कि 'मैं ज्ञानवाला हूँ, ऐसा ।

अन्त.—शरीर के भीतर में रहनेवाला जो इन्द्रिय, वह मन है । इसके विषय में विशेष बातें बतलायी जा चुकी हैं ।

प्रवृत्ति—धर्म और अधर्म को पैदा करनेवाली जो याग और हिंसा आदि क्रिया, वह प्रवृत्ति है । क्योंकि वह संसार के व्यवहारों की साधिका है । प्रवृत्ति तीन

दोषाः

१६. दोषाः राग-द्वेष-मोहाः। रागः इच्छा। द्वेषो मन्युः क्रोध इति यावत्। मोहो मिथ्याज्ञानं विपर्यय इति यावत्।

---

वागारम्भ-बुद्ध्यारम्भ-शरीरारम्भभेदेन त्रिविधा प्रवृत्तिः। तत्र-वचनानुकूलो यत्नो वागारम्भः, शरीरगोचरचेष्टानुकूलो वा यत्नः शरीरारम्भः, एतद्द्वयभिन्नश्च यत्नो बुद्ध्यारम्भः। अनुचितदोषैः प्रेरितः-शरीरेण हिंसास्तेयनिषिद्धमैथुनान्याचरति, वाचाऽनृताहितपरुषसूचनासम्बद्धानि वदति, मनसा च परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यञ्च भावयति। इयं दशविधा प्रवृत्तिरधर्माय। एवम्-उचितदोषैः प्रेरितः-शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणञ्च करोति, वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायञ्च वदति, मनसा च दयामस्पृहां श्रद्धाञ्चाचरति। इयं दशविधा प्रवृत्तिर्धर्मायेति भावः। ननु प्रवृत्तेर्धर्माधर्मजनकत्वे तस्या जगद्व्यवहारहेतुत्वं स्यादित्यत्रेष्टापत्त्या समाधत्ते—**तस्या इति।**

अथ दोषान् निरूपयति—**दोषा इति।** अत्र गौतमसूत्रम्-'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' इति। तत्र-प्रवर्तना (प्रवृत्तिजनकत्वम्) लक्षणं येषान्ते प्रवर्तनालक्षणा इति व्युत्पत्तिः। इदं दोषलक्षणम्-लौकिकमानसप्रत्यक्षविषयत्वेन प्रमान्यत्वेन च विशेषणीयम्, अन्यथा शरीरादृष्टादौ यागादिगोचरप्रमायाञ्चातिव्याप्तिः प्रसज्येत। दोषाः इति बहुवचनान्तेन निर्देशः रागद्वेषमोहात्मकत्वदयत्रयसूचनायेति भावः।

---

प्रकार की होती है, जैसे—कायिक, वाचिक और मानस। इनमें—कायिक प्रवृत्ति छः प्रकार की होती है। जिनमें—प्रथम तीन से पाप होते हैं, जैसे—हिंसा, चोरी और व्यभिचार। एवं-द्वितीय तीन से पुण्य होते हैं, जैसे—दान, रक्षा और सेवा। तथा-वाचिक प्रवृत्ति आठ प्रकार की होती है। जिनमें—प्रथम चार से पाप होते हैं, जैसे—असत्य, अहित, कठोर और चुगली। और-द्वितीय चार से पुण्य होते हैं, जैसे—सत्य, हित, प्रिय और स्वाध्याय। एवं-मानस प्रवृत्ति छः प्रकार की होती है। जिनमें—प्रथम तीन से पाप होते हैं, जैसे—परद्रोह, परधन—लिप्सा और नास्तिकता। और-द्वितीय तीन से पुण्य होते हैं, जैसे—दया, अस्पृहा और श्रद्धा।

दोषा—जिनसे प्रवृत्ति हो वे दोष हैं। वे तीन प्रकार के हैं, जैसे—राग, द्वेष और मोह। इनमें राग इच्छा है, द्वेष क्रोध है और मोह मिथ्याज्ञान है। मोह को राग और द्वेष के समान साक्षात्प्रवृत्ति जनक न होने पर भी मूढ की ही राग और द्वेष से प्रवृत्ति होती है इस आशय से यहाँ मोह पद का उपादान है, और यहाँ प्रवृत्ति पद से निवृत्ति भी विवक्षित है, क्योंकि द्वेष से निवृत्ति ही होती है, न कि प्रवृत्ति।

प्रेत्यभावः

१७. पुनरुत्पत्तिः **प्रेत्यभावः** । स चात्मनः पूर्वदेहनिवृत्तिः, अपूर्वदेहसङ्घातलाभः ।

फलम्

१८. **फलं** पुनर्भोगः, सुखदुःखाऽन्यतरसाक्षात्कारः ।

पीडा

१९. **पीडा** दुःखम् । तच्चोक्तमेव ।

---

अथ प्रेत्यभावं निरूपयति—**पुनरिति** । प्रेत्य मृत्वा, भावो जन्म-प्रेत्यभावः । अत्र पुनःपदोपादानेनाभ्यासबोधनात्-प्रागुत्पत्तिः, ततो मरणम्, तत उत्पत्तिरितिरूपः प्रेत्यभावः सूचितः । स चानादिरपवर्गान्तः । ननु नित्यस्यात्मनः कीदृशः प्रेत्यभावः सम्भवतीत्यत आह—**स चेति** । वस्तुतस्तु-प्राणपूर्वशरीरविभागो मरणम्, तथा-प्राण-परशरीराद्यसंयोगो जन्मेति भावः ।

अथ फलं निरूपयति—**फलमिति** । **पुनरिति** वाक्यालङ्कारे । भोगपदं विवृणोति—**सुखदुःखेति** । इदं मुख्यं फलम्, गौणं फलन्तु शरीरादिकं सर्वमेव । अत एव वात्स्यायनेन स्वभाष्ये-'सुखदुःखसंवेदनं फलम्,............तत्पुनर्देहेन्द्रियविषयबुद्धिषु सतीषु भवतीति सह देहादिभिः फलमभिप्रेतम्' इति प्रत्यपादि ।

अथ दुःखं निरूपयति—**पीडेति** । नन्वेतेन स्वरूपतो दुःखं निर्दिशता लक्षणतस्तत् कथन्नोक्तमित्यत आह—**तच्चेति** । लक्षणतो गुणनिरूपणकाले इति शेषः ।

---

पुनः—मर कर जन्म लेना, प्रेत्यभाव है । पूर्व-देहादियों की निवृत्ति, मरना है और पर-देहादियों की प्राप्ति, जन्म लेना है । पुनः पदसे सूचित करते हैं कि—'पहले उत्पत्ति, तब मरण, तब फिर उत्पत्ति, इस तरह की जो जन्म-मरणपरम्परा, वह अनादि और अपवर्गान्त है ।

फलम्—फल दो प्रकार का है, जैसे—मुख्य और गौण । इनमें—सुख या दुःख का साक्षात्कार रूप जो भोग, वह मुख्य फल है और शरीर, इन्द्रिय तथा विषय गौण फल हैं । क्योंकि इनके रहने पर ही भोग होता है । सभी फल पाप या पुण्य के अनुसार मिलते है ।

पीडा—कोई भी प्राणी जिसको नहीं चाहता है, वही दुःख है । इसके विषय में विशेष बातें बतलायी जा चुकी हैं ।

अपवर्गः

२०. मोक्षोऽपवर्गः । स चैकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः । एकविंशतिप्रभेदास्तु शरीरं, षडिन्द्रियाणि, षड्विषयाः, षड्बुद्धयः, सुखं, दुःखं चेति गौणमुख्यभेदात् । सुखं तु दुःखमेव दुःखानुषङ्गित्वात् । अनुषङ्गोऽविनाभावः । स चायमुपचारो मधुनि विषसंयुक्ते मधुनोऽपि विषपक्षनिक्षेपवत् ।

स पुनरपवर्गः कथं भवति ।

---

अथापवर्गं निरूपयति—मोक्ष इति । निवृत्तेरात्यन्तिकत्वञ्च-निवृत्तसजातीयस्य पुनस्तत्रानुत्पादः । ननु दुःखस्यैकविंशतिप्रभेदाः कथमित्यत आह-एकविंशतिप्रभेदास्त्विति । दुःखस्येत्यादि । दुःखायतनत्वेन शरीरस्य तथा दुःखसाधनत्वेन षण्णाम् घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनसामिन्द्रियाणाम् , षण्णां गन्धरसरूपस्पर्शशब्देच्छादीनां विषयाणाम् , षण्णां घ्राणजरासनचाक्षुषत्वाचश्रावणमानसानां ज्ञानानाञ्च ( गौणवृत्त्या ), तथा पीडात्मकत्वेन दुःखस्य ( मुख्यवृत्त्या ) दुःखपदव्यपदेशयोग्यत्वमित्याशयः । ननु सुखं कथं दुःखपदव्यपदेशयोग्यमित्यत आह—सुखमिति । अपीति शेषः । दुःखमेव—( गौणवृत्त्या ) दुःखपदव्यपदेशयोग्यमेव । यथा विषसम्पृक्ते मधुनि विषपदप्रयोगस्तथा दुःखसम्बद्धे सुखे दुःखपदप्रयोग इत्याशयेनाह—सचायमिति । उपचारः—सुखे दुःखसम्पृक्ते सति मुख्यौपचारिकदुःखपदप्रयोगविषयता । संयुक्ते इति—सतीति शेषः । विषपक्षनिक्षेपवत्—औपचारिकविषपदप्रयोगविषयतेव । यथा मधुनि विषसंयुक्ते सति विषं विहाय ( केवलं ) मधु पातुं न शक्यमित्यतो विषं जिहासता मध्वपि हेयम् , तथा सुखे दुःखसम्बद्धे सति दुःखं विहाय ( केवलं ) सुखं भोक्तुं न शक्यमित्यतो दुःखं जिहासता सुखमपि हेयमित्याशयः ।

---

मोक्ष —इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिकनिवृत्ति-रूप जो मोक्ष, वह अपवर्ग है । इक्कीस दुःखों में-दुःख के आयतन होने के कारण-शरीर, दुःख के साधन होने के कारण—चक्षु आदि छः ज्ञानेन्द्रियाँ, रूप आदि छः उनके विषय तथा चाक्षुष आदि छः उनके ज्ञान, एवं दुःखसम्पृक्त होने के कारण-सुख ये कुल बीस,

उच्यते । शास्त्राद्विदितसमस्तपदार्थतत्त्वस्य, विषयदोषदर्शनेन विरक्तस्य मुमुक्षोः, ध्यायिनो ध्यानपरिपाकवशात् साक्षात्कृतात्मनः क्लेशहीनस्य निष्कामकर्मानुष्ठानादनागतधर्माधर्मावनर्जयतः पूर्वोपात्तं च धर्माधर्मप्रचयं योगर्धिप्रभावाद् विदित्वा, समाहृत्य भुञ्जानस्य पूर्वकर्मनिवृत्तौ वर्तमानशरीरापगमेऽपूर्वशरीराभावाच्छरीराद्येकविंशतिदुःख-

---

श्रवणं दर्शयति-**शास्त्रादिति**। मननं दर्शयति—**विषयेति** । निदिध्यासनोपयोगिवैराग्यमुमुक्षुत्वे दर्शयति—**विरक्तस्य मुमुक्षोरिति** । निदिध्यासनं दर्शयति—**ध्यायिन इति**। निष्कामकर्मानुष्ठानोपयोगि आत्मसाक्षात्कारफलमाह—**क्लेशहीनस्येति**। अविद्या ( मिथ्याज्ञान ) स्मितारागद्वेषाभिनिवेशात्मकपञ्चक्लेशरहितस्येत्यर्थः । ननु क्रियमाणकर्मसत्त्वे कथमपूर्वशरीरासम्बन्ध इत्यत आह—**निष्कामेति**। ननु सञ्चितकर्मसत्त्वे कथम्पूर्वशरीरापगमोऽपूर्वशरीरासम्बन्धश्चेत्यत आह—**पूर्वोपात्तमिति**। समाहरणहेतुमाह—**विदित्वेति**। 'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि मनुजेश्वर ! प्राप्य योगबलं कुर्यात्तैश्च सर्वमिहाचरेत् ॥ भुञ्जीत विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् । संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यस्तेजोगणानिव' ॥ इत्याद्यनुसारेणाह—**समाहृत्येति**। एतावता 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इत्यादयोऽप्यनुगृहीताः । वस्तुतस्तु—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' इत्यादिश्रुतिस्मृत्यनुरोधात्-तत्त्वज्ञानेन सञ्चितकर्मणः, तथा भोगेन प्रारब्धकर्मणः क्षयो वेदितव्यः । अत्र गौतमसूत्रम्—'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' इति । तस्य—तस्य दुःखस्य, अत्यन्तविमोक्षः स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालीनध्वंसः,

---

गौण दुःख है और दुःख मुख्य दुःख है । प्रश्न—वह मोक्ष कैसे होता है ? उत्तर—जब मनुष्य गुरु से शास्त्रों के द्वारा सकल-पदार्थों को जान कर मनन करने के समय में विषयों में अनन्त-दोषों के ज्ञान से वैराग्य प्राप्त कर मुमुक्षु बना हुआ परमात्मा का ध्यान करता है और ध्यान के परिपाक से प्राप्त परमात्म-साक्षात्कार के द्वारा मिथ्याज्ञानादि-क्लेश रहित होने के कारण निष्काम-कर्मानुष्ठान से अग्रिम पाप या पुण्य का उपार्जन नहीं करता हुआ योगज-सन्निकर्ष से ज्ञात प्राक्तन-पुण्य-पाप-समूह को योगबल से रचित विभिन्न शरीरों के द्वारा भोगता है, तब वह अपने सभी धर्माधर्मों की निवृत्ति हो जाने के कारण वर्त्तमान शरीर के छूटने पर नवीन शरीर के

सम्बन्धो न भवति कारणाभावात् । योऽयमेकविंशतिप्रभेदभिन्नदुःखहानिर्मोक्षः सोऽपवर्ग इत्युच्यते ।

## ३ संशयः

इदानीं संशयमेवाह-एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्थावमर्शः संशयः, स च त्रिविधः। विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः, विप्रतिपत्तिजः, असाधारणधर्मजश्चेति। तत्रैको विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः। यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। एकस्मिन्नेव हि पुरोवर्तिनि द्रव्ये स्थाणुत्वनिश्चायकं वक्रकोटरादिकं पुरुषत्वनिश्चायकं च शिरःपाण्यादिकं विशेषमपश्यतः स्थाणुपुरुषयोः समानधर्ममूर्ध्वत्वादिकं च पश्यतः पुरुषस्य

---

स इत्यर्थः। आत्यन्तिको दुःखप्रागभावो मोक्ष इति प्रभाकरः। दुःखात्यन्ताभावः स इति लीलावतीकारः। नित्यसुखस्याभिव्यक्तिर्मुक्तिरिति भट्टः। अविद्यानिवृत्तिर्ब्रह्मात्मतावाप्तिर्वा सेति वेदान्तिनः। इति दिक्।

इत्थं निरूपितेन प्रमेयजातेन निरूपिता सङ्गतिं निरूपयिष्यमाणसंशये दर्शयति—इदानीमिति। यदा प्रमेयनिरूपणमवसितन्तदेत्यर्थः। संशयं लक्षयति—एकस्मिन्निति। एकत्र विरुद्धानेककोट्यवगाहि ज्ञानं संशय इत्यर्थः। वस्तुतो नेदं संशयलक्षणम्, अस्य 'किमिदम्?' इत्याद्याकारकसंशयेऽव्याप्तेः; किन्तु जिज्ञासाजनकज्ञानं संशय इति बोध्यम्। ननु संशयः कतिविध इत्यतआह—स चेति। तत्र—विशेषादर्शने सतीति प्रत्येकमन्वेति। तथा—समानधर्म = साधारणधर्मः, विप्रतिपत्ति = विरुद्धार्थप्रतिपादकवचनद्वयम्, असाधारणधर्मश्च = सजातीय—विजातीयव्यवच्छेदकधर्म इति बोध्यम्। असाधारणधर्मजश्चेति-असाधारणधर्मदर्शनजश्चेत्यर्थः। तत्र—तेषाम्मध्ये। एकः—प्रथमः संशयः। एकस्मिन्निति—तथाहीत्यादिः। हिः—वाक्यालङ्कारे। तु—च। तयोरिति—

---

नहीं मिलने से उक्त इक्कीश प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप मोक्ष को प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है।

इदानीं संशयमाह—एक धर्मी में विरुद्ध-अनेक-कोटिक जो ज्ञान, वह संशय है, और वह तीन प्रकार का होता है, जैसे—समानधर्मदर्शनजन्य, विप्रत्तिपत्तिजन्य और असाधारणधर्मज्ञानजन्य। इनमें—प्रथम वह है, जो कि—आगे में विद्यमान एक वस्तु में वृक्षत्व-निश्चायक वक्रकोटरादि तथा पुरुषत्वनिश्चायक हस्तमस्त-

भवति संशयः 'किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा, इति । द्वितीयस्तु संशयो विशेषादर्शने सति विप्रतिपत्तिजः । स यथा—शब्दो नित्य उतानित्य इति, तथाह्येको ब्रूते 'शब्दो नित्यः' इति । अपरो ब्रूते, 'शब्दोऽनित्यः' इति । तयोर्विप्रतिपत्त्या मध्यस्थस्य पुंसो विशेषमपश्यतो भवति संशयः 'किमयं शब्दो नित्य उतानित्यः' इति । तृतीयोऽसाधारणधर्मजस्तु संशयः । यथा नित्यादनित्याच्च व्यावृत्तेन भूमात्रासाधारणेन गन्धवत्त्वेन विशेषमपश्यतो भुवि नित्यत्वाऽनित्यत्वसंशयः । तथाहि सकलनित्यव्यावृत्तेन गन्धवत्त्वेन योगाद् 'भूः किमनित्या उत सकलानित्यव्यावृत्तेन तेनैव योगान्नित्या' इति संशयः ।

---

तत इत्यादिः । तृतीय इति—तृतीयस्तु ( च ) संशयः ( विशेषादर्शने सति ) असाधारणधर्म(दर्शन)ज इत्यन्वयः । गन्धवत्त्वेनेति—ज्ञातेनेति शेषः । तेनैव—गन्धवत्त्वेनैव । संशयोत्तरप्रत्यक्षम्प्रति विशेषदर्शनं हेतुः । यथा—अयं स्थाणुः पुरुषो वेति संशयोत्तरमयं पुरुष एवेति प्रत्यक्षम्प्रति पुरुषत्वव्याप्यकरचरणादिमानयमिति विशेषदर्शनं कारणम् । तत्र तस्य कारणता च—संशयविरोधित्वेन, संशयविरोधिसामग्रीत्वेन वा । अत एवान्धकारवति गृहे घटसंशयानन्तरं व्याप्यदर्शनमन्तराऽपि आलोकसंयोगाद् घटप्रत्यक्षम्भवतीति बोध्यम् ॥

---

कादि के नहीं देखने से और वृक्षपुरुष-समानधर्म ऊर्ध्वत्वादि के देखने से 'यह वृक्ष है या पुरुष' ऐसा संशय होता है । एवं—द्वितीय वह है, जो कि—एक व्यक्ति के 'शब्द नित्य है' ऐसे वाक्य तथा द्वितीय व्यक्ति के 'शब्द अनित्य है' ऐसे वाक्य के सुनने से और शब्द में नित्यत्व या अनित्यत्व के निश्चायक किसी विशेष के नहीं देखने से 'शब्द नित्य है या अनित्य' ऐसा संशय होता है । तथा-तृतीय वह है, जो कि—पृथवी में नित्यानित्य-व्यावृत्त पृथिवीमात्रवृत्ति गन्ध के जानने से और उसमें नित्यत्व या अनित्यत्व के निश्चायक किसी विशेषके नहीं देखने से 'पृथिवी नित्य है या अनित्य' ऐसा संशय होता है । वस्तुतस्तु-जिज्ञासाजनक जो ज्ञान, वह संशय है, और वह निष्कोटिक या अनेककोटिक होता है । अन्यथा 'यह क्या है' ऐसा ज्ञान संशय नहीं हो सकेगा ।

## ४ प्रयोजनम्

येन प्रयुक्तः पुरुषः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् । तच्च सुखदुःखावाप्तिहानी । तदर्था हि प्रवृत्तिः ( स्वस्थस्य ) सर्वस्य ।

## ५ दृष्टान्तः

वादिप्रतिवादिनोः संप्रतिपत्तिविषयोऽर्थो दृष्टान्तः । स च द्विविधः । एकः साधर्म्यदृष्टान्तो यथा धूमवत्त्वस्य हेतोर्महानसम् । द्वितीयस्तु वैधर्म्यदृष्टान्तः । यथा तस्यैव हेतोर्महाह्रद इति ।

---

अथ प्रयोजनं लक्षयति—**येनेति** । यदिच्छयेत्यर्थः । अत एवाह—'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते' इति । **तदर्था**—सुखावाप्ति-दुःखहानिप्रयोजनिका । हि—यतः । **सर्वस्येति**—स्वस्थस्येति शेषः । अत्र—सुख-दुःखाभावयोरन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वान्मुख्यप्रयोजनत्वम् तथा तदुपायस्य तदिच्छाधीनेच्छाविषयत्वाद् गौणप्रयोजनत्वमिति बोध्यम् ।

अथ दृष्टान्तं निरूपयति—**वादिप्रतिवादिनोरिति । सम्प्रतिपत्तिविषयः**—समानबुद्धिविषयः ( साध्यसाधनोभयप्रकारक-तदभावद्वयप्रकारकान्यतरनिश्चयविषयः ) । वादी यमर्थं यथा जानाति, तमर्थं तथैव यदि प्रतिवाद्यपि जानाति, तर्हि सोऽर्थो दृष्टान्तो भवतीति भावः । **एक इति**—तयोरित्यादिः । यत्रार्थे वादिप्रतिवादिनोः साध्यसाधनोभयसहचारविषयकबुद्धेः साम्यं सोऽर्थः साधर्म्यदृष्टान्तः । —एवं—यत्रार्थे तयोः साध्याभावसाधनाभावोभयसहचारविषयकबुद्धेः साम्यं सोऽर्थो वैधर्म्यदृष्टान्तः । **तस्यैव**—धूमवत्त्वस्यैव ।

---

येन प्रयुक्त—कोई भी प्राणी जिसकी इच्छा से किसी भी कार्य को करने के लिये प्रवृत्त होता है वह प्रयोजन है, और वह दो प्रकार का है, जैसे—मुख्य तथा गौण । इनमें—सुख और दुःखाभाव मुख्य प्रयोजन हैं । तथा उन दोनों के साधन गौण प्रयोजन हैं ।

वादिप्रतिवादिनोः—वादी और प्रतिवादी के साध्यसाधनोभयप्रकारक या साध्याभावसाधनाभावद्वयप्रकारक निश्चय का जो विषय, वह दृष्टान्त है, और वह दो प्रकार का है, जैसे—अन्वयी तथा व्यतिरेकी । इनमें—पर्वत में धूम हेतु से अग्नि के साधन करने के समय में प्रतिपादित जो महानस दृष्टान्त है, वह अन्वयी दृष्टान्त है । एवं उसी समय में कथित जो महाह्रद दृष्टान्त, वह व्यतिरेकी दृष्टान्त है ।

## ६ सिद्धान्तः

प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः । स चतुर्धा सर्वतन्त्र–प्रतितन्त्र–अधिकरण–अभ्युपगमसिद्धान्तभेदात् । तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तो यथा धर्मिमात्रसद्भावः । द्वितीयो यथा नैयायिकस्य मते 'मनस इन्द्रियत्वम्' । तद्धि समानतन्त्रे वैशेषिके सिद्धम् । तृतीयो यथा 'क्षित्यादिकर्तृसिद्धौ कर्तुः सर्वज्ञत्वम्' । चतुर्थो यथा जैमिनीयस्य शब्दनि-

---

अथ सिद्धान्तं लक्षयति—**प्रामाणिकत्वेनेति** । **सर्वतन्त्रप्रतितन्त्रेति**—अत्र-तन्त्रपदं 'तन्त्र्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते पदार्था अनेने'ति व्युत्पत्त्या शास्त्रपरम् । तथा-सिद्धान्तपदस्य द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात्प्रत्येकमन्वयः । एवञ्च-सर्वतन्त्रसिद्धान्त–प्रतितन्त्रसिद्धान्ताधिकरणसिद्धान्ताभ्युपगमसिद्धान्तभेदादित्यर्थः ॥ सर्वतन्त्राविरुद्धः स्वतन्त्रेऽविकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः । यथा घ्राणादीनीन्द्रियाणि, गन्धादयश्चेन्द्रियार्था इतीत्याशयेनाह—**सर्वतन्त्रेति** । 'समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः' तमभिप्रेत्याह—**द्वितीय इति** । **हि**—यतः । **समानेति**—न्यायेत्यादिः । **सिद्धमिति**—तथा परतन्त्रे वेदान्तेऽसिद्धमिति शेषः । केनापि प्रमाणेन यस्यार्थस्य सिद्धौ जायमानायामेव तदनुषङ्गी योऽन्योऽर्थः सिद्ध्यति सोऽन्योऽर्थोऽधिकरणसिद्धान्तः' तमुद्दिश्याह—**तृतीय इति** । **क्षित्यादिकर्तृसिद्धाविति**—क्षित्यादि स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यं कार्यत्वात् घटादिवदित्यनुमानेनेत्यादिः । जायमानायामेव पक्षधर्मताबलात् सिद्धन्तदनुषङ्गीति शेषः । **कर्त्तुरिति**—ईश्वरस्येति शेषः । विशेषधर्मपरीक्षणज्ञापिताभ्युपगमविषयो यः साक्षादसूत्रितोऽर्थः सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः' तमभिप्रेत्याह—**चतुर्थ इति** ।

---

प्रामाणिकत्वेन—शास्त्र के द्वारा निश्चित रूप से सिद्ध जो विषय, वह सिद्धान्त है, और वह–सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम के भेद से चार प्रकार का है । इनमें—सब शास्त्रों के द्वारा सिद्ध जो विषय, वह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है । जैसे—घ्राणादि इन्द्रिय हैं । एवं–एक शास्त्र के द्वारा सिद्ध जो विषय वह प्रतितन्त्र सिद्धान्त है । जैसे—न्यायशास्त्र से सिद्ध मन का इन्द्रियत्व । तथा—जिसकी सिद्धि होने पर ही प्रकृत विषय की सिद्धि हो वह अधिकरण सिद्धान्त है । जैसे—ईश्वर के सर्वज्ञत्व की सिद्धि होने पर ही पृथिव्यादियों के कर्त्ता की सिद्धि होने के कारण—ईश्वर का सर्वज्ञत्व । एवं–किसी विशेष धर्म के विचार करने के लिये जिस अविचारित

त्याऽनित्यत्वविचारे ( यथा ) भवतु 'तावच्छब्दो गुणः' इति ।

## ७ अवयवाः

अनुमानवाक्यस्यैकदेशा अवयवाः । ते च प्रतिज्ञादयः पञ्च । तथा च न्यायसूत्रम्—प्रतिज्ञा–हेतु–उदाहरण–उपनय–निगमनानि अवयवाः ( गौ. न्या. सू. १।१।३२ ) इति । तत्र साध्यधर्मविशिष्टपक्षप्रतिपादकं वचनं प्रतिज्ञा । यथा 'पर्वतोऽयं वह्निमान्' इति ।

तृतीयान्तं पञ्चम्यन्तं वा लिङ्गप्रतिपादकं वचनं हेतुः । यथा धूमवत्त्वेन धूमवत्त्वादिति वा ।

सव्याप्तिकं दृष्टान्तवचनम् उदाहरणम् । यथा 'यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसः' इति ।

पक्षे लिङ्गोपसंहारवचनम् उपनयः । यथा 'वह्निव्याप्यधूमवांश्चायमिति, तथा चायम्' इति वा ।

पक्षे साध्योपसंहारवचनं निगमनम् । यथा तस्मादग्निमानिति,

---

ध्रुवादीति—योऽभ्युपगमस्तद्विषयः शब्दगुणत्वमिति शेषः ।

अथावयवान् निरूपयति—अनुमानेति । प्रतिज्ञादयः—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि । तत्र—तेषां पञ्चानामवयवानां मध्ये । धर्मं साध्यत्वमभिप्रेत्याह—साध्यधर्मेति ।

तस्मात्—'वह्निव्याप्य धूमवत्त्वात् । अत्र—उचितानुपूर्वीक-प्रतिज्ञादिपञ्च-

---

विषय का स्वीकार हो वह अभ्युपगम सिद्धान्त है । जैसे—शब्द में नित्यत्वानित्यत्व के विचार करने के लिये मीमांसकों से स्वीकृत-उसका गुणत्व ।

अनुवाद—अनुमान वाक्य के जो एकदेश, वे अवयव हैं और वे पाँच प्रकार के होते हैं, जैसे—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन । इनमें—साध्यविशिष्ट पक्ष का प्रतिपादक जो वाक्य, वह प्रतिज्ञा है । जैसे—'पर्वत अग्निवाला है' । जिसके ज्ञान से पक्ष में साध्य की अनुमिति होती है उसका प्रतिपादक जो वाक्य, वह हेतु है । जैसे—'क्योंकि इसमें धूम उठ रहा है' । व्याप्ति सहित दृष्टान्त का प्रतिपादक जो वाक्य, वह उदाहरण है । जैसे—'जो जो धूमवाला होता है, वह अग्निवाला अवश्य होता है, जैसे—महानस' । पक्ष में साध्यव्याप्यहेतुमत्ताका उप-

तस्मात् तथा' इति वा । एते च प्रतिज्ञादयः पञ्च अनुमानवाक्यस्याऽवयवा इव अवयवाः, न तु समवायिकारणं शब्दस्याकाशसमवेतत्वादिति ।

## ८ तर्कः

तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गः। स च सिद्ध-व्याप्तिकयोर्धर्मयोर्व्याप्याङ्गीकारेण अनिष्टव्यापकप्रसञ्जनरूपः । यथा 'यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तर्हि भूतल-

---

वाक्यानामन्यतमोऽवयवः, तथा-तेषां समुदायो न्यायः । केचित्तु-'जिज्ञासा-संशय-प्रयोजन-शक्यप्राप्ति-संशयव्युदाससहितान् प्रतिज्ञादीन्' दशावयवान् मन्यन्ते । किन्तु सिद्धान्तिनो न्यायवाक्यैकदेशत्वाभावात् जिज्ञासादिपञ्चानामवयवत्वं नाभ्युपगच्छन्ति । अन्ये तु—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानि, उदाहरणोपनयनिगमनानि वा अवयवान् कथयन्ति । परेतु प्रतिज्ञाहेतू एवावयवावभिप्रयन्तीति बोध्यम् ॥

अथ तर्कं निरूपयति—तर्क इति । नन्वनिष्टप्रसङ्गः किमात्मक इत्यत आह—स चेति । व्याप्याङ्गीकारेणेति—व्याप्याहार्यारोपेणेत्यर्थः । व्यापकाभाववत्त्वेन निर्णीते इत्यादिः । अनिष्टव्यापकेति—अनिष्टं यद् व्यापकन्तस्य यत्प्रसञ्जनम् (आहार्यारोपः) तद्रूपं यस्येति व्युत्पत्तिः । तर्कस्य प्रत्यक्षानुग्राहकत्वं दर्शयन् तस्योदाहरणमाह—यथेति । घटाभाववत्त्वेन निर्णीते भूतले-अत्र घटोऽस्ति न वेति संशयानन्तरं यदि कश्चिन्मन्येतात्र घटोऽस्तीति, तर्हि तम्प्रति ब्रूयादिति शेषः । 'नहि तत्करणं लोके वेदे वा किञ्चिदीदृशम् । इतिकर्त्तव्यतासाध्ये यस्य नानुग्रहेऽर्थिता ॥' इति तार्किकरक्षाटीकोक्त्यनुसारेण प्रमाणानामपि तदनुग्रहापेक्षेत्यभिप्रे-

---

संहारक जो वाक्य, वह उपनय है। जैसे—'और यह वह्निव्याप्यधूमवाला है' । एवं-पक्ष में साध्यवत्ता का उपसंहारक जो वाक्य, वह निगमन है। जैसे—'अतः अग्निवाला है।' अवयव के समान होने के कारण ही प्रतिज्ञादि पञ्च एकदेश अनुमानवाक्य के अवयव कहे जाते हैं, न कि समवायिकारण होने के कारण, क्योंकि शब्द-समूह वाक्य का समवायिकारण आकाश है।

तर्क—सिद्धव्याप्तिक दो वस्तुओं में व्याप्य के आरोप से जो अनिष्ट व्यापक का आरोप, वह तर्क है। जैसे—जिस पर्वत में अग्नि अनुमेय है उस पर्वत में 'यह अग्निवाला है या नहीं' इस संशय के बाद यदि कोई कहे कि 'यह अग्निवाला नहीं है' तो जो यह कहना कि 'यह यदि अग्निवाला न होगा तो धूमवाला भी न होगा'

मिथ्याज्ञानम्' इति। स चायं तर्कः प्रमाणानामनुग्राहकः। तथाहि 'पर्वतोऽयं साग्निकोऽनग्निः' इति संदेहानन्तरं यदि कश्चिन्मन्येतानग्निरयमिति तदा तं प्रति यद्ययमनग्निरभविष्यत् तदानग्निकत्वादधूमोऽप्यभविष्यदित्यधूमत्वप्रसञ्जनं क्रियते। स एष प्रसङ्गस्तर्क इत्युच्यते। अयं चानुमानस्य विषयशोधकः प्रवर्तमानस्य धूमवत्त्वलिङ्गकानुमानस्य विषयमग्निमनुजानाति। अनग्निमत्त्वस्य प्रतिक्षेपात्। अतोऽनुमानस्य भवत्यनुग्राहक इति। अत्र कश्चिदाह—'तर्कः संशय एवान्तर्भवति' इति। तन्न। एककोटिनिश्चितविषयत्वात् तर्कस्य।

---

न्याह—स चायमिति। तत्रानुग्राहकत्वं प्रमाणविषये तद्विषयाशङ्काविघटकत्वम्। तर्कस्य प्रत्यक्षानुग्राहकत्वस्य दर्शितत्वात्तस्यानुमानानुग्राहकत्वमुपपादयति—तथाहीति। एवम् 'यदि गवयपदं गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकं न स्यात्तर्हि तत्प्रवृत्तिनिमित्तकं स्यादिति' तर्क उपमानस्यानुग्राहकः। एवं—स्वर्गकामो यजेतेत्यत्र 'यदि वाक्यं समानपदोपात्ततया शब्दः स्यात्तर्हि तस्य दुष्टतया वेदकर्तुरप्रमता, विवेकिप्रेक्षावतां प्रवृत्तिश्च स्यादप्येवेति' तर्कः शब्दस्यानुग्राहकः। अत एवाह भट्टः—'धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना। इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति॥' इति। मनुश्च—'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥' इति।' तर्कस्येति—आपाद्यव्याप्यापादकवत्तासापाद्यव्यतिरेकनिश्चयश्च कारणम्। तथा—आपादकव्यतिरेकनिश्चयस्तस्य फलम्॥ 'व्याप्तिस्तर्काप्रतिहतिरवसानं विपर्यये। अनिष्टाननुकूलत्वे इति तर्काङ्गपञ्चकम्॥' इति तार्किकरक्षोक्तेरप्यनुकूलपञ्चाङ्गसम्पन्नस्तर्कः सुतर्कः। तथा—या एकेनान्येन हीनः स तर्काभासः॥ तर्कस्येति—संशयस्य चानेककोटिविषयत्वादेककोटिविषयत्वाच्च तर्कस्य संशयेऽन्तर्भावासम्भवादिति शेषः। तर्कः पञ्चविधः, आत्माश्रयान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थातदन्यबाधितार्थप्रसङ्गभेदात्। तत्र—स्वस्य स्वापेक्षित्वेऽनिष्टप्रसङ्ग आत्माश्रयः। स च—उत्पत्तिस्थितिज्ञप्तिद्वारा त्रेधा, यथा—यद्ययं घट एतद्घटजन्यः, एतद्घटवृत्तिर्वा, एतद्घटज्ञानाभिन्नो वा स्यात्तर्हि—एतद्घटभिन्नः स्यादिति।

---

यह तर्क है। तर्क प्रमाणों का अनुग्राहक होता है। अतः—'धूम वह्निव्यभिचारी है या नहीं' इस संशय के बाद 'धूम यदि वह्निव्यभिचारी होगा तो वह्निजन्य नहीं होगा' इस तर्क से उक्त संशय की निवृत्ति होने पर धूम में वह्निव्याप्ति का निर्णय

## ९ निर्णयः

निर्णयोऽवधारणज्ञानम् । तच्च प्रमाणानां फलम् ।

## १० वादः

तत्त्वबुभुत्स्वोः कथा **वादः** । स चाऽष्टनिग्रहाणामधिकरणम् । ते च न्यून–अधिक–अपसिद्धान्ताः, हेत्वाभासपञ्चकं च, इत्यष्टौ निग्रहाः ।

---

एवं—तदपेक्ष्यपेक्षित्वनिबन्धनोऽनिष्टप्रसङ्गोऽन्योऽन्याश्रयः । सोऽपि च पूर्ववत् त्रेधा । एवं-तदपेक्ष्यपेक्ष्यपेक्षित्वनिबन्धनोऽनिष्टप्रसङ्गश्चक्रकम् । तदपि च पूर्ववत् त्रिविधम् । एवम्-अव्यवस्थितपरम्परारोपाधीनानिष्टप्रसङ्गोऽनवस्था । यथा-यदि घटत्वं घटजन्यत्वव्याप्यं स्यात्तर्हि तत्कपालसमवेतत्वव्याप्यं न स्यादिति । एवं-धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात्तर्हि स वह्निजन्यो न स्यादित्यादि तदन्यबाधितार्थप्रसङ्ग इति बोध्यम् ।

अथ निर्णयं निरूपयति—**निर्णय इति । अवधारणं ज्ञानम्**—तदभावाप्रकारकं ज्ञानम् । यद्यपि यथा दर्शपूर्णमासस्य फलमेव तस्याङ्गाना प्रयाजादीनामपि फलम्भवति, तथा प्रमाणानाम्फलम् ( निर्णयः ) एव तेषामङ्गस्य तर्कस्यापि फलं सम्भवति; तथापि प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायेनाह—**प्रमाणानामिति** । तर्कसहकृतानामित्यादिः ।

अथ वादं निरूपयति—**तत्त्वबुभुत्स्वोरिति** । कथामनुपदमेव निरूपयिष्यति ग्रन्थकार इति सा तत एवावगन्तव्या । हेत्वाभासानामपि निग्रहस्थानत्वमभ्युपेत्याह—**अष्टनिग्रहाणामिति** । अष्टनिग्रहस्थानानामित्यर्थः । एवमग्रेऽपि । **न्यूनाधिकेति**—हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् । हेतूदाहरणाधिकमधिकम् । सिद्धा-

---

होता है, और धूम पर्वत में अग्नि की अनुमिति कराता है । कुछ लोग कहते हैं कि-संशय में तर्क का अन्तर्भाव हो सकता है । किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि तर्क एक कोटिक होता है और संशय निष्कोटिक या एकाधिककोटिक ।

निर्णय—तदभावाप्रकारक और तत्प्रकारक जो अवधारणात्मक ज्ञान, वह निर्णय है । तथा वह तर्क-सहकृत प्रमाणों का फल है ।

तत्त्वबुभुत्स्वोः—दो तत्त्वजिज्ञासुओं की जो कथा, वह वाद है और वह-न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त, सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध तथा बाधित इन

## ११ जल्पः

उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः । स च यथासंभवं सर्वनिग्रहाणामधिकरणम् , परपक्षे दूषिते स्वपक्षस्थापनप्रयोगावसानश्च ।

## १२ वितण्डा

स एव स्वपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा । सा च परपक्षदूषणमात्रपर्यवसाना । नास्य वैतण्डिकस्य स्थाप्यः पक्षोऽस्ति । कथा तु नानावक्तृकपूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यसन्दर्भः ।

## १३ हेत्वाभासाः

उक्तानां पक्षधर्मत्वादिरूपाणां मध्ये येन केनापि रूपेण हीना

---

न्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः । हेत्वाभासपञ्चकञ्चानुपदमेव वक्ष्यति ग्रन्थकार इति तत्त एवावगन्तव्यम् ॥

अथ जल्पं निरूपयति—**उभयेति** । पक्षेति शेषः । **सर्वनिग्रहाणाम्**—सर्वनिग्रहस्थानानाम् ।

अथ वितण्डां निरूपयति—**स एवेति** । जल्प एवेत्यर्थः । **नास्येति**—यत इत्यादि ।

अथ हेत्वाभासान्निरूपयति—**उक्तानामिति** । यद्यपि अनुमाननिरूपणावसरे प्रसङ्गाद् हेत्वाभासा निरूपिताः, तथापि विशेषकथनार्थमन्ते पुनर्निरूप्यन्ते । **आदिना**

---

अष्टविध निग्रहस्थानों के प्रयोग का स्थान है । जिनका निरूपण आगे करेंगे ।

उभय—दो विजिगीषुओं की जो उभय-पक्षस्थापना-वाली कथा, वह जल्प है । और वह यथासम्भव सभी निग्रहस्थानों के प्रयोग का स्थान है । तथा उसके अन्त में पर पक्ष के दूषित होने पर अपने पक्ष की स्थापना के लिये वाक्य प्रयोग किया जाता है ।

स एव—जिस कथा में वादी अपना पक्ष नहीं रखता है और प्रतिवादि-पक्ष के खण्डन मात्र से अपनी विजय चाहता है ऐसी जो दो विजयार्थियों की कथा, वह वितण्डा है और वह भी यथासम्भव सभी निग्रहस्थानों के प्रयोग का स्थान है । अनेक वक्तृक तथा पूर्वोत्तर-पक्ष-प्रतिपादक जो वचन-सन्दर्भ, वह कथा है ।

उक्तानाम्—यद्यपि हेतुताप्रयोजक-पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधि-

अहेतवः। तेऽपि कतिपयहेतुरूपयोगाद्धेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः। ते चासिद्ध–विरुद्ध–अनैकान्तिक–प्रकरणसम–कालात्ययापदिष्टभेदात् पञ्चैव। अत्रोदयनेन 'व्याप्तस्य हेतोः पक्षधर्मतया प्रतीतिः सिद्धिः, तदभावोऽसिद्धिः' इत्यसिद्धिलक्षणमुक्तम्। तच्च यद्यपि विरुद्धादिष्वपि संभवतीति साङ्कर्यं प्रतीयते। तथापि यथा न साङ्कर्यं तथोच्यते। यो हि यत्र साधने पुरः परिस्फुरति समर्थश्च दुष्टज्ञप्तौ, स एव दुष्टज्ञप्तिकारको दूषणमिति यावत्, नान्य इति। तेनैव पुरावस्फूर्तिकेन दुष्टौ ज्ञापितायां कथापर्यवसाने जाते तदुपजीविनोऽन्यस्यानुपयोगात्। तथा च सति यत्र विरोधो साध्यविपर्ययव्याप्त्याख्यो दुष्टज्ञप्तिकारकः स

---

सपक्षसत्त्व-विपक्षासत्त्वाबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वानां परिग्रहः। कतिपयेति—पक्षसत्त्वादीति शेषः। हेतुवदाभासमानाः—पक्षसत्त्वादिपञ्चरूपोपपन्नत्वाभावे सति तद्रूपेणाभासमानाः। वस्तुतस्तु—अनुमितितत्कारणज्ञानान्यतरविरोधिज्ञानविषयदोषवन्तो हेत्वाभासाः। उदयनेन—उदयनाचार्येण। व्याप्तस्य—साध्यनिरूपितव्याप्तिमतः। प्रथमस्फूर्त्तिकस्यैकस्यैव दोषत्वाङ्गीकारेण दोषाणां साङ्कर्यं न सम्भवतीत्याशयेनोक्तिक्रमं निर्दिशति—यो हीति। साधने—साधनाभासे। तत्र युक्तिमाह—तेनैवेति। स्फूर्त्तिकेनेति—अभिहितेनेति शेषः। अन्यस्येति—दोषतामभ्युपगत्य तदभिधानस्येति शेषः। फलितमाह—तथा चेति। स एव

---

तत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व इन पाँच रूपों के मध्य में किसी रूप से हीन अहेतु है, तथापि वे कुछ हेतुता प्रयोजक रूपों के योग से हेतु के समीप भासित होने के कारण हेत्वाभास कहलाते हैं। वे हेत्वाभास असिद्ध, विरुद्ध, सव्यभिचार, सत्प्रतिपक्ष और बाधित के भेद से पाँच प्रकार के हैं। इनमें—असिद्ध के विषय में उदयनाचार्य कहते हैं कि—व्याप्ति-विशिष्टहेतु की पक्षवृत्तित्वरूप से प्रतीति सिद्धि है और तद्विषयत्वाभाव असिद्धि है तथा तदाश्रय असिद्ध है। यद्यपि विरुद्धादियों में भी इस तरह की असिद्धि के रहने से दोषों का साङ्कर्य होता है; तथापि जिस हेत्वाभास में दुष्टता को समझाने के लिये जो दोष पहले स्फुरित होता है वही वहाँ दोष है, न कि अन्य। क्योंकि उसीसे उसकी दुष्टता के ज्ञापित होने से कथापर्यवसान हो जाने के कारण उसके उपजीवी अन्य दोषों का वहाँ उपयोग नहीं है। ऐसी व्यवस्था मानने से दोषों का साङ्कर्य नहीं होता है। क्योंकि—जहाँ पहले

एव विरुद्धो हेत्वाभासः । एवं यत्र व्यभिचारादयस्तथाभूतास्तेऽनैकान्तिकादयस्त्रयः । ये पुनर्व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्टहेतुस्वरूपज्ञप्त्यभावेन पूर्वोक्ता असिद्धयादयो दुष्टज्ञप्तिकारका दूषणानीति यावत्, तथाभूतः सोऽसिद्धः ।

( १ ) स ( असिद्धः ) च त्रिविध **आश्रयासिद्ध–स्वरूपासिद्ध–व्याप्यत्वासिद्धभेदात्** । तत्र यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स **आश्रयासिद्धः** । यथा गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत् । अत्र हि गगनारविन्दमाश्रयः स च नास्त्येव । अयमप्याश्रयासिद्धः, तथाहि–घटोऽनित्यः कार्यत्वात् पटवदिति ।

नन्वाश्रयस्य घटादेः सत्त्वात् कार्यत्वादिति हेतुर्नाश्रयासिद्धः,

---

**विरुद्ध इति**—अत्र–स विरुद्ध एवेत्यन्वय प्राक् परिस्फुरतीत्यादिः । **यत्रेति**—येषु ( त्रिषु साधनाभासेषु ) इत्यर्थः । क्रमेणेति शेष । **व्यभिचारादय इति**—आदिना–प्रतिपक्षबाधयोः परिग्रह । **तथाभूता इति**—दुष्टज्ञप्तिकारका इत्यर्थः । प्राक् परिस्फुरन्तीति शेष । **ते इति**—अस्य त्रय इत्यनेनान्वय. । **अनैकान्तिकादय इति**—अनैकान्तिक–प्रकरणसम–कालात्ययापदिष्टा इत्यर्थ । एव हेत्वाभासा इति शेषः । **ये पुनरिति**—एवमित्यादिः । **असिद्धयादय**—आश्रयासिद्धयादयः । **तथाभूत इति**—ते यत्र प्राक् परिस्फुरन्तीत्यादि. ।

**स च**—असिद्धश्च । **सरोजारविन्दवदिति**—इत्यत्रारविन्दत्वं हेतुरिति शेष. । **हि**—यत । **आश्रय इति**—तस्येत्यादिः । अयमित्यनेन निर्देश्यमाह—**तथा हीति** । **पटवदितीति**—अत्र कार्यत्वं हेतुरिति शेषः । **सत्त्वादिति**—

---

विरोध स्फुरित होता है उसे विरुद्ध, जहाँ पहले व्यभिचारादि स्फुरित होते हैं उन्हें सव्यभिचारादि तथा जहाँ पहले असिद्धि स्फुरित होती है उसे असिद्ध कहते हैं।

वह असिद्ध तीन प्रकार का है, जैसे—आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, और व्याप्यत्वासिद्ध । इनमें—जिसमें जिस हेतु से साध्य की अनुमति विधेय हो उसकी किसी तरह से अनुपपत्ति होने पर वह हेतु आश्रयासिद्ध कहलाता है। जैसे—'गगन-कमल सुगन्धित है, क्योंकि वह कमलत्ववाला है, जैसे—सरोवर का कमल' यहाँ कमलत्व हेतु आश्रयासिद्ध कहलाता है, क्योंकि यहाँ जिस ( गगन-कमल ) में

सिद्धसाधकस्तु स्यात् सिद्धस्य घटानित्यत्वस्य साधनात् । मैवम् । न हि स्वरूपेण कश्चिदाश्रयो भवत्यनुमानस्य, किं तु संदिग्धधर्मवत्त्वेन, तथा चोक्तं भाष्ये 'नाऽनुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थेऽपि तु संदिग्धेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते' ( गौ० न्या० वा० भा० १-१-१ ) । न च घटेऽनित्यत्वसंदेहोऽस्ति । अनित्यत्वस्य निश्चितत्वात् । तेन यद्यपि स्वरूपेण घटो विद्यते, तथाप्यनित्यत्वसंदेहाभावान्नासावाश्रय इत्याश्रयासिद्धत्वादहेतुः ।

**स्वरूपासिद्धस्तु** स उच्यते यो हेतुराश्रये नैवावगम्यते । यथा सामान्यमनित्यं कृतकत्वादिति, कृतकत्वं हि हेतुराश्रये सामान्ये नास्त्येव।

भा(१)गासिद्धो यथा शब्दोऽनित्यः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति । अत्र शब्दस्यानित्यत्वं साध्यम् । प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति हेतुः । स च

---

तत्रेति शेषः । **सिद्धस्येति**—तत्र ( प्रत्यक्षेण ) इत्यादिः । **साधनादिति**—तेनेत्यादिः । **हि**—यतः । **अनित्यत्वस्येति**—तत्र ( प्रत्यक्षेण ) इत्यादिः । **तथापीति**—तत्रेति शेषः । **आश्रय इति**—अनुमानस्येति शेषः । **अहेतुः**-(तत्र-कार्यत्वं हेतुराश्रयासिद्धो ) हेत्वाभासः । **कृतकत्वादितीति**—अत्र कृतकत्वं हेतुरिति शेषः । **कृतकत्वमिति**—अत्रेत्यादिः । **हि**—यतः । स्वरूपासिद्धेऽन्तर्भाव्यं भागासिद्धं निरूपयति—**भागासिद्ध इति** । **प्रयत्नानन्तरीयकत्वादितीति**—अत्र प्रयत्नानन्तरीयकत्वं हेतुरिति शेषः । कुत इत्यत आह—**अत्रेति**।

---

कमलत्व हेतु से सुगन्धितत्व की अनुमिति विधेय है उस ( गगन-कमल ) की सत्त्वरूप से अनुपपत्ति है । एवं—'घट अनित्य है, क्योंकि वह कार्यत्ववाला है, जैसे—पट, यहाँ कार्यत्व हेतु आश्रयासिद्ध कहलाता है, क्योंकि यहां जिस ( घट ) में कार्यत्व हेतु से अनित्यत्व की अनुमिति विधेय है उस ( घट ) की पक्षत्वरूप से अनुपपत्ति है । क्योंकि सन्दिग्ध-साध्यवाला ही पक्ष होता है और घट में अनित्यत्व का निश्चय है ।

पक्ष में जिस हेतु का अभाव हो वह हेतु स्वरूपासिद्ध है । जैसे—'जाति अनित्य है, क्योंकि वह जन्यत्ववाली है' यहाँ जन्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध है, क्योंकि—यहाँ पक्ष ( जाति ) में जन्यत्व हेतु का अभाव है । स्वरूपासिद्ध के अनेक भेद हैं, जैसे—

---

१. कोष्ठान्तर्गतः पाठः क्वचिन्नोपलभ्यते ।

न सर्वेषां शब्दानाम् । आद्यशब्दस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वं पुरुषव्यापारेऽस्ति, शब्दजनितशब्दे नास्तीति भागासिद्धो हेतुः । अथ किमिदं प्रयत्नानन्तरीयकत्वम् । उच्यते । आदावात्ममनः संयोगः, ततो ज्ञानं ततो विवक्षा ततः प्रयत्नः, ततः कोष्ठगतस्य वायोः पूर्वदेशविभागः, ततो घटादिदेशसंयोगः, तत आद्यनिष्पत्तिरिति । अस्यैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वमस्ति । अन्येषामाद्यशब्दजनितशब्दानां नास्तीति भागासिद्धो हेतुः, आद्ये शब्दे आत्ममनः संयोगजनितज्ञानादिक्रमेण प्रयत्नानन्तरीयकत्वं पुरुषव्यापारे वर्तते, न तु द्वितीयादिशब्देष्विति हेतोः पक्षैकदेशावर्तित्वात् ।

भागासिद्धोऽपि स्वरूपासिद्ध एव । यथा 'पृथिव्यादयः चत्वारः परमाणवो नित्या गन्धवत्त्वाद्' इति । गन्धवत्त्वं हि पक्षीकृतेषु सर्वेषु नास्ति पृथिवीमात्रवृत्तित्वात । अत एव भागे स्वरूपासिद्धः ।

---

प्रयत्नेति—तथेत्यादि । आद्येति—यद्यपीत्यादिः । शब्दजनितेति—तथापीत्यादिः । भागासिद्ध इति—तत्र प्रयत्नानन्तरीयकत्वमित्यादि । एवमग्रेऽपि । आद्येति—शब्देति शेषः । अस्यैव—आद्यशब्दस्यैव । अन्येषामिति—किन्त्वित्यादिः । दार्ढ्याय पुनस्तमुपपादयति—आद्ये इति । पक्षैकदेशावर्त्तित्वादिति—तत्र प्रयत्नानन्तरीयकत्वं हेतुर्भागासिद्ध इति शेष । भागासिद्धमपि स्वरूपासिद्ध एवान्तर्भावयति—भागासिद्धोऽपीति । गन्धवत्त्वादितीति—अत्र गन्धवत्त्वं हेतुर्भागासिद्ध इति शेषः । कुत इत्यत आह—गन्धवत्त्वमिति । अत्रेत्यादिः । सर्वेषु—पृथिव्यादिचतुष्टयपरमाणुषु । भागे इति—पक्षैकदेशे जलादित्रय-

---

भागासिद्ध, विशेषणासिद्ध, विशेष्यासिद्ध, असमर्थ-विशेषणासिद्ध और असमर्थ विशेष्यासिद्ध आदि । इनमें—पक्ष के एकदेश में जिस हेतु का अभाव हो वह हेतु भागासिद्ध है । जैसे—'शब्द अनित्य है, क्योंकि—वह प्रयत्नानन्तरीयकत्ववाला है' यहाँ प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु भागासिद्ध है, क्योंकि—यहाँ शब्द-मात्र पक्ष है, और आद्यशब्द-मात्र के प्रयत्नानन्तरीयक होने के कारण पक्ष के एकदेश आद्यशब्दजनित द्वितीयादि शब्दों में प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु का अभाव है । एवं—'पृथिव्यादि चारों के परमाणु नित्य हैं, क्योंकि वे गन्धवाले हैं' यहाँ गन्ध हेतु भागासिद्ध है, क्योंकि—

तथा विशेषणासिद्ध–विशेष्यासिद्ध–असमर्थविशेषणासिद्ध–असमर्थविशेष्यासिद्धादयः स्वरूपासिद्धभेदाः । तत्र **विशेषणासिद्धो** यथा शब्दो नित्यो द्रव्यत्वे सत्यस्पर्शत्वात् । अत्र हि द्रव्यत्वविशिष्टमस्पर्शत्वं हेतुर्नास्पर्शत्वमात्रम् । शब्दे च द्रव्यत्वं विशेषणं नास्ति, गुणत्वाद्, अतो विशेषणासिद्धः । न चासति विशेषणे द्रव्यत्वे तद्विशिष्टमस्पर्शत्वमस्ति, विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात् । यथा दण्डमात्राभावे पुरुषाभावे वा दण्डविशिष्टस्य पुरुषस्याभावः । तेन सत्यप्यस्पर्शत्वे द्रव्यत्वविशिष्टस्य हेतोरभावात् स्वरूपासिद्धत्वम् । **विशेष्यासिद्धो** यथा 'शब्दोऽनित्योऽस्पर्शत्वे सति द्रव्यत्वाद्' इति । अत्रापि विशिष्टो हेतुः । न

---

परमाणावित्यर्थः । स हेतुरित्यादिः । तथेति–यथा भागासिद्धः स्वरूपासिद्धभेद इत्यादि । **अस्पर्शत्वादिति**—इत्यत्र द्रव्यत्वे सत्यस्पर्शत्वं हेतुरिति शेषः । कुत इत्यत आह—**अत्रेति** । हि—यतः । **नास्पर्शत्वेति**—किन्तु द्व्यणुकादौ व्यभिचारित्वान्न द्रव्यत्वमात्रन्तथा द्व्यणुकगतगुणादौ व्यभिचारित्वादित्यादिः । **अत इति**—तत्र द्रव्यत्वविशिष्टमस्पर्शत्वं हेतुरिति शेषः । **न चेति**—शब्दे इति शेषः । वक्ष्यमाणं विशेष्याभावे विशिष्टाभावमभिप्रेत्याह—**पुरुषाभावे वेति** । **तेनेति**—शब्दे इति शेषः । **द्रव्यत्वेति**—द्रव्यत्वाभावेनेत्यादिः । **हेतोरिति**—अस्पर्शत्वस्येत्यादिः । **स्वरूपेति**—तत्र द्रव्यत्वविशिष्टास्पर्शत्वस्य हेतोरित्यादि । **द्रव्यत्वादितीति**—अत्रास्पर्शत्वे सति द्रव्यत्वं हेतुरिति शेषः । कुत इत्यत आह—**अत्रा-**

---

पृथिवीमात्र में रहने के कारण गन्ध हेतु पक्ष के एकदेश जलादि तीनों के परमाणुओं में नहीं है । तथा–पक्ष में विशेषण के अभाव से जिस विशिष्ट हेतु का अभाव हो, वह विशिष्ट हेतु विशेषणासिद्ध है । जैसे—'शब्द नित्य है, क्योंकि वह द्रव्यत्वविशिष्ट-अस्पर्शत्ववाला है' यहाँ द्रव्यत्वविशिष्ट-अस्पर्शत्व हेतु विशेषणासिद्ध है, क्योंकि–यहाँ पक्ष ( शब्द ) में विशेषण ( द्रव्यत्व ) के अभाव से द्रव्यत्वविशिष्ट–अस्पर्शत्वरूप विशिष्ट हेतु का अभाव है । एवं–पक्ष में विशेष्य के अभाव से जिस विशिष्ट हेतु का अभाव हो, वह विशिष्ट हेतु विशेष्यासिद्ध है । जैसे—'शब्द नित्य है, क्योंकि वह अस्पर्शत्वविशिष्ट-द्रव्यत्ववाला है' यहाँ अस्पर्शत्वविशिष्ट-द्रव्यत्व हेतु विशेष्यासिद्ध है, क्योंकि–यहाँ शब्दरूप पक्षमें द्रव्यत्वरूप विशेष्य के अभाव से विशिष्ट हेतु (अस्पर्शत्वविशिष्टद्रव्यत्व) का अभाव है । क्योंकि शब्द गुण है, और विशेषण अथवा

च विशेष्याभावे विशिष्टं स्वरूपमस्ति । विशिष्टश्च हेतुर्नास्त्येव । असमर्थविशेषणासिद्धो यथा—शब्दो नित्यो गुणत्वे सति अकारणकत्वात् । अत्र हि विशेषणस्य गुणत्वस्य न किंचित् सामर्थ्यमस्तीति । विशेष्यस्याकारणकत्वस्यैव नित्यत्वसाधने सामर्थ्यात् । अतोऽसमर्थविशेषणता । स्वरूपासिद्धत्वं तु विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात् । ननु विशेषणं गुणत्वं तत्र शब्देऽस्त्येव तत् कथं विशेषणाभावः ? सत्यमस्त्येव गुणत्वम् । किं तु न तद्विशेषणम् । तदेव हि हेतोर्विशेषणं भवति, यदन्यव्यवच्छेदेन प्रयोजनवत् । गुणत्वं तु निष्प्रयोजनमतोऽसमर्थमित्युक्तमेव । असमर्थविशेष्यो यथा तत्रैव तद्वैपरीत्येन प्रयोगः । तथाहि शब्दो नित्योऽकारणकत्वे सति गुणत्वादिति । अत्र तु विशेषणमात्रस्यैव

---

पीति । यत इत्यादि० । विशिष्टश्चेति—अस्पर्शत्वविशिष्टद्रव्यत्वात्मकश्चेत्यर्थः । तेन शब्दे सत्यप्यस्पर्शत्वे द्रव्यत्वाभावेनेत्यादिः । नास्त्येवेति—अतस्तत्रास्पर्शत्वविशिष्टद्रव्यत्वं हेतुर्विशेष्यासिद्ध इति शेष० । अकारणकत्वादिति—इत्यत्र गुणत्वविशिष्टाकारणकत्वं हेतुरिति शेष० । कुत इत्यत आह अत्रेति । हि—यत० । गुणत्वस्येति—नित्यत्वसाधने इति शेष । अत इति—तत्र गुणत्वविशिष्टाकारणकत्वस्य हेतोरिति शेष० । हि—यतः । अत इति—तदिति शेष० । तत्रैव—शब्दनित्यत्वसाधनस्थल एव । तद्वैपरीत्येन प्रयोग इति—उक्त-विशेष्यविशेषणभावव्यत्ययेन हेतुप्रयोगे हेतुरित्यर्थः । तमेवोपपादयति—तथाहीति । गुणत्वादितीति—अत्र कारणकत्वे सति गुणत्वं हेतुरसमर्थविशेष्य इति शेष । कुत इत्यत आह—अत्रेति तु—यत० । नन्वत्रास्य हेतोरसमर्थविशेष्यत्वेऽपि स्वरूपासिद्धत्वं

---

विशेष्य अथवा उभय के अभाव से विशिष्टाभाव होता है । जैसे—दण्ड या पुरुष या दोनों के अभाव से दण्डविशिष्ट पुरुष का अभाव होता है । तथा-जिस विशिष्ट हेतु का विशेषण साध्य के साधन करने में समर्थ न हो वह विशिष्ट हेतु, असमर्थ-विशेषणासिद्ध है । जैसे—'शब्द नित्य है, क्योंकि वह गुणत्वविशिष्ट-अकारणकत्ववाला है' यहाँ गुणत्व विशिष्ट-अकारणकत्व हेतु असमर्थ-विशेषणासिद्ध है, क्योंकि इस विशिष्ट हेतु का विशेषण गुणत्व साध्य-नित्यत्व के साधन करने में समर्थ नहीं है, किन्तु इसका विशेष्य अकारणकत्व ही उसके साधन करने में समर्थ है । एवं-जिस विशिष्ट हेतु का विशेष्य, साध्य के साधन करने में समर्थ न हो, वह विशिष्ट हेतु असमर्थ-विशेष्यासिद्ध है । जैसे—'शब्द नित्य है, क्योंकि वह अकारणकत्व-विशिष्ट-गुणत्ववाला है'

नित्यत्वसाधने समर्थत्वाद् विशेष्यमसमर्थम् । स्वरूपासिद्धत्वं तु विशेष्याभावे विशिष्टाभावाद् , विशिष्टस्य च हेतुत्वेनोपादानात् । शेषं पूर्ववत् ।

**व्याप्यत्वासिद्धस्तु** स एव यत्र हेतोर्व्याप्तिर्नावगम्यते । स द्विविधः । एकः **साध्येनासहचरितः**, अपरस्तु **सोपाधिकसाध्यसंबन्धी** । तत्र प्रथमो यथा 'यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः, संश्च विवादास्पदीभूतः शब्दादिः' इति । अत्र हि शब्दादिः पक्षः, तस्य क्षणिकत्वं साध्यं, सत्त्वं हेतुः । न चास्य हेतोः क्षणिकत्वेन सह व्याप्तौ प्रमाणमस्ति । इदानीम् **उपाधिसहितो व्याप्यत्वासिद्धः** प्रदर्श्यते । तद्यथा 'स श्यामो मैत्रीतनयत्वात् परिदृश्यमानमैत्रीतनयस्तोमवद्'

---

कथमित्यत आह—**स्वरूपेति । शेषं पूर्ववदिति**—नन्वत्र विशेष्यस्य गुणत्वस्य शब्दे सत्त्वात्कथं विशेष्याभाव इति चेन्न, तत्र गुणत्वस्य सत्त्वेऽपि तस्य न विशेष्यता, अन्यव्यवच्छेदेन प्रयोजनवदेव हेतोर्विशेष्यं भवतीति नियमाद्, गुणत्वस्य च प्रकृते निष्प्रयोजनत्वादित्यत्र विशेष्याभावस्य सुलभत्वादित्यर्थः ।

**शब्दादिरितीति**—स क्षणिक इत्यत्र हेतुरिति शेषः । कुत इत्यत आह—**अत्रेति । हि**—यत । **सत्त्वमिति**—तथेत्यादि । द्वितीय दर्शयितुं प्रतिजानीते—

---

यहाँ अकारणकत्वविशिष्ट-गुणत्व हेतु असमर्थ-विशेष्यासिद्ध है, क्योंकि इस विशिष्ट हेतु का विशेष्य गुणत्व, नित्यत्व साध्य के साधन करने में समर्थ नहीं है, किन्तु इसका विशेषण अकारणकत्व ही उसके साधन करने में समर्थ है । इनमें—अन्तिम दोनों में असिद्धता इसलिये होती है, कि—इन दोनों के विशेषण या विशेष्य अन्य-व्यावर्त्तक न होने के कारण वस्तुतः विशेषण या विशेष्य नहीं होते, जिससे कि विशेषण या विशेष्य के अभाव से पक्ष में इन दोनों का अभाव होता है ।

जिस हेतु में साध्यनिरूपित व्याप्ति न हो वह हेतु, व्याप्यात्वसिद्ध है और वह दो प्रकारका है, जैसे—साध्य के साथ नियमतः साहचर्य न रखनेवाला और सोपाधिक साध्य के साथ साहचर्य रखनेवाला । इनमें—'शब्द क्षणिक है, क्योंकि वह सत् है, जैसे मेघ' यहाँ सत्त्व हेतु क्षणिकत्व साध्य के साथ नियमतः साहचर्य न रखनेवाला व्याप्यत्वासिद्ध है, क्योंकि—प्रमाण न रहने के कारण सत्त्व में क्षणिकत्व निरूपित व्याप्ति नहीं है । एवं-'विष्णुदत्त श्याम है, क्योंकि वह मैत्रीतनय है, जैसे-

इति। अत्र हि मैत्रीतनयत्वेन श्यामत्वं साध्यते। न च मैत्रीतनयत्वं श्यामत्वे प्रयोजकं, किं तु शाकाद्यन्नपरिणाम एवात्र प्रयोजकः। प्रयोजकश्चोपाधिरुच्यते। अतो मैत्रीतनयत्वेन श्यामत्वस्य संबन्धे शाकाद्यन्नपरिणाम एव उपाधिः। यथा अग्नेर्धूमसम्बन्ध आर्द्रेन्धनसंयोगः। अत एवोपाधिसंबन्धाद् व्याप्तिर्नास्तीति व्याप्यत्वासिद्धोऽयं मैत्रीतनयत्वादिर्हेतुः। तथा परोऽपि व्याप्यत्वासिद्धः। यथा क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं। हिंसात्वात् क्रतुबाह्यहिंसावदिति। न च हिंसात्वमधर्मसाधनत्वे प्रयोजकं, किं तु निषिद्धत्वमुपाधिरिति पूर्ववदुपाधिसद्भावाद् व्याप्यत्वासिद्धोऽयं हिंसात्वं हेतुः। ननु 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापको यः स उपाधिः' इत्युपाधिलक्षणम्। तच्च निषिद्धत्वे नास्ति। तत् कथं 'निषिद्धत्वमुपाधिः' इति। मैवम्। निषिद्धत्वेऽप्युपाधिलक्षणस्य विद्यमानत्वात्। तथाहि साध्यस्य अधर्मजनकत्वस्य व्यापकं निषिद्धत्वम्, यत्र यत्राधर्मसाधनत्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वमिति नियमात्। न च यत्र यत्र हिंसात्वं, तत्र तत्रावश्यं निषि-

---

इदानीमिति। तदिति—अस्य चरमेणेतिनाऽन्वयः। श्यामवदितीति—अत्र मैत्रीतनयत्वं हेतुः सोपाधिकसाध्यसम्बन्धात्मको व्याप्यत्वासिद्ध इति शेषः। कुत इत्यत आह—अत्रेति। हि—यतः। संयोग इति—उपाधिरिति शेषः। उपाधीति—औपाधिकेत्यर्थः। हेतोः साध्येन सहेत्यादि। व्याप्तिरिति—हेतौ साध्यनिरूपिता स्वाभाविकसम्बन्धरूपेत्यादिः। हिंसावदितीति—अत्र हिंसात्वं हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः। यतोऽत्र हिंसात्वेनाधर्मसाधनत्वं साध्यते इति शेषः। निषिद्धत्वम्—शास्त्रनिषिद्धत्वम्। एवमग्रेऽपि। न चेति—तथा साधनस्य हिंसात्वस्याव्या-

---

दृश्यमान मैत्रीतनयसमूह' यहाँ मैत्रीतनयत्व हेतु सोपाधिक श्यामत्व साध्य के साथ साहचर्य रखनेवाला व्याप्यत्वासिद्ध है; क्योंकि शाकादयाहार परिणाम ही श्यामत्व का प्रयोजक है, न कि मैत्रीतनयत्व। तथा-'यज्ञान्तर्गत-हिंसा अधर्मसाधन है, क्योंकि वह हिंसा है, जैसे-यज्ञबहिर्भूत-हिंसा, यहाँ सोपाधिक हिंसात्व हेतु, अधर्मसाधनत्व साध्य के साथ साहचर्य रखनेवाला व्याप्यत्वासिद्ध है; क्योंकि—शास्त्रनिषिद्धत्व ही अधर्मसाधनत्व का प्रयोजक है, न कि हिंसात्व। प्रकृत में-प्रयो-

खत्वं; क्रत्वङ्गहिंसायां व्यभिचारात् । अस्ति हि क्रत्वङ्गहिंसायां हिंसात्वं, न चाऽत्र निषिद्धत्वमिति साधनस्याव्यापकं निषिद्धत्वम् । तदेवं त्रिविधोऽसिद्धो दर्शितः ।

(२) संप्रति विरुद्धः कथ्यते । साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुः विरुद्धः । यथा 'शब्दो नित्यः कृतकत्वाद्' इति । अत्र हि नित्यत्वं साध्यं, कृतकत्वं हेतुः । तद्विपर्ययेण चाऽनित्यत्वेन कृतकत्वं व्याप्तं यतो यद्यत् कृतकं तत्तत् खल्वनित्यमेव । अतः साध्यविपर्ययव्याप्तत्वात् कृतकत्वं हेतुः विरुद्धः ।

(३) साध्यसंशयहेतुरनैकान्तिकः सव्यभिचार इति वा उच्यते । स द्विविधः साधारणानैकान्तिकः—असाधारणानैकान्तिकश्चेति । तत्र प्रथमः पक्ष—सपक्ष—विपक्षवृत्तिः । यथा शब्दो नित्यः प्रमेयत्वादिति ।

---

पकं निषिद्धत्वम्, यत इत्यादिः । व्यभिचारमुपपादयति—अस्तीति । हि—यतः । प्रकृतमुपसंहरति—तदेवमिति ।

अथ विरुद्धहेत्वाभासं निरूपयितुं प्रतिजानीते—सम्प्रतीति । तं लक्षयति—साध्येति । कृतकत्वादितीति—अत्र कृतकत्वं हेतुर्विरुद्ध इति शेषः । कुत इत्यत आह—अत्रेति । हि—यतः । तद्विपर्ययेण—नित्यत्वाभावेन ।

अथानैकान्तिकं निरूपयति—साध्यसंशयेति । अनैकान्तिकः—अनैकान्तिक इति । साधारणानैकान्तिकः सपक्षविपक्षवृत्तित्वात् साध्यसन्देहं जनयतीत्याश-

---

जक ही उपाधि है, अथवा-जो साध्य का व्यापक हो और साधन का अव्यापक हो वह उपाधि है । इस तरह तीनों असिद्धों का निरूपण किया ।

सम्प्रति—अब विरुद्ध का निरूपण करते हैं कि—जो हेतु साध्याभाव-निरूपित व्याप्तिवाला हो, वह हेतु, विरुद्ध है । जैसे—'शब्द नित्य है, क्योंकि वह कृतकत्व-वाला है' यहाँ कृतकत्व हेतु विरुद्ध है, क्योंकि वह, नित्यत्व साध्य के अभाव से निरूपित व्याप्ति का आश्रय है ।

साध्यसंशय—पक्ष में साध्य के संशय का जनक जो हेतु, वह हेतु सव्यभिचार है और वह दो प्रकार का है, जैसे—साधारण और असाधारण । इनमें—जो हेतु, सपक्ष और विपक्ष में रहता हुआ पक्ष में रहनेवाला हो वह हेतु, साधारणानैकान्तिक है ।

अत्र प्रमेयत्वं हेतुः—पक्षे शब्दे, सपक्षे नित्ये व्योमादौ, विपक्षे चानित्ये घटादौ विद्यते, सर्वस्यैव प्रमेयत्वात्। तस्मात् प्रमेयत्वं हेतुः साधारणानैकान्तिकः। असाधारणानैकान्तिकस्तु स एव यः सपक्षविपक्षाभ्याम् व्यावृत्तः पक्ष एव वर्तते। यथा 'भूर्नित्या गन्धवत्त्वाद्' इति। अत्र हि गन्धवत्त्वं हेतुः। स च सपक्षान्नित्याद्व्योमादेः विपक्षाच्चानित्याज्जलादेर्व्यावृत्तो, गन्धवत्त्वस्य पृथिवीमात्रवृत्तित्वादिति। व्यभिचारस्तु लक्ष्यते नियमासम्भवात्। संभवत्सपक्षविपक्षस्य हेतोः सपक्षवृत्तिरेव नियमो गमकत्वात्। तस्य च साध्यविपरीतव्याप्तस्य तन्नियमाभावो व्यभिचारः। स च द्वेधा संभवति, सपक्ष—विपक्षयोर्वृत्तौ, ताभ्यां व्यावृत्तौ च।

---

येनाह—पक्षसपक्षेति। प्रमेयत्वादितीति—अत्र प्रमेयत्वं हेतुः साधारणानैकान्तिक इति शेषः। कुत इत्यत आह—अत्रेति। यत इत्यादिः। तस्मादिति—अत्रेति शेषः। गन्धवत्त्वादितीति—अत्र,गन्धवत्त्वं हेतुरसाधारणानैकान्तिक इति शेषः। कुत इत्यत आह—अत्रेति। हि—यतः। ननु साधारणानैकान्तिकस्य साध्याभाववद्वृत्तित्वात् सव्यभिचारत्वेऽपि असाधारणानैकान्तिकस्य साध्याभाववद्वृत्तित्वाभावात् सव्यभिचारत्वं नोपपद्यते इत्यत आह—व्यभिचारस्त्विति। तस्य च—सम्भवत्सपक्षविपक्षहेतोश्च। साध्यविपरीतव्याप्तस्येति—अत्र-साध्यव्याप्तविपरीतस्येति पाठो युक्तः। ताभ्याम्—सपक्षविपक्षाभ्याम्। तथा चासाधारणानैकान्तिकस्यापि सव्यभिचारत्वमुपपद्यते इत्याशयः।

---

जैसे—'शब्द नित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है' यहाँ प्रमेयत्व हेतु साधारणानैकान्तिक है, क्योंकि-वह,सभी को प्रमेय होने के कारण सपक्ष नित्य आकाशादि में और विपक्ष अनित्य घटादि में रहता हुआ पक्ष शब्द में रहनेवाला है। एवं-जो हेतु सपक्ष और विपक्ष में नहीं रहता हुआ पक्षमात्र में रहनेवाला हो वह,हेतु असाधारणानैकान्तिक है। जैसे—'पृथिवी नित्य है, क्योंकि वह गन्धवाली है' यहाँ गन्ध हेतु, असाधारणानैकान्तिक है, क्योंकि वह सपक्ष नित्य आकाशादि में और विपक्ष अनित्य जलादि में नहीं रहती हुई पक्ष पृथिवीमात्र में रहनेवाली है। जिस हेतु के सपक्ष और विपक्ष हैं उस हेतु का सपक्ष में रहना और विपक्ष में न रहना ही नियम है, तथा उस नियम का जो अभाव, वह व्यभिचार है, और वह दो प्रकारों से हो सकता है,जैसे—सपक्ष और विपक्ष में रहने से तथा उन दोनों में नहीं रहने से।

४. यस्य प्रतिपक्षभूतं हेत्वन्तरं विद्यते स प्रकरणसमः। स एव सत्प्रतिपक्ष इति चोच्यते। तद्यथा 'शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मानुपलब्धेः' 'शब्दो नित्योऽनित्यधर्मानुपलब्धेः' इति। अत्र हि साध्यविपरीतसाधकं समानबलमनुमानान्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते। यः पुनरतुल्यबलो न स प्रतिपक्षः। तथाहि विपरीतसाधकानुमानं त्रिविधं भवति। उपजीव्यम्, उपजीवकम्, अनुभयम् चेति। तत्राद्यं बाधकं बलवत्त्वात्। यथा 'परमाणुरनित्यः मूर्त्तत्वाद् घटवद्' इत्यस्य परमाणुसाधकानुमानं नित्यत्वं साधयदपि न प्रतिपक्षः, किं तु बाधकमेवोपजीव्यत्वात्, तच्च धर्मिग्राहकत्वात्। न हि प्रमाणेनागृह्यमाणे धर्मिणि परमाणावनित्यत्वा-

---

अथ प्रकरणसमं निरूपयति—यस्येति। हेतोरिति शेषः। तमुदाहरति—तद्यथेति। *यथेत्यर्थः*। नित्यधर्मानुपलब्धेरिति—इत्यनुमानस्थले इति शेषः। अनित्यधर्मानुपलब्धेरितीति—केनचित् प्रयुक्ते नित्यधर्मानुपलब्धिर्हेतुः सत्प्रतिपक्ष इतिशेषः। नन्वत्र कः प्रतिपक्ष इत्युच्यते इत्यत आह—अत्र हीति। तत्र समानबलपदोपादानप्रयोजनं सूचयति—यः पुनरिति। ननु सर्वेषामनुमानानां व्याप्तिपक्षधर्मतावत्त्वेन साम्यात्तेषामसमानबलत्वं न सम्भवतीति न कश्चन शङ्केथा इत्यभिप्रेत्य तेषान्तदुपपादयति—तथाहीति। विपरीतेति—साध्येत्यादिः। परमाणुसाधकेति—द्व्यणुकं स्वपरिमाणापेक्षाल्पपरिमाणक-समवायिकारणारब्ध जन्यद्रव्यत्वाद् घटवदितीत्यादिः। नित्यत्वमिति—परमाणावित्यादिः। तच्च—तत्र

---

*यस्य*—जिस हेतु के साध्य के अभाव का साधक हेत्वन्तर, उपस्थित हो, वह हेतु सत्प्रतिपक्ष है। जैसे—'शब्द अनित्य है, क्योंकि उसमें नित्य के धर्म की अनुपलब्धि है' यहाँ यदि 'शब्द नित्य है' क्योंकि उसमें अनित्य के धर्म की अनुपलब्धि है, ऐसा कहा जाय तो नित्यधर्मानुपलब्धि हेतु सत्प्रतिपक्ष होगा, क्योंकि उसके साध्य भूत अनित्यत्व के अभाव रूप नित्यत्व का साधक हेत्वन्तर अनित्यधर्मानुपलब्धि उपस्थित है। साध्य के विपरीत का साधक अनुमान, तीन प्रकार का होता है, जैसे—उपजीव्य, उपजीवक और इन दोनों से भिन्न। इनमें—'परमाणु अनित्य है, क्योंकि वह मूर्त्त है' यहाँ यदि 'अणुत्वतारतम्य किञ्चिन्नित्यद्रव्य-विश्रान्त है, क्योंकि वह तारतम्य है' ऐसा कहा जाय तो प्रथम अनुमान होगा उपजीवक और द्वितीय अनुमान होगा उपजीव्य; क्योंकि जब तक द्वितीय से परमाणु की सिद्धि न होगी, तब तक आश्रय

साध्यमनुष्णत्वं तस्याऽभावः प्रत्यक्षेणैव परिच्छिन्नः, त्वगिन्द्रियेणाग्नेरुष्णत्वपरिच्छेदात्। तथा परोऽपि कालात्ययापदिष्टः। यथा घटस्य क्षणिकत्वे साध्ये प्रागुक्तं सत्त्वं हेतुः। तस्याऽपि च यत् साध्यं क्षणिकत्वं तस्याऽभावोऽक्षणिकत्वं प्रत्यभिज्ञा--तर्कादिलक्षणेन प्रत्यक्षेण परिच्छिन्नम्। 'स एवायं घटो यो मया पूर्वमुपलब्धः' इति प्रत्यभिज्ञया पूर्वानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन्द्रियप्रभवया पूर्वापरकालाकलनया घटस्य स्थायित्वपरिच्छेदादिति।

एते चासिद्धादयः पञ्च हेत्वाभासा यथा कथंचित् पक्षधर्मत्वाद्यन्यतमरूपहीनत्वाद् अहेतवः स्वसाध्य न साधयन्तीति।

येऽपि लक्षणस्य केवलव्यतिरेकिहेतोः त्रयो दोषा अव्याप्ति--अतिव्याप्ति--असंभवास्तेऽप्यत्रैवान्तर्भवन्ति, न तु ते पञ्चभ्योऽधिकाः।

---

विषयव्याप्त्यर्थन्तस्योदाहरणान्तरमाह—तथेति। संस्कारेति—उद्बुद्धेत्यादि। इन्द्रियेति—सन्निकर्षेति शेष। अत्र तत्तेदन्तांशे तत्सन्निकर्ष इन्द्रियसंयुक्तविशेषणतारूपो बोध्यः।

एतावता ग्रन्थेनोपपादितं विषयमुपसंहरति-एते चेति।

ननु लक्षणस्यापि केवलव्यतिरेकिहेतुतया तत्र सम्भवतामतिव्याप्त्यादिदोषाणां हेत्वाभासान्तरत्वसम्भवात्कथमुपपद्यते हेत्वाभासाना पञ्चविधत्वमित्यत आह—येऽपीति। अत्रैव—निरूपितेषु पञ्चसु हेत्वाभासेष्वेव। पञ्चभ्य इति—हेत्वाभासेभ्य इति शेष। अत्र प्रकरणे हेत्वाभासपदं हेतुदोषपरं न तु दुष्टहेतुपरमिति

---

जन्यत्व हेतु बाधित-विषयक है, क्योंकि—उसके साध्य भूत अनुष्णत्व का अभाव रूप उष्णत्व अग्निरूप पक्ष में त्वगिन्द्रिय के द्वारा निश्चित है। एवं-'घट क्षणिक है, क्योंकि वह सत् है' यहाँ सत्त्व हेतु बाधित विषय है, क्योंकि-उसके साध्य भूत क्षणिकत्व का अभाव रूप स्थायित्व घटरूप पक्ष में 'जिस घट को मैंने पहले देखा, वही यह घट है' इस प्रत्यभिज्ञा के द्वारा निश्चित है। ये असिद्धादि पाँच हेत्वाभास अपने साध्य के साधन करने में समर्थ नहीं होते हैं, क्योंकि ये पक्षसत्त्वाद्यन्यतमरूप से हीन होने के कारण अहेतु है।

येऽपि—जब लक्षण को केवल व्यतिरेकी हेतु बनाकर लक्ष्य में किसी की अनुमिति करते हैं, तब यदि लक्षण के-अतिव्याप्ति या अव्याप्ति या असम्भव नामक

तथाहि अतिव्याप्तिः व्याप्यत्वासिद्धिः विपक्षमात्रादव्यावृत्तत्वात् सोपाधिकत्वाच्च यथा गोलक्षणस्य पशुत्वस्य । गोत्वे हि सास्नादिमत्त्वम् प्रयोजकं, न तु पशुत्वम् । तथा अव्याप्तिः भागासिद्धत्वम् । यथा गोलक्षणस्य शाबलेयत्वस्य । एवम् असंभवोऽपि स्वरूपासिद्धिः । यथा गोलक्षणस्यैकशफवत्त्वस्येति ।

## १४ छलम्

अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्याऽर्थान्तरं परिकल्प्य दूषणाभिधानं छलम् । यथा 'नवकम्बलोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये नूतनाभि-

---

धेयम् । तत्र तदन्तर्भावमुपपादयति—तथाहीति । विपक्षमात्रादिति— सकलविपक्षादित्यर्थः । अतिव्याप्तलक्षणस्येत्यादिः । ननु तस्य सोपाधिकत्वं कथमित्यत आह—गोत्वे इति । अयं गौ पशुत्वादित्यनुमानेन साध्ये इत्यादिः । हि—यतः । यथेति—गौः इतरेभ्यो भिद्यते शाबलेयत्वादित्यनुमाने हेतुभूतस्येति शेषः । एवमग्रेऽपि ।

अथ छलं निरूपयति—अभिप्रायेति । दूषणाभिधानम्—परिकल्पितस्य प्रतिषेधाभिधानम् । अत्रेदमवधेयम्-छलं त्रिविधं वाक्छलसामान्यच्छलोपचारच्छलभेदात् । तत्र नानाशक्यार्थकस्य शक्त्या एकार्थबोधतात्पर्येण प्रयुक्तस्य शब्दस्यैकार्थनिर्णायकविशेषाभावेन शक्त्याऽर्थान्तरबोधतात्पर्यकत्वकल्पनया दूषणाभिधानं

---

दोष रहते हैं, तो इन दोषों का असिद्धि में अन्तर्भाव हो जाने के कारण पाँच हेत्वाभासों से अतिरिक्त हेत्वाभास मानने की आवश्यकता नहीं रहती । जैसे—'यह गाय है, क्योंकि यह पशु है या शुक्लरूपवाली है या एक-खुरवाली है, यहाँ गोके लक्षण—पशुत्व की जो भैंस आदियों में अतिव्याप्ति है उसका अन्तर्भाव व्याप्यत्वासिद्धि से होगा, क्योंकि विपक्ष में रहने के कारण ही पशुत्व में साध्य गोत्व से निरूपित व्याप्ति नहीं है । एवं-शुक्लरूप की जो काली गाय आदियों में अव्याप्ति है उसका अन्तर्भाव भागासिद्धि में होगा । तथा-एक खुर का जो गाय मात्र में असम्भव है उसका अन्तर्भाव स्वरूपासिद्धि में होगा ।

अभिप्रायान्तरेण—अन्य अर्थ के अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द के अन्य अर्थ की कल्पना करके जो दोष का अभिधान, वह छल है । और वह तीन प्रकार का है, जैसे-वाक्छल, सामान्यच्छल और उपचारच्छल । इनमें—अपने दो वाच्यार्थों में

प्रायेण प्रयुक्तस्य नवशब्दस्यार्थान्तरमाशङ्क्य कश्चिद् दूषयति—नाऽस्य नव कम्बलाः सन्ति दरिद्रत्वात् । न ह्यस्य तद्द्वयमपि संभाव्यते । कुतो नव इति । स च वादी छलवादितया ज्ञायते ।

## १५ जातयः

असदुत्तरं जातिः । सा च उत्कर्षसम—अपकर्षसम—आदिभेदेन

---

वाक्छलम् । यथा नवकम्बलोऽयमित्यादि । एवं—सामान्यविशिष्टसम्भवदर्थाभिप्रायेणोक्तस्य अतिसामान्ययोगादसम्भवदर्थकत्वकल्पनया दूषणाभिधानं सामान्यच्छलम् । यथा—ब्राह्मणोऽयं विद्याऽऽचरणसम्पन्न इत्युक्ते, ब्राह्मणत्वेन विद्याऽऽचरणसम्पदमयं साधयतीति कल्पयित्वा परो वदति—कुतो ब्राह्मणत्वेन विद्याऽऽचरणसम्पत् ? व्रात्ये व्यभिचारादिति । एवं—शक्तिलक्षणाऽन्यतरवृत्त्या प्रयुक्ते शब्दे तदपरवृत्त्या दूषणाभिधानमुपचारच्छलम् । यथा लक्षणया मञ्चाः क्रोशन्तीत्युक्ते शक्त्या न मञ्चाः क्रोशन्ति किन्तु मञ्चस्था इत्यभिधानमुपचारच्छलमिति ।

अथ जातिं लक्षयति—असदिति । दूषणासमर्थमिति भावः । केचित्तु स्वव्याघातकत्वसत्त्वमिति मन्यन्ते । आदिना—साधर्म्यसमायाः, वैधर्म्यसमायाः,

---

एक वाच्यार्थ के अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द के अन्यवाच्यार्थ की कल्पना करके जो दोष का कथन, वह वाक्छल है । जैसे—'नवकम्बलवाला यह देवदत्त है' इस वाक्य में नवीन अर्थ के अभिप्राय से प्रयुक्त नव शब्द के नौ संख्या अर्थ की कल्पना करके यदि कोई कहे कि—'इसे नौ कम्बल नहीं हैं, क्योंकि यह दरिद्र है, इसे तो दो कम्बल भी नहीं हो सकते, फिर नौ की सम्भावना कहाँ' तो यह वाक्छल होगा । एवं—सम्भव के अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द के नियमाभिप्रायकत्व की कल्पना करके जो दोष का अभिधान, वह सामान्यच्छल है । जैसे—'यह ब्राह्मण विद्याऽऽचरणसम्पन्न है' ऐसा कहने पर यदि कोई कहे कि—'ब्राह्मण यदि विद्याचरणसम्पन्न हो तो व्रात्य भी विद्याऽऽचरणसम्पन्न होगा, क्योंकि वह भी ब्राह्मण है' तो यह सामान्यच्छल होगा । तथा—अन्य वृत्ति से अभिप्रेत अर्थ को कहनेवाले शब्द के प्रयुक्त होने पर अन्य वृत्ति से अनभिप्रेत अर्थ की कल्पना करके जो दोष का कथन वह उपचारच्छल है । जैसे—'हम नित्य हैं' ऐसा कहने पर यदि कोई कहे कि—'तुम अमुक से उत्पन्न हुए हो, अतः तुम कैसे नित्य हो सकते हो' तो यह उपचारच्छल होगा ।

असदुत्तरम्—दोष देने में असमर्थ या अपना व्याघातक जो उत्तर, वह जाति

बहुविधा । विस्तरभिया नेह कृत्स्नोच्यते । तत्र व्याप्तेन दृष्टान्तगतधर्मेण पक्षे व्यापकधर्मस्याऽपादनम् उत्कर्षसमा जातिः । यथा 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवद्' इत्युक्ते, कश्चिदेवमाह 'यदि कृतकत्वेन हेतुना घटवच्छब्दोऽनित्यः स्यात्, तर्हि तेनैव हेतुना तद्वदेव शब्दः सावयवोऽपि स्यात्' । अपकर्षसमा तु दृष्टान्तगतेन धर्मेणाऽव्याप्तेनाऽव्यापकस्य धर्माभावस्याऽपादनम् । यथा पूर्वस्मिन् प्रयोगे कश्चिदेवमाह 'यदि कृतकत्वेन हेतुना घटवच्छब्दोऽनित्यः स्यात्, तर्हि तेनैव हेतुना घटवदेव शब्दः श्रावणोऽपि न स्यात् । न हि घटः श्रावण इति ।

---

वर्ण्यसमायाः अवर्ण्यसमाया., विकल्पसमाया., साध्यसमायाः, प्राप्तिसमाया, अप्राप्तिसमायाः प्रसङ्गसमायाः, प्रतिदृष्टान्तसमाया, अनुत्पत्तिसमाया, संशयसमायाः, प्रकरणसमाया, अहेतुसमाया, अर्थापत्तिसमाया, अविशेषसमाया, उपपत्तिसमायाः, उपलब्धिसमायाः, अनुपलब्धिसमाया. नित्यसमाया., अनित्यसमाया, कार्यसमायाश्च संग्रहः । बहुविधा—चतुर्विंशतिविधा । प्रकृते सकलजातेरनिरूपणे हेतुमाह—विस्तरभियेति । किन्त्वित्यादिः । येन प्रकारेण सकला जातिः सोदाहरणा निरूप्या, तत्प्रकारप्रदर्शनाय जातिद्वयं सोदाहरणं निरूपयति—तत्रेति । यथा कृतकत्वमनित्यत्वेन व्याप्ततया न सावयवत्वेन न च श्रावणत्वाभावेन, किन्तु क्वचिद् घटादौ सावयवत्वेन श्रावणत्वाभावेन च सहचरितमिति तद्बलेन पक्षे अविद्यमानस्य सावयवत्वस्यापादनमुत्कर्षसमा, एवं विद्यमानस्य श्रावणत्वस्य निराकरणमपकर्षसमेत्याशयः ।

---

है, और वह उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा आदियों के भेद से चौबीस प्रकार की है। इनमें—अव्याप्य दृष्टान्तगत धर्म से पक्ष में जो अव्यापक धर्म का आपादन, वह उत्कर्षसमा जाति है। जैसे—'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह जन्य है, जैसे—घट' ऐसा कहने पर यदि कोई कहे कि—'यदि शब्द घट के समान जन्य होने के कारण अनित्य होगा, तो वह उसी के समान वही होने के कारण सावयव भी होगा' तो यह उत्कर्षसमा होगी। एवं—अव्याप्य दृष्टान्तगत धर्म से पक्ष में में जो अव्यापक धर्माभाव का आपादन, वह अपकर्षसमा जाति है। जैसे—'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह जन्य है, जैसे घट' ऐसा कहने पर यदि कोई कहे कि—'यदि जन्य होने के कारण घट के समान शब्द अनित्य होगा, तो वही होने के कारण उसी

## १६ निग्रहस्थानानि

पराजयहेतुः निग्रहस्थानम् । तच्च न्यून–अधिक–अपसिद्धान्त–अर्थान्तर–अप्रतिभा–मतानुज्ञा–विरोध–आदिभेदाद् बहुविधमपि विस्तरभयान्नेह कृत्स्नमुच्यते । यद्विवक्षितार्थे किञ्चिदूनं तन् न्यूनम् । विवक्षितात् किञ्चिदधिकम् अधिकम् । सिद्धान्तादपध्वंसः अपसिद्धान्तः । प्रकृतेनानभिसंबन्धार्थवचनम् अर्थान्तरम् । उत्तरापरिस्फूर्तिः अप्रतिभा । पराभिमतस्यार्थस्य स्वप्रतिकूलस्य स्वयमेवाभ्यनुज्ञानं स्वीकारो मतानुज्ञा । इष्टार्थभङ्गो विरोधः ।

---

अथ निग्रहस्थानं निरूपयति—**पराजयहेतुरिति** । विरोधपदेन प्रतिज्ञाविरोधपरिग्रहः । **आदिना** प्रतिज्ञाहानि—प्रतिज्ञान्तर–प्रतिज्ञासन्न्यास–हेत्वन्तर–निरर्थकाविज्ञातार्था–पार्थका–प्राप्तकाल—पुनरुक्ताननुभाषणाज्ञान–विक्षेप–पर्यनुयोज्योपेक्षण–निरनुयोज्यानुयोग–हेत्वाभासानां सङ्ग्रहः । **बहुविधम्**–द्वाविंशतिविधम् । **विस्तरेति**–अस्ति, किन्त्वित्यादिः । क्रमशो न्यूनादिनिग्रहस्थानानि लक्षयति–**यदिति** ।

---

के समान वह श्रावण-प्रत्यक्षविषय भी न होगा; क्योंकि घट श्रावणप्रत्यक्षविषय नहीं है' तो यह अपकर्षसमा होगी । इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये ।

पराजय—पराजय का जो हेतु, वह निग्रहस्थान है, और वह न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त, अर्थान्तर, अप्रतिभा, मतानुज्ञा, विरोध आदियों के भेद से बाईस प्रकार का है। इनमें—विवक्षित विषय से कुछ कम विषय का जो कथन, वह न्यून है । विवक्षित विषय से कुछ अधिक विषय का जो कथन, वह अधिक है। अपने सिद्धान्त को छोड़कर जो कथन, वह अपसिद्धान्त है ।प्रकृत विषय से असम्बद्ध विषय का जो कथन, वह अर्थान्तर है । जिससे उत्तर की स्फूर्ति न हो, वह अप्रतिभा है । अपने प्रतिकूल और दूसरे के अनुकूल विषय का जो स्वयं स्वीकार करना, वह मतानुज्ञा है । एवं—अपने इष्ट विषय का जो भङ्ग, वह विरोध है । इसी तरह अन्य भी समझना चाहिये । यहाँ-छल, जाति आदियों के सब भेदों का निरूपण नहीं करने से ग्रन्थकार की न्यूनता प्रतीत होती, अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि—'बच्चे इस ग्रन्थ के अध्ययन से व्युत्पन्न हों इसीलिये मैने यह ग्रन्थ बनाया, अतः इस ग्रन्थ में अत्यन्त

इहाऽत्यन्तमुपयुक्तानां स्वरूपभेदेन भूयो भूयः प्रतिपादनम् । यदनतिप्रयोजनं तदलक्षणमदोषाय । एतावतैव बालव्युत्पत्तिसिद्धेः ।

इति श्रीकेशवमिश्रविरचिता तर्कभाषा समाप्ता ।

---

नन्वत्र च्छलस्य भेदाना, जाति-निग्रहस्थानयोश्च सकलभेदानामनिरूपणेन ग्रन्थकृतो न्यूनताऽऽपद्यते इत्यत आह—इहेति । प्रकृतग्रन्थे इत्यर्थः । यदिति-तयेत्यादि- । कुत इत्यत आह-एतावतैवेति । एतेन तेषा स्ववाक्येषु परिवर्ज्यत्वेन परवाक्येषूद्भाव्यत्वेन चोपयुक्तत्वेऽपि अत्युपयुक्तत्वाभावेनानिरूपणेऽपि स्वप्रयोजनं बालव्युत्पादनं सिद्धयतीति सूचितम् ॥

इति न्याय-वेदान्त-व्याकरणाचार्य-लब्धस्वर्णपदक-पण्डित श्रीरुद्रधरझा विरचिता 'तत्त्वालोक' संस्कृतटीका समाप्ता ॥

---

उपयुक्त विषयों का विविध प्रकार से बार-बार प्रतिपादन किया और कम उपयुक्त विषयों का प्रतिपादन नहीं किया, क्योंकि इतने के अध्ययन से ही बच्चे व्युत्पन्न हो जायेंगे।

इति न्याय-वेदान्त-व्याकरणाचार्य-लब्धस्वर्णपदक पं० श्री रुद्रधरझा विरचित 'तत्त्वालोक' हिन्दी टीका समाप्त।

प्राकृत भारती अकादमी
क्रमांक 10658
जयपुर